महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

# हिन्दी के विविध गद्य-रूप

## एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
## चतुर्थ सेमेस्टर
## द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
## पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 20

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

**हिन्दी के विविध गद्य-रूप**

**प्रधान सम्पादक**

**प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र**
**कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**सम्पादक**

**प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह**
**निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग**
**साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**पुरन्दरदास**
**अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम**
**दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**सम्पादक मण्डल**

**प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा**
**प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह**
**निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग**
**साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी**
**प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**पुरन्दरदास**

**प्रकाशक**

**कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**
**पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001**

**© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदीविश्वविद्यालय, वर्धा**

**प्रथम संस्करण : जून 2018**

**पाठ-रचना**

**डॉ॰ गोविन्द स्वरूप गुप्त**
**अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, भाषाविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तरप्रदेश**

**खण्ड – 1 : इकाई – 3 एवं 4**

**डॉ॰ अनिल कुमार सिंह**
**वरिष्ठ सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी.कॉलेज (सांध्य), नेहरू नगर, नयी दिल्ली**

**खण्ड – 2 : इकाई – 1**
**खण्ड – 3 : इकाई – 1**

**डॉ॰ राजीव कुमार झा**
**उपनिदेशक, यू॰जी॰सी॰ – एच॰आर॰डी॰सी॰**
**बी॰आर॰ अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार**

**खण्ड – 2 : इकाई – 3**
**खण्ड – 3 : इकाई – 2 एवं 3**

**डॉ॰ पद्मजा शर्मा**
**वरिष्ठ साहित्यकार, जोधपुर, राजस्थान**

**खण्ड – 3 : इकाई – 4**
**खण्ड – 4 : इकाई – 1 एवं 2**

**डॉ॰ सुचिता त्रिपाठी**
**एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश**

**खण्ड – 4 : इकाई – 4**

**पुरन्दरदास**

**खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2 एवं 5**
**खण्ड – 2 : इकाई – 2**
**खण्ड – 4 : इकाई – 3**

**पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन**
**आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग**

**पुरन्दरदास**

**कार्यालयीय सहयोग**

**श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य**
**सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**टंकण कार्य सहयोग (खण्ड – 1 : इकाई – 3 एवं 4)**

**सुश्री राधा सुरेश ठाकरे**
**दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

**आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त**

**http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65**

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

## पाठ्यचर्या विवरण

चतुर्थ सेमेस्टर
द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 20
पाठ्यचर्या का शीर्षक : हिन्दी के विविध गद्य-रूप

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

- इकाई – 1 : आचरण की सभ्यता – सरदार पूर्णसिंह
- इकाई – 2 : उत्साह – रामचन्द्र शुक्ल
- इकाई – 3 : अशोक के फूल – हजारीप्रसाद द्विवेदी
- इकाई – 4 : भाषा बहता नीर – कुबेरनाथ राय
- इकाई – 5 : मेरे राम का मुकुट भीग रहा है – विद्यानिवास मिश्र

खण्ड – 2 : विविध गद्य-रूप – 1

- इकाई – 1 : आत्मकथा : क्या भूलूँ क्या याद करूँ – हरिवंशराय बच्चन
- इकाई – 2 : जीवनी-साहित्य: आवारा मसीहा – विष्णु प्रभाकर
- इकाई – 3 : यात्रा-साहित्य : किन्नर देश की ओर – राहुल सांकृत्यायन

खण्ड – 3 : विविध गद्य-रूप – 2

- इकाई – 1 : संस्मरण : पथ के साथी : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – महादेवी वर्मा
- इकाई – 2 : रेखाचित्र : रजिया – रामवृक्ष बेनीपुरी
- इकाई – 3 : डायरी : मोहनराकेश की डायरी – मोहन राकेश
- इकाई – 4 : रिपोर्ताज : बूढ़ी बामणी – सत्यनारायण

खण्ड – 4 : विविध गद्य-रूप – 3

- इकाई – 1 : साक्षात्कार : एक अपना ही अजनबी – मनोहरश्याम जोशी
- इकाई – 2 : पत्र-साहित्य : भिक्षु के पत्र – भदन्त आनन्द कौसल्यायन
- इकाई – 3 : गद्यकाव्य : साहित्य देवता – माखनलाल चतुर्वेदी
- इकाई – 4 : व्यंग्य विधा : इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर – हरिशंकर परसाई

**निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :**

01. आचरण की सभ्यता – सरदार पूर्णसिंह
02. उत्साह – रामचन्द्र शुक्ल
03. अशोक के फूल – हजारीप्रसाद द्विवेदी
04. भाषा बहता नीर – कुबेरनाथ राय
05. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है – विद्यानिवास मिश्र
06. क्या भूलूँ क्या याद करूँ – हरिवंशराय बच्चन (चयनित अंश)
07. आवारा मसीहा – विष्णु प्रभाकर (चयनित अंश)
08. किन्नर देश की ओर – राहुल सांकृत्यायन
09. पथ के साथी : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – महादेवी वर्मा
10. रज़िया – रामवृक्ष बेनीपुरी
11. मोहनराकेश की डायरी – मोहन राकेश (चयनित अंश)
12. बूढ़ी बामणी – सत्यनारायण
13. एक अपना ही अजनबी – मनोहरश्याम जोशी
14. भिक्षु के पत्र – भदन्त आनन्द कौसल्यायन (चयनित अंश)
15. साहित्य देवता – माखनलाल चतुर्वेदी
16. इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर – हरिशंकर परसाई

**सहायक पुस्तकें :**

01. 'आवारा मसीहा' जीवनी के नये आयाम, सविता सक्सेना, राका प्रकाशन, इलाहाबाद
02. गद्य की नई विधाओं का विकास, माजदा असद, ग्रन्थ अकादमी, नयी दिल्ली
03. गद्य की पहचान, अरुण प्रकाश, अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद, उत्तरप्रदेश
04. गप्प का गुलमोहर मनोहरश्याम जोशी, सं. : कुसुमलता मलिक, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली
05. डॉ॰ भदन्त आनन्द कौसल्यायन जीवन दर्शन, भदन्त सावंगी मेधंकर, बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर
06. तुम्हारा परसाई, कान्ति कुमार जैन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
07. परसाई का इतिहास बोध, संध्या जैन 'श्रुति', विकास प्रकाशन, कानपुर
08. मनोहरश्याम जोशी, (छवि-संग्रह – 7), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
09. यात्रा साहित्य विधा : शास्त्र और इतिहास, बापूराव देसाई, विकास प्रकाशन, कानपुर
10. राजस्थान साहित्यकार प्रस्तुति – 94 : डॉ॰ सत्यनारायण, राजस्थान साहित्य अकादेमी, उदयपुर, राज.
11. व्यंग्य-साहित्य का इतिहास, सुभाष चन्दर, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली
12. व्यंग्य का सौन्दर्य शास्त्र, मलयज

13. विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, सुनीता देवी, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद
14. विष्णु प्रभाकर, (छवि-संग्रह – 5), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
15. संस्मरण और रेखाचित्र, सं. : उर्मिला मोदी, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी
16. हंस पत्रिका, (आत्मकथा अंक), सं. : प्रेमचंद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
17. हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य, शशि शुक्ला, मेधा बुक्स, दिल्ली
18. हिन्दी का गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती, इलाहाबाद
19. हिन्दी का आधुनिक यात्रा-साहित्य, प्रताप पाल शर्मा, अमर प्रकाशन, मथुरा
20. हिन्दी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
21. हिन्दी गद्य रूप सैद्धान्तिक विवेचन, निर्मला देवी श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
22. हिन्दी गद्य लेखन में व्यंग्य और विचार, सुरेशकान्त, राधाकृष्ण, दिल्ली
23. हिन्दी निबन्ध : उद्भव और विकास, हरिचरण शर्मा, रीता गौड़, मलिक एंड कम्पनी, जयपुर
24. हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
25. हिन्दी निबन्ध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, बाबूराम, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
26. हिन्दी साहित्य एवं साक्षात्कार विधा एक विश्लेषण, दीपिका, आशा बुक्स, दिल्ली
27. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
28. हिन्दी निबन्ध का विकास, ओंकारनाथ शर्मा
29. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## पाठानुक्रमणिका


| क्र. सं. | खण्ड | इकाई | पृष्ठ क्रमांक |
|---|---|---|---|
| 01. | खण्ड – 1 | इकाई – 1 | 09 – 20 |
| 02. | खण्ड – 1 | इकाई – 2 | 21 – 31 |
| 03. | खण्ड – 1 | इकाई – 3 | 32 – 41 |
| 04. | खण्ड – 1 | इकाई – 4 | 42 – 52 |
| 05. | खण्ड – 1 | इकाई – 5 | 53 – 65 |
| 06. | खण्ड – 2 | इकाई – 1 | 66 – 88 |
| 07. | खण्ड – 2 | इकाई – 2 | 89 – 105 |
| 08. | खण्ड – 2 | इकाई – 3 | 106 – 116 |
| 09. | खण्ड – 3 | इकाई – 1 | 117 – 133 |
| 10. | खण्ड – 3 | इकाई – 2 | 134 – 143 |
| 11. | खण्ड – 3 | इकाई – 3 | 144 – 154 |
| 12. | खण्ड – 3 | इकाई – 4 | 155 – 171 |
| 13. | खण्ड – 4 | इकाई – 1 | 172 – 189 |
| 14. | खण्ड – 4 | इकाई – 2 | 190 – 206 |
| 15. | खण्ड – 4 | इकाई – 3 | 207 – 220 |
| 16. | खण्ड – 4 | इकाई – 4 | 221 – 236 |

## खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

## इकाई – 1 : आचरण की सभ्यता – सरदार पूर्णसिंह

### इकाई की रूपरेखा


1.1.0. उद्देश्य कथन
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह
  1.1.2.1. प्रमुख निबन्ध
  1.1.2.2. सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों में युगीन बोध एवं लोकधर्मिता
1.1.3. 'आचरण की सभ्यता' की अन्तर्वस्तु
  1.1.3.1. मौलिक चिन्तन
  1.1.3.2. न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक
  1.1.3.3. विचारों की सम्पन्नता व सुसम्बद्धता
  1.1.3.4. सामाजिक-सांस्कृतिक नैतिक आयाम
1.1.4. 'आचरण की सभ्यता' का शिल्पगत वैशिष्ट्य
  1.1.4.1. भाषा-विधान
  1.1.4.2. शैलीगत वैविध्य
1.1.5. पाठ-सार
1.1.6. शब्दावली
1.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.1.8. बोध प्रश्न


### 1.1.0. उद्देश्य कथन

निबन्ध आधुनिक युग की देन है। साहित्य की यह विधा व्यक्ति की महत्ता को सत्यापित करती है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन साहित्यकारों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्यिक विधा के रूप में हिन्दी निबन्ध लेखन प्रारम्भ हुआ। हिन्दी निबन्ध साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण 'द्विवेदी युग' में विकसित हुआ। प्रस्तुत पाठ द्विवेदीयुगीन प्रमुख निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह की रचना 'आचरण की सभ्यता' पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह के कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. 'आचरण की सभ्यता' की अन्तर्वस्तु के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. शिल्पगत वैशिष्ट्य के आलोक में 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध का निरूपण कर सकेंगे।

## 1.1.1. प्रस्तावना

द्विवेदी युग हिन्दी निबन्ध कला के विकास का द्वितीय चरण है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन वर्ष 1903 ई. में प्रारम्भ किया अतः द्विवेदी युग का आरम्भ भी इसी समय से माना जाता है। उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से भाषा-संस्कार एवं व्याकरण-शुद्धि के प्रयास आरम्भ किये। उनका प्रभाव तत्कालीन सभी निबन्धकारों पर देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग में लिखित निबन्ध और द्विवेदीयुगीन निबन्धों से अनेक रूपों में भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, भारतेन्दुयुगीन निबन्धों में जहाँ वैयक्तिकता की प्रमुखता व प्रधानता थी, वहीं द्विवेदी युग के निबन्धों में व्यक्तित्व-व्यंजक परम्परा का ह्रास दिखाई देता है। द्विवेदीयुगीन निबन्धकारों ने व्यक्तित्व-व्यंजना की बजाय 'ज्ञान' के विविध क्षेत्रों से सामग्री-संचयन की ओर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है। एक मायने में भारतेन्दु युग के निबन्धों का विषय 'जीवन' है, जबकि द्विवेदी युग के निबन्धों का विषय 'ज्ञान' स्वीकार किया जा सकता है। द्विवेदीयुगीन निबन्धकारों में सरदार पूर्णसिंह भावात्मक-निबन्धों की रचना तथा भाषा की लाक्षणिकता के लिए चर्चित रहे हैं।

## 1.1.2. निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह

निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह का निबन्ध-साहित्य उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का अभिव्यंजक है। उनकी विद्वता और चिन्तन-प्रियता उनकी निबन्ध रचनाओं में मूर्तिमती हो उठी है। उनकी रचनात्मकता का सर्वोत्तम और परिष्कृत रूप निबन्ध साहित्य में पूर्णरूपेण दिखाई देता है। युगीन चेतना तथा लोकधर्मिता के निहितार्थ उनके निबन्ध अध्येताओं के लिए पठनीय हैं। पूर्णसिंहजी ने हिन्दी निबन्ध-साहित्य चिन्तन को एक नवीन दिशा प्रदान की है।

### 1.1.2.1. प्रमुख निबन्ध

सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों में भारतीय राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक मूल्यों की जीवन्त परम्परा तो विद्यमान है ही, साथ ही उनमें लोकमंगल की अविच्छिन्न धारा भी प्रवाहित हो रही है जो हृदय की अनुभूतियों को उदार बनाती है और संवेदनाओं को जाग्रत् करती है। वे मानवीय मूल्यों को वरीयता देने वाले निबन्धकार हैं। उन्होंने लोकहित को ही निबन्ध साहित्य का मूल प्रतिपाद्य स्वीकार किया है। पूर्णसिंहजी ने मात्र छह निबन्ध लिखकर ही पाठकों एवं समालोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता', 'पवित्रता', 'कन्यादान' और 'अमेरिका का मस्तयोगी वाल्ट ह्विटमैन' उनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनके निबन्ध नैतिक एवं सामाजिक विषयों से सम्बन्धित हैं।

### 1.1.2.2. सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों में युगीन बोध एवं लोकधर्मिता

जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं होता, ठीक उसी प्रकार सदाचरण और मानवीय मूल्यों के बिना साहित्य का कोई अर्थ नहीं। ऐसी दशा में वह मात्र शब्द-समूह बनकर रह जाता है। सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध साहित्य का प्रधान उद्देश्य नैतिकता और मानवीय मूल्य-चेतना का प्रचार-प्रसार करना है। उनके निबन्धों में लोकमानव का हृदय बोलता है, प्रकृति स्वयं गुनगुनातीहै। स्वाधीन चिन्तन से निस्सृत उनके निबन्ध प्रत्येक वय और वर्ग को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। इसी से आज भी वे उतने ही प्रासंगिक हैं। पूर्णसिंहजी के निबन्धों में लाक्षणिक एवं व्यंग्यप्रधान शैली की छाप स्पष्टतः दिखलायी पड़ती है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

"आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।"

* * *

"वह वीर ही क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और ठण्डा हो जाता है।"

पूर्णसिंहजी के निबन्ध उनकी सामाजिक, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित हैं। यहाँ राष्ट्रीयता का भाव साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से ऊपर उठकर अति उदार व व्यापक सन्दर्भों में अभिव्यक्त हुआ है। अपनी मातृभूमि के लिए बलिदान, स्वार्थ-त्याग तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने की अमोघ प्रेरणा देकर उन्होंने समेकित राष्ट्रीय भावना को विकसित किया है। वे अपने निबन्धों में सामाजिक (जातीय) जीवन की मार्मिक और रचनात्मक आलोचना प्रस्तुत करते हैं जहाँ उन्होंने उसके शुभ पक्ष को प्रोत्साहित तथा अशुभ पक्ष को तिरस्कृत किया है। पूर्णसिंहजी के निबन्धों में भारतीय परम्परा के उपयोगी तत्त्वों का सबल समर्थन और सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों एवं निरर्थक रूढ़ियों पर जोरदार प्रहार हुआ है। उनके निबन्धों का सांस्कृतिक पक्ष मानवतावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित है। जागरण-सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सामर्थ्यवान् साहित्यकार सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध अपने विशिष्ट भाषिक विधान तथा संस्कारशीलता के कारण हिन्दी निबन्ध साहित्य में अप्रतिम स्थान रखते हैं।

### 1.1.3. 'आचरण की सभ्यता' की अन्तर्वस्तु

सामाजिक सम्बन्ध बहुत सीधे और सपाट न होकर जटिल तथा अधिकांश अवसरों पर द्वन्द्वात्मक होते हैं। ऐसे में मानवीय आचरण एवं व्यवहार का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण एवं सापेक्षिक हो जाता है। साहित्यकार प्रभावशाली ढंग से समाज में जाग्रति उत्पन्न करने का कार्य करे, तभी उसका समाज के प्रति दायित्व पूरा होता है। उदाहरणार्थ, समाज में यदि एक वर्ग विशेष शोषण में रत है, यदि उस समाज का सत्तासीन वर्ग अन्यायी और भ्रष्टाचारी है, यदि वहाँ यथास्थिति के चहेतों का एक वर्ग पुरानी पतनशील परम्पराओं, विश्वासों और मान्यताओं को बनाए रखने का षड्यन्त्र रच रहा है तो निश्चित ही सामाजिक हित से जुड़ा संवेदनशील रचनाधर्मी इन सबके विरुद्ध छेड़ी गई मुहिम में शामिल होगा और उसे अपना समर्थन देगा। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ से जुड़े रहकर

भी वह अन्ततः उस यथार्थ के विरुद्ध खड़ा होगा। क्योंकि अपने वास्तविक रूप में वह शोषक, यथास्थिति और भ्रष्ट-व्यवस्था का विरोधी होता है। रचनाकार से जिस दृष्टि की अपेक्षा की जाती है, वह उसे समाज के यथार्थ से ही उपलब्ध होती है। पहले चरण में निष्प्राण, अस्वस्थ और पतनशील व्यवस्था उसके मन में आक्रोश पैदा करती है। दूसरे चरण में वह रचनाकार को बदलकर स्वस्थ, ऊर्ध्वगामी तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा की कामना हेतु प्रेरित करती है। तीसरे चरण में रचनाकार उन्हें अपनी रचनाओं में रूपाकार देता है। इन्हीं चरणों से होता हुआ सरदार पूर्णसिंह का निबन्ध 'आचरण की सभ्यता' आचरण के विभिन्न कोणों और आयामों से सामाजिक चिन्तन व गलित यथार्थ से परिचित कराता है तथा मानवीय आचरण की महत्ता को प्रतिष्ठापित करता है। मानवीय आचरण में जीवनशक्ति के साथ-साथ अभिप्रेरणा शक्ति का भी योग रहता है। 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध के माध्यम से रचनाकार मानवीय सभ्यता की विभिन्न विषमताओं-समताओं, विसंगतियों-संगतियों, दुःख-सुख तथा अभाव-सम्पन्नता के मध्य आचरण का बृहत् आख्यान प्रस्तुत करता है। इस निबन्ध में निबन्धकार का मौलिक चिन्तन, न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक, विचारों की सम्पन्नता, सुसम्बद्धता तथा सामाजिक-नैतिक आयाम का सम्यक् विवेचन द्रष्टव्य है।

## 1.1.3.1. मौलिक चिन्तन

चिन्तक, विचारक एवं दार्शनिक साहित्यकार सरदार पूर्णसिंह ने 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध में आचरण के प्रत्येक पक्ष पर मौलिक ढंग से विचार किया है। उनका विश्लेषण इतना स्पष्ट एवं प्रभावी है कि उसमें मानवीय सभ्यता और आचरण का प्रत्येक पक्ष उजागर हो जाता है। वे लिखते हैं – "विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजस्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है; वक्ता चुप हो जाता है; लेखक की लेखनी थम जाती है; मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।"

मानवीय आचरण के माध्यम से निबन्धकार का चिन्तन प्रासंगिक रूप में उपस्थित होता है। वे मानवीय 'सभ्यता' व 'आचरण' का निरूपण मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने खास ढंग से करते हैं। वे 'सभ्यता' के इर्द-गिर्द नहीं घूमते, अपितु मानवीय आचरण को मानवीय 'सभ्यता' के इर्द-गिर्द घुमाते हैं। वे कहते हैं – "आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।"

पूर्णसिंहजी 'आचरण' को जीवनानुभव, लोकसम्पृक्ति, विचारशीलता तथा बौद्धिकता से अधिक स्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं। अनेकशः भावावेश (प्रवृत्ति व व्यवहार) दीर्घ कालखण्ड पार नहीं कर पाता है। यह कठिन कार्य है, परन्तु असम्भव नहीं है कि आचरण में सर्वदा मानवीय संवेदन का ताप, भावना-ऊष्मा भी हो और उसमें भाव-गाम्भीर्य भी ध्वनित हो। 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध की चिन्तनभूमि इस दृष्टि से उर्वरा है। निबन्धकार आचरण को उन्मुक्त दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। उसकी चिन्तनशीलता पुस्तकीय ज्ञान को पार करती हुई जीवन के भीतर से उपजी है। निबन्धकार की प्रबल धारणा है कि "पुस्तकों में लिखे हुए नुस्खों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी है, परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके – न समझा सके – न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। यह केवल आचरण के कान में गुरु-मन्त्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।"

आचरण को दर्शन बनाना आसान है, परन्तु कठिनाई दर्शन को आचरण बनाने में है। आचरण को जीवन-दर्शन में बदलने के लिए आनुभूतिक संवेदना की गहराई अनिवार्य है। आचरण के प्रति निबन्धकार की गहरी आस्था है। मानव जीवन के प्रति गहरी आस्था में आचरण का मूल अर्थ क्या है! क्या सामान्य जीवन की भूख-प्यास, दुःख-दर्द, आशा-आकांक्षा को उपेक्षित कर एक काल्पनिक जीवन का प्रक्षेपण ? नहीं, ये सब तो हमारे जीवन के प्रति आस्था के चमकीले, किन्तु असत्य रूप हैं। सत्य तो यह है कि "आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न ही कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखण्ड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्यका स्वदेश है।"

### 1.1.3.2. न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक

व्यक्तिगत व्यवहार की जीवन-पद्धति जब व्यापक मानव जीवन की संवेदना के साथ संधारित हो जाती है तब 'आचरण' की 'सभ्यता' जन्म लेने लगती है। इस अनुक्रिया में व्यक्तिगत व्यवहार एवं संवेदनों का सामाजिक मानवीय संवेदनों के साथ रूपान्तरण संघर्ष-प्रक्रिया से निरन्तर जूझता रहता है किन्तु साथ ही उसकी दृष्टि की पहचान को भी न्यायसंगत, स्पष्ट और विकसित करता है। इस आलोक में निबन्धकार लिखता है कि "आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत

शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबका क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संघटनकर्त्ता धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।"

यदि हम अपनी अनुभूति और चिन्तन-दृष्टि ईमानदारीपूर्वक आचरण के साथ तादात्म्य करने में सफल नहीं हो सके तो वे केवल कुण्ठा, हताशा व निराशा की सपाट अभिव्यक्ति का रूप जान पड़ेंगी और यदि हम उनकी गहराइयों में प्रविष्ट होने में समर्थ हो सके तो निश्चित ही 'आचरण की सभ्यता' अपने अर्थ-विस्तार में संघर्ष-चेतना और अन्याय के खिलाफ बुलंदी की अनुगूँज के रूप में सुनाई देगी। यही आचरण की सभ्यता की कुंजी है जो एक लम्बी जीवन-यात्रा के बीच भी निबन्धकार के स्वर और न्यायनिष्ठ आत्मा को एकता के सूत्र में पिरोए हुए है। आचरण एवं सभ्यता का प्रत्येक क्षण चाहे परोक्ष स्तर पर हो, निबन्धकार उसकी बहुत बारीक समीक्षा स्वयं के स्तर पर करता है – "बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है; परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।"

### 1.1.3.3. विचारों की सम्पन्नता व सुसम्बद्धता

मानवीय मूल्यों के संरक्षण में आचरण की उपादेयता निर्विवाद है। 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध में विचारों की सम्पन्नता और सुसम्बद्धता है। आचरण मानव का अद्भुत हृदय प्रदेश है। आचरण की सभ्यता में स्वयमेव ही बिना किसी नियम के प्रत्येक विपरीत जैविक परिस्थितियों में जीवन को आनन्दमय बनाने की चेष्टा छिपी हुई है। निबन्धकार कहता है – "इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के काले बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद् ऋतु क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगन्धमय अटल वसन्त ऋतु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट

होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।"

आचरण में मानवीय सभ्यता के विकास की जड़ें मिलती हैं। आचरण में जीवन का सहज प्रवाह, उपदेशात्मकता, परिवेश की मस्ती तथा सामयिक बोध मिलता है। जनजीवन की समग्र अभिव्यक्ति से ही समाज की जड़ता टूटती है। सामयिक बोध की संसृष्टि के चलते मानवीय समाज का दिशा-निर्देशन होता है। मानवीय आचरण किसी भी घटना-परिघटना के प्रति संवेदनशील होता है। आचरण की सभ्यता के विविध अंचलों में अनोखी एकरूपता है। इससे प्रकट होता है कि सनातन जीवन-मूल्यों का निर्धारण सदैव आचरण के माध्यम से ही होता आ रहा है जो भावात्मक एकता और सांस्कृतिक मूलधारा की सुदृढ़ भूमिहै। निबन्धकार की दृष्टि में "मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसमें आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं। जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म अपवित्रता में लिप्त रहे हों ? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकल ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक यह जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

### 1.1.3.4. सामाजिक-सांस्कृतिक नैतिक आयाम

आज भौतिक उन्नति में मानवीय मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। अराजकतावाद, पृथकतावाद, क्षेत्रीयतावाद, वर्गवाद, जातिवाद के रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक विघटन की स्थिति किसी से छिपी नहीं है। इतिहास साक्षी है, जब-जब नैतिक आचरण और जीवन-मूल्यों का ह्रास हुआ है तब-तब मानव जाति ने विनाश का दंश झेला है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त मानवीय सभ्यता में ध्वस्त होती हुई अन्तरात्मा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। (तथाकथित) विज्ञान की अतिवादिता ने मानवता के समक्ष गहरे प्रश्नचिह्न लगा दिए हैं। फलस्वरूप मानव समाज दिग्भ्रमित हुआ है। भौतिक संसाधनों और उपकरणों के बेतहाशा उपयोग से भूमण्डलीय ताप अहर्निश बढ़ता ही

जा रहा है। प्रकृति और ऋतुएँ अनियमित हो रही हैं। वस्तुतः त्यागमय और सादगीपूर्ण जीवन-शैली ही समस्त प्राकृतिक आपदाओं का सम्यक् निदान है। ऐसे में 'आचरण की सभ्यता' के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

आचरण किसी वैचारिक क्रान्ति का परिणाम नहीं है। आचरण की सभ्यता में प्रचलित रीति-रिवाज, परम्पराओं और आदर्शों का निरन्तर अनुकरण अन्ततः प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग से मानवीय मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठा पाता है। सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों के निर्माण में आचरण का सर्वाधिक योगदान है। निबन्धकार कहता है – "यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए – चाहे वह कन्या जिस जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो – अपने आपको गंगा में फेंक दे – चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहें चाहे जायँ – तो इस कार्य में प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, दया का आचरण – क्या, पशु क्या मनुष्य – जगत् के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य ही सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।"

प्रत्येक मानवीय सभ्यता अनुभव पर आधारित होती है। आचरण हमारे अनुभवों को एकत्रित करता है। व्यक्ति समाज की अविभाज्य इकाई है। आचरण का आलम्बन पाकर ही यह इकाई सहयोग, समता और सामूहिकता को सुदृढ़ बनाती है। इस रूप में मानव हृदय की सहज अनुभूतियाँ आचरण व मानवीय सभ्यता की सम्पत्ति मानी जा सकती हैं। इसी आचरण की सभ्यता में लोकलय, माधुर्य और लालित्य कई गुना दिखलायी देने लगते हैं। आचरण की सभ्यता में जीवन-मूल्यों का अधोपतन नहीं है। वहाँ विपन्नता भी हँस-खेलकर काट ली जाती है। निबन्धकार का कथन है – "जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो – बरफ हो – बिजली की कड़क हो – समुद्र का तूफान हो – वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरणों का यह अंश मेरे तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?"

आचरण की सभ्यता के कारण ही मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक नैतिक मूल्य लोकजीवन के साथ गहराई से जुड़ जाते हैं। उसमें मनुष्य जाति व समाज के अमूल्य अनुभव सहेजकर रख दिए जाते हैं। ये आचरण अमूल्य अनुभव के रूप में सहेजकर भावी पीढ़ियों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं तथा जीवन-मूल्यों को आस्था के साथ जोड़ देते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक नैतिक मूल्यों के निहितार्थ तमाम दिखावे और बाह्य आडम्बरों से मुक्त आचरण की सभ्यता का विस्तार आवश्यक है। लोकमंगल का आकांक्षीतमाम संकीर्णताओं से बाहर निकलकर पूरी मानवता के लिए चिन्तित होता है। निबन्धकार बहुत स्पष्ट शब्दों में अपना भाव प्रकट करता है – "धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरण वाले हो जाते। भाई ! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ

करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है, आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में ही बैठकर धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण सभ्यता की प्राप्ति सम्भव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं – तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।"

### 1.1.4. 'आचरण की सभ्यता' का शिल्पगत वैशिष्ट्य

द्विवेदीयुगीन निबन्ध परम्परा के उल्लेखनीय रचनाकार सरदार पूर्णसिंह की गद्य-शैली अपनी स्वतन्त्र पहचान रखती है। उन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य में तार्किक, स्पष्ट, मधुर एवं गम्भीर विश्लेषण पद्धति को अपनाया है। 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध के परिप्रेक्ष्य में उनका भाषिक विधान व शिल्पगत वैशिष्ट्य विवेचनीय है।

#### 1.1.4.1. भाषा-विधान

सरदार पूर्णसिंह विषयानुकूल भाषिक विधान में सिद्धहस्त हैं। 'आचरण की सभ्यता' के भाषिक विधान की मूल प्रवृत्ति संस्कृतनिष्ठा है तथापि निबन्धकार ने तत्सम (अश्रुतपूर्ण, मृदु, कन्या, उन्मदिष्णु, दीक्षा, दृष्टि, नेत्र, सूर्य, पुष्प, तुच्छ, नयन, नाद, मिथ्या, कपोल, काष्ठ, नम्रता, मस्तक, सूर्यास्त, कूप, अरण्य आदि) शब्दों के साथ तद्भव (किसान, मिठास, फूल, तप, निर्धन, रात, मानसिक, पेड़ आदि); देशज (नहाना, खेती, पात, बे-मकान, बे-नाम, बे-निशान, जले-भुने, सूखे, हथौड़े, कुदाली, गढ़ना आदि) एवं विदेशज (स्टीम इंजिन, मुल्ला, रसूल, रोमांच, नुसखों, रेडियम, दिल, मदारी आदि) शब्दों का भी प्रयोग बहुत ही कुशलतापूर्वक किया है। उनका शब्द-चयन सार्थक एवं सटीक है। उनकी भाषा में आलंकारिता, चित्रोपमता और सजीवता जैसे गुण मिलते हैं जो रचनाकार की अगाध विद्वता व बहुज्ञता के परिचायक हैं।

#### 1.1.4.2. शैलीगत वैविध्य

शैली की दृष्टि से 'आचरण की सभ्यता' एक उच्च कोटि का निबन्ध है। यहाँ निबन्धकार ने विविध शैलियों का अवसरानुकूल एवं आवश्यकतानुरूप प्रयोग किया है। आलोच्य निबन्ध में शैली के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

i. विश्लेषणात्मक शैली : 'आचरण की सभ्यता' एक विचारप्रधान निबन्ध है जिसमें तर्क और विश्लेषण की प्रमुखता है। चिन्तन का गाम्भीर्य और भाषा की सुव्यवस्था इस निबन्ध में आद्योपान्त देखी जा

सकती है। उदाहरण देखिए – "शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।"

ii. गवेषणात्मक शैली : 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध में विषय-प्रतिपादन की अद्भुत क्षमता है। रचनाकार ने सिद्धान्त-निरूपण का कार्य भी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वाक्य लम्बे-लम्बे हो गए हैं, किन्तु कहीं भी अस्पष्टता नहीं है। भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। उदाहरण देखिए – "इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है; वक्ता चुप हो जाता है; लेखक की लेखनी थम जाती है; मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।"

iii. भावनात्मक शैली : आलोच्य निबन्ध के अन्तर्गत भाव और विवेक का संतुलित विवेचन हुआहै। वाक्य आलंकारिक और प्रश्नसूचक हैं। निबन्ध का भावपक्ष अत्यन्त प्रबल है जिसमें निबन्धकार का व्यक्तित्व भी पूरी तरह उभर कर सामने आता है। उदाहरण देखिए – "नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक यह जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?"

## 1.1.5. पाठ-सार

सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण एक अनिवार्यता है और हर बार इसके प्रभाव को 'आचरण' व 'सभ्यता' की दृष्टि से आकलित भी किया जाता है। निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह साहित्य, दर्शन और संस्कृति के प्रणेता हैं। 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध के माध्यम से वे मानवीय जीवन-मूल्यों के रूप में आचरण का नियमन करते हैं और सृजन की सृष्टि देते हैं। आचरण की सभ्यता के रूप में जीवन-मूल्यों को संकल्पित कर एक मायने में उन्होंने प्राणिमात्र के अभ्युदय, सुख और शान्ति को ही परिभाषित किया है। मानवता की अभिवृद्धि के लिए 'आचरण की सभ्यता' परम आवश्यक है। मानवीय मूल्यों का क्षेत्र व्यापक है। उसकी अभिव्यक्ति मन, वचन और कर्म की समष्टि में समाहित है। मानवीय मूल्यों की परख हेतु आचरण की सभ्यता को आधार मानकर प्रतिपाद्य प्रस्तुत करने में निबन्धकार ने अभूतपूर्व प्रयास किया है।

## 1.1.6. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| मृदु | : | कोमल |
| गुहा | : | गुफा |
| गजर | : | पारी |

| | | |
|---|---|---|
| नेती | : | योग की एक क्रिया |
| नाद | : | शब्द, ध्वनि |

## 1.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. मिश्र, कृष्णबिहारी (सं.), सरदार पूर्णसिंह: श्रेष्ठ ललित निबन्ध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी गद्य का साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध व निबन्धकार, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी का गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. बाबूराम, हिन्दी निबन्ध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.


## 1.1.8. बोध प्रश्न

**टिप्पणी लिखिए –**

1. सरदार पूर्णसिंह का निबन्ध साहित्य।
2. सरदार पूर्णसिंह की युगीन चेतना एवं लोकधर्मिता।
3. 'आचरण की सभ्यता' का लेखकीय अभिप्राय।
4. 'आचरण की सभ्यता' का भाषिक विधान।
5. 'आचरण की सभ्यता' का गवेषणात्मक शैली-विधान।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. " आचरण की सभ्यता और मानव-मूल्यों का सम्बन्ध वैसा ही है जैसे शरीर का आत्मा के साथ।" उक्त कथन का परीक्षण कीजिए।
2. निबन्ध 'आचरण की सभ्यता' के शिल्पगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. सरदार पूर्णसिंह किस युग के निबन्धकार हैं ?

(क) भारतेन्दु युग
(ख) द्विवेदी युग
(ग) शुक्ल युग
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. "आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है।" यह कथन किसका है ?

(क) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
(ख) बाबू श्यामसुन्दर दास
(ग) चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'
(घ) सरदार पूर्णसिंह

3. लेखक सरदार पूर्णसिंह के अनुसार आचरण की गुप्त गुहा में क्याप्रवेश नहीं कर सकता है ?
(क) शब्द और वाणी
(ख) भाव और विवेक
(ग) धर्म और राजनीति
(घ) उपर्युक्त सभी

4. 'मजदूरी और प्रेम' के रचयिता हैं –
(क) बाबू भारतेन्दु
(ख) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
(ग) सरदार पूर्णसिंह
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. सरदार पूर्णसिंह के अनुसार ईश्वरीय मौन का विषय है –
(क) शब्द
(ख) भाषा
(ग) दोनों
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

## इकाई – 2 : उत्साह – रामचन्द्र शुक्ल

### इकाई की रूपरेखा


1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल
  1.2.2.1. प्रमुख निबन्ध
  1.2.2.2. निबन्धों का प्रतिपाद्य
1.2.3. 'उत्साह' की अन्तर्वस्तु
  1.2.3.1. भाव चिन्तन
  1.2.3.2. हृदय एवं बुद्धि का समन्वयन
  1.2.3.3. विचारों की सम्पन्नता एवं सुसम्बद्धता
  1.2.3.4. लोकरक्षा तथा लोकरंजन
1.2.4. 'उत्साह' का शिल्पगत वैशिष्ट्य
  1.2.4.1. भाषा-विधान
  1.2.4.2. शैलीगत वैशिष्ट्य
1.2.5. पाठ-सार
1.2.6. शब्दावली
1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.2.8. बोध प्रश्न


### 1.2.0. उद्देश्य कथन

हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मनोविश्लेषणात्मक और साहित्यिक निबन्ध लिखकर शुक्लजी ने हिन्दी निबन्ध को नये आयाम दिए। प्रस्तुत इकाई उनके प्रसिद्ध निबन्ध 'उत्साह' पर केन्द्रित है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
ii. शुक्लजी के मनोविश्लेषणात्मक और साहित्यिक निबन्धों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
iii. 'उत्साह' निबन्ध की अन्तर्वस्तु का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कर सकेंगे।
iv. 'उत्साह' के शिल्पगत वैशिष्ट्य को स्पष्ट कर सकेंगे।

## 1.2.1. प्रस्तावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के उदात्त निबन्धकार हैं। उनके निबन्ध हिन्दी निबन्ध जगत् की महानतम उपलब्धि हैं। हिन्दी निबन्ध की विकास यात्रा में तृतीय पड़ाव को 'शुक्लयुग' की संज्ञा प्रदान की गई है। उनके प्रभावस्वरूप तत्युगीन निबन्धों में प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण सुसम्बद्ध निरूपण परिलक्षित होता है। तत्युगीन निबन्ध मनोविज्ञान, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि सभी अनुशासनों को समाविष्ट किए हुए हैं। निजी अनुभूतियों एवं वैयक्तिक भावनाओं का प्रतिपादन भी तत्युगीन निबन्धकारों ने बखूबी किया है। भाषा-शैली की दृष्टि से शुक्लयुगीन निबन्ध द्विवेदी युग की तुलना में अधिक विकसित और प्रौढ़ हैं।

## 1.2.2. निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में नवयुग के प्रणेता हैं। अपने प्रारम्भिक निबन्धों में उन्होंने भाषा सम्बन्धी प्रश्नों और ऐतिहासिक व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किये। शुरुआत में उन्होंने अंग्रेजी के कतिपय निबन्धों का अनुवाद भी किया है। उनके श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबन्ध वर्ष 1912 ई. से वर्ष 1919 ई. तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए। शुक्लजी के आलोचनात्मक निबन्धों में विचारों की प्रधानता अधिक है। विषय की आवश्यकता के अनुरूप आचार्य शुक्ल अपने निबन्धों में स्थान-स्थान पर प्रकृति का मनोरम चित्रण करते हैं।

### 1.2.2.1. प्रमुख निबन्ध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध चिन्तामणि भाग-1 और भाग-2 में संकलित हैं। उनके निबन्ध हिन्दी साहित्य में निबन्ध कला के आदर्श स्वीकार किए गए हैं। 'चिन्तामणि' में संकलित निबन्धों में हृदय एवं विवेक का संतुलित समन्वयहै। स्वयं आचार्य शुक्लने 'निवेदन' के अन्तर्गत इस तथ्य को प्रकट किया है – "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।" विचारात्मक निबन्धों का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श उदाहरण 'चिन्तामणि' के निबन्धों में प्राप्त होता है। 'चिन्तामणि' में संकलित निबन्धों में दो प्रकार के निबन्ध हैं – पहला, मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध ('भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय' और 'क्रोध') तथा दूसरा, समीक्षात्मक निबन्ध ('कविता क्या है', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्तिमार्ग', 'मानस की धर्मभूमि'), जिसके अन्तर्गत सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी और व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध शामिल हैं। दोनों प्रकार के निबन्धों की भाषिक बुनावट अलग-अलग है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल, प्रवाहमय और

बोलचाल के शब्दों से युक्त भाषा है जिसमें जगह-जगह पर मुहावरों व लोकोक्तियों का सार्थक प्रयोग उल्लेखनीय है। विचारात्मक निबन्धों की भाषा गम्भीर, तत्सम प्रधान, जटिल वाक्यविन्यास और पारिभाषिक शब्दों से परिपूर्ण है।

### 1.2.2.2. निबन्धों का प्रतिपाद्य

रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का विषयक्षेत्र अत्यधिक व्यापक है तथा उसमें गम्भीरता एवं सूक्ष्मता के दर्शन होते हैं। प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से उनके निबन्ध इतिहास, मनोविज्ञान, साहित्य, दर्शन आदि सभी विषयों को समाविष्ट किये हुए हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से विषयों की मौलिक समस्याओं को आचार्य शुक्ल अत्यन्त सूक्ष्म पकड़ के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनके निबन्धों में भावुकता एवं आत्मीयता का तत्त्व भी बना रहता है। उनके निबन्धों में जो तथ्य प्रतिपादित किए गए हैं, उनकी पुष्टि हेतु जीवन व साहित्य से उदाहरण भी मिलते हैं। डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार "शुक्लजी के निबन्धों में वे सभी गुण मिलते हैं जो गम्भीर विषयों के निबन्धों के लिए अपेक्षित हैं। ... शुक्लजी की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु युग की सी मौलिकता उसमें है, किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर है। द्विवेदी युग की सी विचारात्मकता उसमें है, किन्तु वैसी शुष्कता का उसमें अभाव है।"

### 1.2.3. 'उत्साह' की अन्तर्वस्तु

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता है कि भाव या मनोविकार मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों के अभिप्रेरक होते हैं। लोकरक्षा एवं लोकरंजन की सारी व्यवस्था भाव या मनोविकार पर ही निर्भर हैं। इनका सदुपयोग भी हुआ है, दुरुपयोग भी। लोक-कल्याण के लिए उत्साह, करुणा, वीरता आदि जैसे मनोविकारों से काम लिया जाता रहा है। 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबन्ध में वे लिखते हैं – "आत्माबोध और जगत् बोध के बीच इसलिए ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवाह नहीं की, भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही। इस जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा, उसी दृश्य के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् की प्रतिष्ठा हुई। लोकमंगल में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमानी बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुयायी ईसाइयों की धर्म पुस्तक में आदम को खुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया, पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्यकला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखाई पड़ा।"

### 1.2.3.1. भाव चिन्तन

मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'उत्साह' के प्रत्येक पक्ष पर मौलिक ढंग से विचार किया है। मनोविकार के रूप में उन्होंने 'उत्साह' का विश्लेषण इतने सूक्ष्म ढंग से किया है कि उसका प्रत्येक पक्ष उजागर हो जाता है। 'उत्साह' में उनका भाव-चिन्तन के साथ सुगम तर्क मिश्रित, जो विचार-प्रवाह है, वह मनुष्य को नैतिक बल और सत्कर्म का संस्कार देने वाला है। वे कहते हैं – "दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है,

वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग से अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्ति होने के आनन्द का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में स्वस्थ, सफल, सार्थक जीवन के लिए लोकमानस का 'उत्साही' होना आवश्यक है। उसे कोरी भावुकता से काम न लेकर प्रत्येक निर्णय, भावुकता के साथ विवेक के समन्वय से करना चाहिए। मनोविकार के रूप में 'उत्साह' को वे अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत व प्रभावी मानते हैं जिसमें बार-बार वे साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का उल्लेख करते हैं – "सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।"

'उत्साह' में लेखक ने मनुष्य के मनोभाव को चित्रित किया है। 'उत्साह' की उपस्थिति से ही मनुष्य-जीवन सार्थक होता है। राजनीति, अर्थ, धर्म, विज्ञान, संस्कार आदि सबकुछ मनुष्य के हाथ के खिलौने हैं। निबन्ध में सायास आगत सुभाषित और सूक्तियाँ लेखक की विद्वता की द्योतक हैं। रचनाकार की भावाभिव्यक्ति जीवन के अनुभवों से आपूर्ण है। उत्साह को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं – "उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को पर-पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।"

मनोविकार जब संवेदनाओं के गहन स्तरों से जुड़ता है तो मानवीय संवदेनाओं की तरह उसकी सीमाएँ भी विस्तृत हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में यह मानना तर्कसंगत है कि मनोविकार (उत्साह) को मात्र उसके अस्तित्व के कारण ही मूल्यवान् नहीं माना जा सकता, क्योंकि मनोविकार का मूल्यबोध उसके अस्तित्वबोध से बिल्कुल पृथक् भी हो सकता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मूल्यबोध अस्तित्वबोध का निषेध करता है। मनोविकार के अस्तित्वबोध को मानवीय कर्म व्यवहार के एक विशिष्ट माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अवधारणा को अधिक स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते हैं – "विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।"

### 1.2.3.2. हृदय एवं बुद्धि का समन्वयन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का दृष्टिकोण मानवतावादी है। उन्होंने 'उत्साह' निबन्ध में हृदय एवं बुद्धि का सुन्दर एवं प्रभावी समन्वय किया है। लेखकीय चिन्तन गाम्भीर्य के साथ उसमें भावात्मक गहराई भी विद्यमान है। भारतीय संस्कृति कर्मप्रधान है। कर्म का पाठ पढ़ाने वाली 'गीता' जैसा ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्व में कहीं नहीं हुआ। 'उत्साह' निबन्ध में भी कार्य करते रहने का ही सन्देश अन्तर्निहित है। यथा – "उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े , उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्मशृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचनेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।"

उत्साह में कर्म और फल की मिश्रित अनुभूति को स्वीकार करने के बावजूद आचार्य शुक्ल फल विशेष की आसक्ति का पूर्णतया निषेध करते हैं – "फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है; चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदास हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार से लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है। इससे आसक्ति उसी में चाहिए। फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफ़ी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।"

### 1.2.3.3. विचारों की सम्पन्नता एवं सुसम्बद्धता

विचारात्मक निबन्धों में बौद्धिक विवेचन ही पर्याप्त नहीं होता, वहाँ हृदय के भावों की झलक की भी अपेक्षा की जाती है। चिन्तनपरक विचारों की सम्पन्नता एवं हृदय के भावों का गम्भीर विश्लेषण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की प्रमुख विशेष्यता है। 'उत्साह' निबन्ध में उनके विचारों की गहनता एवं प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं जिसका प्रत्येक अनुच्छेद गम्भीर विवेचन से ओत-प्रोत है। कर्म, आनन्द और उत्साह के अन्तःसम्बन्धों का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है – "कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल

तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जो जीवन बीता वह संतोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार, उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है – प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है – यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्म-ग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवनभर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।"

वर्तमान में प्रत्येक गतिविधि, विचार, रचना, क्रिया-कलाप को आधुनिक विश्लेषण से जोड़ देने का चलन हो गया है। फिर जब हम किसी रचना को आधुनिकता की कसौटी पर कसकर देखना चाहते हैं तो कहीं-न-कहीं हम यह भी सुनिश्चित करना चाहते हैं कि आलोच्य रचना में विचारों की सम्पन्नता एवं सुसम्बद्धता का परिपालन कहाँ तक और किस रूप में हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रत्येक रचना के केन्द्र में 'लोकहित' का आग्रह है। उनके अनुसार अत्याचार का दमन एवं क्लेश का निवारण करने में एक लोकोपकारी कर्मवीर (उत्साही) को सदैव सच्चे सुख की अनुभूति होती है – "कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।"

### 1.2.3.4. लोकरक्षा तथा लोकरंजन

उत्कृष्ट रचना के लिए परम आवश्यक है कि रचना के प्रत्येक क्षण में रचनाकार के व्यक्तित्व के संवेगों की नदी उसके चिन्तन के समुद्र में विसर्जित हो। 'उत्साह' निबन्ध में लेखक ने व्यक्तिगत संवेदनाओं का पूर्ण विस्तार कर उन्हें बाह्य संसार से जोड़ने का प्रयास किया है। वह स्थितियों एवं घटनाओं को भेदकर उनके भीतर उदात्त जीवनमूल्यों की स्थापना में ही मनोभावों का आख्यान प्रस्तुत करता है। लेखक की दृढ़ मान्यता है कि कर्म भावना ही 'उत्साह' पैदा करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं। कर्म के अनुष्ठान में आनन्द का विधान शुक्लजी ने तीन रूपों में किया है – पहला, कर्म भावना से उत्पन्न; दूसरा, फल की भावना से उत्पन्न तथा तीसरा, विषयान्तर से प्राप्त। हालाँकि, इसमें से वे कर्मभावना प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द मानते हैं, क्योंकि वहाँ साहस का योग अपेक्षाकृत बहुत अधिक रहता है।

हम जब किसी भी माध्यम से मनोविकार (उत्साह) को पहचानने का उपक्रम करते हैं तो वह कोई निरपेक्ष यथार्थ नहीं, अपितु हमारे माध्यम की प्रकृति का रूपान्तरित यथार्थ ही होता है। मनोविकार (उत्साह) के पहचान की हमारी प्रक्रिया ही हमारा यथार्थ हो उठती है। ऐसी दशा में हम अपनी मनोविकार सम्बन्धी नयी दृष्टि का अनुभव कर रहे होते हैं; समूचे यथार्थ का, यथार्थ के हमारे समूचे बोध (लोकरक्षा तथा लोकरंजन) का नवसृजन कर रहे होते हैं। इस भाव की अभिव्यंजना करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं – "कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुखप्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।" मनुष्य और सभ्यता की आधारभूमि केवल व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना नहीं है, अपितु मानवीय 'मनोविकार' की चेतना का स्वतन्त्र होना ही मानवीय सभ्यता का आधार है। समाज को जागरूक बनाने के लिए चैतन्य रचनाकार उसे कई बार जनजीवन की घटनाओं-परिघटनाओं को सुनाता है।

किसी अन्य व्यक्ति के सुख-दुःख का अनुभव उतनी तीव्रता से तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं वह व्यक्ति बन कर न जिया जाय। मनःस्थिति को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं – "कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी; तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।"

## 1.2.4. 'उत्साह' का शिल्पगत वैशिष्ट्य

### 1.2.4.1. भाषा-विधान

'उत्साह' निबन्ध में कहीं भी बोझिलपन, उलझन व अस्पष्टता नहीं है। भाषा व्याकरण-सम्मत और अशुद्धियों से पूर्णरूपेण रहित है। लेखक ने विराम-चिह्नों का प्रयोग अत्यन्त सजगता से किया गया है। भाषिक-विधान के आलोक में 'उत्साह' निबन्ध की महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं –

i. 'उत्साह' में निबन्धकार का भाषा विषयक दृष्टिकोण उदार है। उन्होंने तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशी शब्दों का प्रयोग कुशलतापूर्वक किया है।
ii. भाषा परिष्कृत, प्रौढ़ व साहित्यिक है जिसमें भाव-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता है।
iii. निबन्ध का वाक्य-विन्यास पूर्णतः व्याकरण-सम्मत और सुगठित है। यहाँ हिन्दी की मूल प्रवृत्ति का विशेष ध्यान रखा गया है।
iv. अवसरानुकूल लाक्षणिक भाषा और सामासिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

### 1.2.4.2. शैलीगत वैशिष्ट्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्धों में सरसता का संचार करने के लिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। 'उत्साह' निबन्ध में जिन शैलियों का प्रयोग किया गया है, वे निम्नलिखित हैं –

i. विचारात्मक शैली : 'उत्साह' में न तो बहुत अधिक छोटे और न बहुत लम्बे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। रचनाकार ने विचारों की सुस्पष्टता और बोधगम्यता पर विशेष ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ – "पर केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्द-पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं।"
ii. गवेषणात्मक शैली : गवेषणात्मक शैली में खोज एवं अनुसंधान की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अन्तर्गत गूढ़ विषय को सहज और बोधगम्य बनाने का प्रयास किया जाता है तथा विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया जाता है – "युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर, बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।"
iii. भावात्मक शैली : भावात्मक शैली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उत्कृष्ट चिन्तन का प्रतिबिम्ब कही जा सकती है। विचारों की तीव्रता और भाव-प्रवणता इस शैली का प्रधान गुण है। उदाहरण द्रष्टव्य है – "ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस – भाव की दृष्टि

से – कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की – चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो – उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।"

iv. सामासिक शैली : सामासिक शैली आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इसके अन्तर्गत निगमन और आगमन शैली का प्रयोग उल्लेखनीय है। इस शैली में विचारों की सघनता और कम शब्दों में अधिक बात कहने की क्षमता दिखाई पड़ती है। इसे सूत्र शैली भी कहा जाता है। उदाहरण द्रष्टव्य है – "साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।"

## 1.2.5. पाठ-सार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल समालोचक, समीक्षक, निबन्धकार और इतिहासकार के रूप में प्रख्यात हैं। हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय मानदण्ड स्थापित किए हैं। आचार्य शुक्ल से पहले कई गद्य लेखकों ने मनोविकार पर निबन्ध लिखे हैं, किन्तु वहाँ गूढ़-शास्त्रीय विवेचन की ही प्रधानता ही रही। शिक्षात्मक रूप से उन मनोविकारों से होने वाले लाभ-हानि के विवेचन के साथ उसके नैतिक एवं धार्मिक पक्ष को प्रस्तुत करना ही रचनाकार का उद्देश्य था। आचार्य शुक्ल ने मनोविकारों का जीवन से सम्बद्ध निरूपित करते हुए उनके महत्त्व और उपयोगिता को उद्घाटित किया। शुक्लजी की धारणा है कि भाव या मनोविकार मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों के प्रेरक होते हैं। लोकरक्षा और लोकरंजन की सारी व्यवस्था इन्हीं पर निर्भर है। इनका सदुपयोग हुआ है तो दुरुपयोग भी हुआ है। करुणा, वीरता, उत्साह आदि मनोविकारों लोककल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

## 1.2.6. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| चैतन्य | : | चेतनापूर्ण |
| उदात्त | : | श्रेष्ठ |
| आसक्ति | : | लीन |
| लाघव | : | लघुता |
| तुषार | : | हिमकण |

## 1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि (पहला भाग), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी गद्य का साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध व निबन्धकार, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी का गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. बाबूराम, हिन्दी निबन्ध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

## 1.2.8. बोध प्रश्न

### लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उत्साह क्या है ? इसका महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का उल्लेख कीजिए।
3. 'उत्साह' निबन्ध की भाषिक-संरचना पर प्रकाश डालिए।
4. 'उत्साह' निबन्ध में लेखकीय मंतव्य को स्पष्ट कीजिए।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "दु:ख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द वर्ग में उत्साह का है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. 'उत्साह' निबन्ध के शिल्पगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कर्म के अनुष्ठान में आनन्द का विधान है –

(क) कर्मभावना से उत्पन्न
(ख) फलभावना से उत्प्न्न
(ग) विषयान्तर से प्राप्त
(घ) उपर्युक्त सभी

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उत्साह किसकी मिली-जुली संस्कृति है ?

(क) कर्म और फल की
(ख) सुख और दुःख की
(ग) धर्म और न्याय की
(घ) लाभ और हानि की

3. फलभावना प्रधान उत्साह किसका प्रच्छन्न रूप है ?

(क) लोभ का
(ख) भय का
(ग) त्याग का
(घ) परोपकार का

4. उत्साह में ध्यान किस पर रहता है ?

(क) कर्म पर

(ख) फल पर

(ग) व्यक्ति पर

(घ) वस्तु पर

5. 'चिन्तामणि' के रचयिता हैं –

(क) बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(ख) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(घ) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

## इकाई – 3 : अशोक के फूल – हजारीप्रसाद द्विवेदी

**इकाई की रूपरेखा**

1.3.0. उद्देश्य कथन
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनका निबन्ध-लेखन
1.3.3. 'अशोक के फूल' की अन्तर्वस्तु
1.3.4. ललित निबन्ध के रूप में 'अशोक के फूल'
1.3.5. 'अशोक के फूल' की भाषा-शैली
1.3.6. पाठ-सार
1.3.7. बोध प्रश्न

### 1.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धकार व्यक्तित्व का परिचिय प्राप्त कर सकेंगे।
ii. 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध में हिन्दी और संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति, भाषा, शोध, शिक्षा, प्राचीन साहित्य, धर्म, दर्शन, प्रकृति आदि विषयक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iii. द्विवेदीजी की भाषागत सहजता का दर्शन और ज्ञान की गम्भीरता को समझ सकेंगे।
iv. 'अशोक के फूल' निबन्ध में लेखक ने भारतीय साहित्य और संस्कृति में कितनी गहनता से प्रवेश किया है, इसका अनुभव कर सकेंगे।
v. लेखक की सहजता में भी ज्ञान की गम्भीरता को अनुभव कर सकेंगे।
vi. द्विवेदीजी की निबन्ध शैली को समझ सकेंगे।

### 1.3.1. प्रस्तावना

निबन्धों के माध्यम से मानव जीवन का गहन अध्ययन, चिन्तन तथा यथार्थबोध अभिव्यक्त होता है। निबन्ध में किसी विषय को गति और दिशा देने का कार्य निबन्धकार का व्यक्तित्व करता है। प्रस्तुत पाठ में आप हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध 'अशोक के फूल' में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की गहनता का अनुभव प्राप्त करेंगे। ललित निबन्धों में लेखकीय व्यक्तित्व का जो प्रस्फुटन होता है वह अन्य निबन्धों में नहीं होता। शैलीगत सौन्दर्य भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। पाठ पढ़ने के पूर्व आप निबन्ध अवश्य पढ़ लें। तभी आप पाठ में कही गई बातों को आत्मसात कर सकेंगे।

## 1.3.2. हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनका निबन्ध-लेखन

हिन्दी निबन्ध लेखन के क्षेत्र में हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान अद्वितीय है। द्विवेदीजी निबन्ध एवं आलोचना दोनों विधाओं के सिद्धहस्त रचनाकार हैं। हिन्दी जगत् में द्विवेदीजी एक अन्वेषक, इतिहासकार आलोचक, निबन्धकार तथा उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके अनुसार निबन्ध व्यक्ति का स्वाधीन चिन्तन है। द्विवेदीजी के अध्ययन का विस्तृत आयाम उनके लेखन में सर्वत्र व्याप्त है। उनके ललित निबन्धों में द्विवेदीजी की आत्मव्यंजना के विविध रूप दिखाई देते हैं। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह', तथा 'कुटज' आदि द्विवेदीजी के निबन्ध संग्रह हैं। द्विवेदीजी ने मानवीय सन्दर्भों में ही साहित्य को देखा है।

द्विवेदीजी ने साहित्य को मनुष्य का उच्छलित आनन्द माना है। मनुष्य की संवेदनशीलता साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। यही संवेदना ललित कलाओं का प्राण है। साहित्य का लक्ष्य मनुष्य ही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मान्यताओं का प्रभाव भी द्विवेदीजी पर पड़ा है।

द्विवेदीजी के अनुसार निबन्ध लेखक विषय के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए वैज्ञानिक जैसी तटस्थता का पालन नहीं कर सकता। वह अपनी निजता बनाए रखता है। द्विवेदीजी के निबन्धों में वार्तालाप, व्याख्यान, गप्प और स्वगत चिन्तन की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी की मान्यताओं में सामाजिकता, मनुष्य की असीम शक्ति तथा आस्था का समावेश भी है। मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की आकांक्षा द्विवेदीजी के निबन्धों का वर्ण्य-विषय है। मनुष्य की सफलता के प्रति द्विवेदीजी में असीम विश्वास है। वे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, धर्म, कला और संस्कृति को मानवीय पूर्णता का आधार मानते हैं। द्विवेदीजी के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्यता की सिद्धि, उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि तथा मंगलकारी विधान है। उनके ललित निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की भंगिमा, उनके मन का उच्छवास तथा उनकी संवेदनशीलता अभिव्यक्त हुई है। 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'वसन्त आ गया है' आदि निबन्धों में विषय के साथ शैलीगत सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं। उनकी शैली में लालित्य के साथ ही उनका सहज व्यक्तित्व भी प्रस्तुत हुआ है। ऋतुओं, पुष्पों, वृक्षों, पर्वों और स्थानों की पृष्ठभूमि में छिपे हुए इतिहास के पन्नों को भी द्विवेदीजी ने खोला है। इन सबकी चर्चा बड़े मनोयोग से प्रस्तुत की गई है। विषयगत प्रसंग से लेखकीय मन भी प्रभावित हुआ है। संवेदना, उदासीनता, प्रसन्नता, क्षोभ आदि मनोवेगों के साथ लेखक डूबता-उतराता पाठक के मन को भी तदनुसार सिंचित करता रहता है। उनके निबन्धों में कहीं इतिहास के खण्डहर हैं, कहीं मनोरम प्राकृतिक छटा और कहीं पत्थरों पर पनपा 'कुटज' तो कहीं 'अशोक के फूल'। पाठक का मन-मस्तिष्क कभी अतीत की व्याख्या, कभी तर्क-वितर्क पर आधारित अनुमानों से संतुष्ट होता हुआ अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है। द्विवेदीजी के निबन्धों में विचार एवं अनुभूति का सम्मिश्रण है। वे कहते हैं – "मनुष्य थका है, रुका नहीं।" मनुष्यता एक गतिशील तत्त्व है। इसी तत्त्व को द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में स्थापित किया है।

## 1.3.3. 'अशोक के फूल' की अन्तर्वस्तु

'अशोक के फूल' ललित निबन्ध है। इसका केन्द्र अशोक वृक्ष और उसके छोटे-छोटे लाल पुष्प हैं। अशोक के माध्यम से द्विवेदीजी बहुत से महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की व्यंजना करते चलते हैं। उनके पास ज्ञान का अक्षय भण्डार है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और बांग्ला भाषा साहित्य पर वे अधिकारपूर्वक लिखते रहे हैं। वे संस्कृत के तो विद्वान् थे ही, साहित्य की सरसता के भी पारखी हैं। 'अशोक के फूल' निबन्ध में नीरस पाण्डित्य न होकर ललित और उन्मुक्त भावों की प्रवाहपूर्ण भाषा अभिव्यक्त हुई है। लेखक की निजता का प्रकाशन मोहक और ज्ञानवर्धक है।

अशोक शब्द का अर्थ है, 'शोकरहित'। 'अशोक' एक वृक्ष होता है, जिसकी पत्तियाँ आम की तरह लम्बी और किनारों पर लहरदार होती हैं। अशोक के मनोहारी सुन्दर छोटे-छोटे लाल पुष्पों को देखकर लेखक भारतीय साहित्य और संस्कृति में इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। क्षणभर में समय का एक लम्बा विस्तार नाप लेना द्विवेदीजी की विशेषता है। अशोक के लाल-लाल छोटे-छोटे सामान्य पुष्प स्तबकों या गुच्छों के बहाने द्विवेदीजी जो लम्बी और व्यापक सांस्कृतिक यात्रा कर डालते हैं, वह उनकी निबन्ध शैली का एक अद्भुत उदाहरण है। उनके निबन्धों में उनका गहन पाण्डित्य झलकता है किन्तु वहाँ पाण्डित्य का बोझ नहीं है। 'अशोक के फूल' निबन्ध में वे लिखते हैं – "पंडिताई भी एक बोझ है – जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती।"

द्विवेदीजी में पाण्डित्य को सहज ढंग से व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। दार्शनिक चिन्तन की अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म बातें वे बहुत ही सहज ढंग से कह जाते हैं। उनके निबन्धों में पाण्डित्य सहज निर्झर की तरह प्रवाहित होता है। कलम उठाते ही उनका आत्मसात किया हुआ ज्ञान बहने लगता है। उनके निबन्धों में सन्दर्भ बहुत आते हैं – संस्कृत के उद्धरण, प्राकृत और अपभ्रंश के उद्धरण, भक्ति और रीतिकाल के कवियों की कविताएँ तथा रवीन्द्रनाथ के गीतों की पंक्तियाँ आदि। द्विवेदीजी इन उद्धरणों का अनुवाद अपनी सहज भाषा में करते चलते हैं। उन्हें अत्यन्त सहज बनाकर पेश करते हैं ताकि पाठक को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। अत्यन्त छोटी-छोटी बातें करते हुए वे सहज ढंग से ही गम्भीर बातें करने लगते हैं। कामदेव ने अपने पाँच पुष्पबाणों में अशोक के पुष्प का बाण भी अपने तरकश में रखा था, यह तथ्य पाठक को निबन्ध के पहले अंश में ही मालूम हो जाता है।

अशोक शब्द का अर्थ है, 'शोकरहित'। किन्तु लेखक का मन पुष्पित अशोक को देखकर उदास हो जाता है। यह तथ्य पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है कि शोकरहित अर्थ के साथ उदासीनता का भाव क्यों ? लेखक इस मनःस्थिति की व्याख्या भी करता है कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में कोई आनन्द नहीं है किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं कि उनके समक्ष जो भी उपस्थित हुआ उसके पूरे जीवन का आकलन वे कर डालते हैं। लेखक फिर अपने को सँभालते हुए कहता है कि बहुत दूरदर्शिता की बात न की जाए तो भी अशोक के पुष्पों को देखकर मन उदास हो जाता है। इसका वास्तविक कारण तो ईश्वर ही जानता है किन्तु कुछ व्यक्तिगत अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य और मानवीय जीवन में पुष्प का

अपना एक अलग ही नाटकीय महत्त्व है। अशोक के पुष्प तो चिरकाल से विद्यमान रहे हैं किन्तु कालिदास के काव्यों में यह अत्यन्त शोभा, सुकुमारता तथा सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है। नववधू के गृहप्रवेश की गरिमा के समान यह पुष्प वहाँ शोभायमान है।

इस तथ्यपरक वर्णन के बाद ही द्विवेदीजी मध्यकालीन राजनीति और उसके कुप्रभाव से उत्पन्न दुराशा की बात करने लगते हैं। भारतीय राजनीति में अचानक मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा के बाद ही यह मनोहारी अशोक-पुष्प साहित्य के सिंहासन से पदच्युत हो गया। बुद्ध और विक्रमादित्य की तरह यह भी इतिहास बन गया। कभी यह पुष्प सुन्दरियों के सौन्दर्य का परिधान था, देवाधिदेव महादेव के भी क्षोभ का कारक था, मर्यादापुरुषोत्तम राम के मन में भी सीता का भ्रम पैदा करता था किन्तु कामदेव के अन्य पुष्प बाणों की महत्ता तो आज भी कवि-कर्म में बनी हुई है। अरविन्द, आम, नीलोत्पल आदि आज भी पूछे जाते हैं। नवमल्लिका की पूछ अवश्य कुछ कम है किन्तु अशोक-पुष्प तो बिलकुल ही भुला दिया गया है। विगत हजार वर्षों पर दृष्टिपात करें तो प्रश्न उठता है, क्या यह अशोक-पुष्प भूल जाने की वस्तु थी? काव्यगत सहृदयता कहाँ चली गई? इस निफूले वृक्ष को सम्पूर्ण उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। यह तो उसका अपमान करने जैसा है।

अब पुनः लेखक इतिहास में प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण करने लगता है। ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग अशोक का शानदार पुष्प भारतीय साहित्य, धर्म और शिल्प में अद्वितीय महिमा के साथ आया था। कामदेव ने यदि अशोक-पुष्प को चुना है तो यह निश्चय ही एक आर्येतर सभ्यता की देन है। आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प या कामदेव गन्धर्व का ही पर्याय है। शिव से भिड़ने पर वह पिट चुके थे। विष्णु से डरते थे। बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर वापस हो गए थे। अशोक सम्भवतः कामदेव का अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म, शैवधर्म, शक्तिसाधना आदि सभी में अशोक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वज्रयान, कौल-साधना, कापालिक मत आदि इसका प्रमाण हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है। यहाँ असुर, आर्य, शक, हूण, नाग, यक्ष, गन्धर्व सभी का निवास स्थान है। इन सभी का भारतीय सभ्यता-संस्कृति के निर्माण में योगदान है। कुल मिलाकर हम इसे हिन्दू शब्द से अभिहित करते हैं। इन सारी स्मृतियों के बीच अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अशुभ मुहूर्त में कामदेव ने शिवजी पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया। वामन-पुराण (षष्ठ अध्याय) के अनुसार कामदेव का रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। धनुष की मूठ रूक्मणि से बना था। वह टूटकर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ नाह-स्थान गिरकर मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूटकर सुन्दर पाटल-पुष्पों में बदल गया। चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया। विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष गिरकर कोमल फूलों में बदल गया। प्रश्न यह है कि इस कथा का रहस्य क्या है? क्या यह पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये पुष्प भारतीय जनजीवन में रच-बस गए? सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधानों में इसकी चर्चा सुरक्षित है। ये फूल भी क्या उन्हीं की देन हैं? यक्षों और गन्धर्वों के देवता कुबेर, सोम, अप्सराएँ –

यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में अपदेवता के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें संतान-कामना हेतु स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास जाया करती थीं। यक्ष और दक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन अपदेवताओं का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में संतानार्थ स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण है। कई धर्म-ग्रन्थों में यह वर्णन है कि चैत्रशुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों का भक्षण करने से स्त्री की संतान-कामना पूर्ण होती है। अशोक कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं – सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। ये सारी बातें रहस्यमय हैं।

आर्यों का लिखा साहित्य ही हमारे पास है। पुराणों के अनुसार आर्य तथा आर्येतर जातियों में अनेक संघर्ष हुए। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनिजात मान ली गईं। असुर, दानव, दैत्य, राक्षस आदि से आर्यों के संघर्ष का वर्णन मिलता है। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे सम्भवतः शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। ये पहाड़ी जातियाँ प्रतीत होती है। हिमालय का देश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनकी स्थिति अधिकतर आदिम जातियों की भाँति थी। ये वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व स्थिति में भी नहीं थे। राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्य वाली स्थिति भी नहीं थी। वे नाच-गान में कुशल और मणियों-रत्नों का संधान जानते थे। परवर्ती हिन्दू समाज में असुर-राक्षस से लेकर यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, भालू-वानर तक सभी को अद्भुत शक्तियों का आश्रय और देवता-बुद्धि का पोषक माना गया।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं बल्कि उसके अधिष्ठाता कामदेव की होती है। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। अशोक के लाल स्तबक इन पुराने उत्सवों के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अशोक पुष्पों की मादकता आज भी है पर उन्हें पूछता कौन है ?

कहा जाता है कि दुनिया में केवल उतनी ही बातें याद रहती हैं या रखी जाती हैं जितने से हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है। बाकी चाहे जितना काम का हो, सब छूट जाता है। अशोक वृक्ष शायद आज उतना स्वार्थ-साधक नहीं रहा। समय के साथ सामन्ती युग समाप्त हुआ। मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। संतान की कामना रखने वाली स्त्रियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा – पीर, भूत-भैरव, काली-दुर्गाशक्ति के आगे यक्षशक्ति कमतर हो गई। फलस्वरूप अशोक का महत्त्व भी कम हो गया। मानवीय सभ्यता, संस्कृति और जिजीविषा न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को छोड़ती-अपनाती आज तक विकास करती आई है। संघर्षों से मनुष्य में नयी शक्ति आई है। परम्परागत संस्कार का मोह क्षणभर का अवरोध अवश्य उत्पन्न करता है किन्तु 'सार-सार को गहि रहै, थोथा देई उड़ाय' की तरह भारतीय संस्कृति की दुर्दम धारा

में सब कुछ बह जाता है केवल उपयोगी और सार्थक तत्त्व शेष रहता है। आज अशोक के पुष्प स्तबकों की भी यही स्थिति है। यही कारण है कि लेखक मन उसे देखकर उदास हो जाता है। आने वाले समय में और न जाने कौन-सी वस्तु अशोक की तरह ही उपेक्षित हो जाएगी और उसे देखकर मन उदास होगा। अशोक के साथ किसलय की भी दशा भी वैसी ही है। लेखक प्रश्न उपस्थित करता है कि जिसे हम आज बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? समय के चक्र में बहुत कुछ ध्वस्त हो जाएगा। परिवर्तन, विकास और नवीनता अपने-अपने समय का सत्य है। बौद्ध, शैव, शाक्त सभी का अपना एक समय था। यदि अशोक वृक्ष की बात की जाए तो वह आज भी आनन्दमय है जिस प्रकार दो हजार साल पहले था। परिवर्तन मनुष्य की मनोवृत्ति में होता है। वस्तु वही है, दृष्टि अलग-अलग है। पुरातन दृष्टि उदासीनता लाती है और नवीनता उसका परिमार्जन करती है। अशोक-वृक्ष का आनन्द पहले भी था और आज भी है। उसे देखकर उदासी नहीं बल्कि समय के साथ उसकी सार्थकता तथा उपयोगिता को परखने और परिष्कृत करने की आवश्यकता है। 'हर हाल में खुश रहो और अपनी सार्थकता सिद्ध करो।' यही 'अशोक के फूल' का सन्देश है।

द्विवेदीजी की भाषा की निजी विशेषता है। 'अशोक का फूल' तो एक माध्यम है। वास्तविक तो द्विवेदीजी का सत्य है। वही सत्य प्रस्तुत निबन्ध में झरने की भाँति प्रवाहित हो रहा है। इसीलिए वे जीवन को कला और तपस्या दोनों मानते हैं। सारा संसार केवल स्वार्थ के लिए जीवित है। हजारी प्रसाद द्विवेदी चिन्तन अर्थात् बुद्धिपक्ष और भाव अर्थात् हृदयपक्ष को साथ-साथ लेकर चलते हैं। द्विवेदीजी जहाँ आवश्यक है वहाँ विचार पक्ष को शुद्ध रूप से रखते हैं और अन्य स्थलों पर वे ललित भाव से विषय को प्रस्तुत करते हैं। किसी भी वस्तु के प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्वार्थजन्य होता है। यह एक सत्य है किन्तु समय के साथ उसकी सार्थकता का स्वरूप परिवर्तनशील है। इसी सत्य सिद्ध करने के लिए द्विवेदीजी 'अशोक के फूल' को सामने रखते हैं। भावात्मकता और प्रवाहमयता के साथ वे 'अशोक के फूल' की बात करते हैं। 'अशोक के फूल' को देखकर हम उदास क्यों हैं ? वह तो आज भी उल्लसित है, आज भी दूसरों को उल्लसित कर सकता है।

### 1.3.4. ललित निबन्ध के रूप में 'अशोक के फूल'

ललित निबन्ध क्या है ? ललित निबन्ध का स्वरूप क्या है ? इसके तत्त्व क्या हैं ? इसी आधार पर 'अशोक के फूल' निबन्ध का परीक्षण किया जाना चाहिए।

ललित निबन्धों में भावना की प्रधानता होती है किन्तु विचारतत्त्व भी निरन्तर समाहित होते हैं। कुछ निबन्धों में भावना की ही प्रधानता होती है। द्विवेदीजी के निबन्धों में भाव और विचार दोनों का समन्वय बराबर होता है। उनका पाण्डित्य भी सदैव उनके साथ रहता है। निबन्ध-लेखन में सरलता, स्वच्छन्दता, आडम्बरहीनता, घनिष्ठता तथा आत्मीयता के साथ लेखक का वैयक्तिक दृष्टिकोण भी अभिव्यक्त होता रहता है। निबन्धों की लेखन-कला का निर्माण निबन्धकार स्वयं करता है। इसके लिए सहज, आडम्बरहीन, परिपक्व और विचारशील व्यक्तित्व का होना आवश्यक है तभी निबन्ध लेखक पाठक से निकटता और आत्मीयता स्थापित कर सकता है। वास्तव में ललित निबन्धों में चिन्तन की प्रधानता होती है किन्तु निबन्ध लेखक उसमें अपनी प्रकृति या परिस्थिति

के अनुसार भावनात्मकता का भी मिश्रण कर देते हैं। इस प्रकार ललित निबन्धों में भावना तथा विचार का सहज संयोग और समन्वय प्रस्तुत हो जाता है। यह समन्वय पाठक को भी प्रभावित करता है। साथ ही बौद्धिक प्रेरणा भी प्राप्त होती है। 'अशोक के फूल' निबन्ध में द्विवेदीजी ने शास्त्रीयता और भावना दोनों का आश्रय लेकर तथ्य और सत्य का समन्वय प्रस्तुत किया है। अशोक एक फूलों वाला वृक्ष है। अशोक वृक्ष के माध्यम से द्विवेदीजी ने उसके उद्‌गम, महत्त्व, प्रयोग, साहित्य में उपयोगिता, शृंगार और प्रेम में सौन्दर्यबोध और उसकी पूजा तक के सारे सन्दर्भों को खंगाल डाला है। द्विवेदीजी की शोधपरक दृष्टि शोध का कोई कोना छोड़ती ही नहीं है। लेखक अपनी निजता के साथ वैयक्तिक बोध और आत्मीयता को निबन्ध में समाहित करता चलता है। ललित निबन्धों में कई साहित्य रूपों के गुण भी समाविष्ट होते रहते हैं। इसमें जीवन की वास्तविकता, कहानी की संवेदना, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की चारु कल्पना, गद्यकाव्य की भावातिशयता, महाकाव्यों की गरिमा, विचारों की उत्कृष्टता, सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं।

'अशोक के फूल' एक ललित निबन्ध है। इसका विषय भी अशोक वृक्ष है। इस विषय को प्रस्तुत करते हुए द्विवेदीजी उसके मोहक स्वरूप और कामदेव के पुष्पबाणों में से एक होने के उसके महत्त्व की भी चर्चा करते हैं। भारतीय साहित्य में उसके चलते मानव जीवन में भी पुष्प के प्रवेश और निर्गम की व्याख्या द्विवेदीजी ने बड़ी भावुकता के साथ किया है। वे कहते हैं कि अशोक के पुष्प तो सदैव से ही विद्यमान रहे हैं किन्तु कालिदास के साहित्य में यह जिस सरलता और सौन्दर्यबोध के साथ अभिव्यक्त हुआ है, वह अन्यत्र नहीं। अशोक वृक्ष की हतभाग्यता पर लेखक उदासीन भाव ग्रहण करता है। वह सोचता है कि मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठा के साथ ही यह मनोहारी अशोक पुष्प भी जैसे साहित्य के राजसिंहासन से पदच्युत हो गया। इसे इतिहास का विषय बना दिया गया। वह अशोक पुष्प जो सुन्दरियों की शोभा था, महादेवजी के मन को क्षोभित करता था, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के मन में सीता का भ्रम पैदा करता था, कामदेव का पुष्पबाण था, वही अशोक पुष्प ऐसा क्या हुआ कि भुला दिया गया ?

हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का चिन्तनशील व्यक्तित्व भारतीय इतिहास के एक हजार पहले के पृष्ठों को पलटने लगता है। ईस्वी सन् के आरम्भ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्‌भुत चमत्कार के साथ आया था। यह यक्षों और गन्धर्वों का काल था जिसने भारतीय धर्म-साधना को एक नवीन रूप में परिवर्तित कर दिया था। विद्वानों के अनुसार गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता आर्येतर श्रेणी में आते हैं। इसलिए यदि उन्होंने अशोक-पुष्प को चुना है तो यह निश्चय ही एक आर्येतर संस्कृति की देन है। आर्येतर जातियों के ही उपास्य वरुण, कुबेर, वज्रपाणि यक्षपति आदि थे। बौद्ध, शैव, शाक्त, वज्रयान, कौल-साधना, कापालिक मत आदि में अशोक वृक्ष एवं पुष्प की महत्ता थी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह। यहाँ असुर, आर्य, शक, हूण, नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि न जाने कितनी मानव जातियाँ आयीं और यहाँ बस गईं। आज के भारत के निर्माण में इन सभी का अपना-अपना योगदान है। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वे अनेक आर्य तथा आर्येतर उपादानों का मिश्रण है। इन्हीं उपादानों में अशोक की भी अपनी स्मृति परम्परा है। लेखक फिर भावुक हो जाता है

कि न जाने किस बुरे मुहूर्त में कामदेव ने शिव पर बाण फेंका था ? शरीर जल कर राख हो गया। वामन पुराण (षष्ठ अध्याय) के अनुसार कामदेव का रत्नमय धनुष टूटकर धरती पर खण्ड-खण्ड हो बिखर गया। वह धनुष जहाँ टूटकर गिरा वहाँ भाँति-भाँति के पुष्प खिल गए। लेखक फिर चिन्तन करता कि इस कथा का रहस्य क्या है ? यह केवल पुराणकार की कल्पना मात्र है या सचमुच ये अशोक पुष्प गन्धर्वों की देन हैं ? अशोक वृक्ष के बहाने द्विवेदीजी आर्य-आर्येतर जातियों के मिलन, योगदान तथा सामाजिक उपादेयता के प्रसंग को रेखांकित करते हैं।

यक्षों और गन्धर्वों के देवता – कुबेर, सोम, अप्सराएँ आदि यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं तथापि पुराने साहित्य में देवता रूप में ही मिलते हैं। महाभारत में अनेक कथाएँ हैं जिनमें संतानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास संतान-कामिनी होकर जाती थीं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी यक्षों को सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। अशोक कल्प के अनुसार अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं – सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है।

'अशोक के फूल' निबन्ध के माध्यम से द्विवेदीजी बहुत दूर तक ऊँची उड़ान भरते दिखाई देते हैं। आर्य-अनार्य संघर्ष यक्षों के निवास स्थान, रंग-रूप, कला-संस्कृति, हिमालय प्रदेश और यक्ष जाति, अप्सराएँ, अन्य वन्य जातियाँ तथा परवर्ती हिन्दू समाज में इनकी अद्भुत शक्तियों का प्रभाव आदि तथ्यों का रहस्योद्घाटन द्विवेदीजी ने प्रस्तुत निबन्ध में किया है। अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। अशोक के लाल स्तबकों से सुन्दरियाँ अपने प्रियतम पति का स्वागत करती थीं। यह स्वागतोत्सव होता था। अशोक के लाल स्तबक आज भी उतने ही सुन्दर और मादक हैं लेकन आज उन्हें पूछता कौन है ? केवल स्मृतियाँ शेष हैं। पुनः द्विवेदीजी भारतीय समाज और संस्कृति की सार-गहिता को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि समाज आगे बढ़ जाता है, इतिहास पीछे छूट जाता है। सारा संसार स्वार्थमय और उपयोगितावादी है। समय के साथ मदनोत्सव की धूम मिट गई। संतान-कामिनियाँ यक्ष-गन्धर्व-अशोक को छोड़ पीरों, भूत-भैरवों, और काली-दुर्गा की शरण में जाने लगीं। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को छोड़कर जीवनधारा आगे बढ़ी है। हमारा सामाजिक स्वरूप अनेक प्रकार के ग्रहण तथा त्याग का परिणाम है। आज जो वस्तु अत्यन्त उपयोगी, मूल्यवान्, गुणकारी प्रतीत हो रही है, हो सकता है कल वह व्यर्थ हो जाए और नयी वस्तु मूल्यवान् बन जाए। यही जीवन, समाज और संस्कृति की विकासयात्रा है। पुनः लेखक भावी परिवर्तन का स्वागत करता है और उसे स्वीकार करता है। वस्तु तो स्थिर और अपरिवर्तनीय है, बदली है केवल मानवीय मनोवृत्ति। अशोक वृक्ष तो आज भी खिल रहा है जैसे दो हजार साल पहले खिलता था। वह न बदला है, न उसका कुछ बिगड़ा है। हम अपनी पुरानी सोच से उसे देखने के कारण उदास होते है। अशोक तो आज भी मस्ती में है। उसका आनन्द आज भी हम अपने समय, संस्कृति और आवश्यकतानुसार ले सकते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जीवन को शानदार ढंग से चित्रित करते हैं। उनकी वैयक्तिक दृष्टि कभी भाव, कभी उपदेश, कभी जीवनादर्श के रूप में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अशोक 'द्वन्द्वातीत' है, 'अलमस्त' है। वह

अनादिकाल से है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की अपनी दृष्टि, अपनी चेतना और अपना दर्शन भारतीय चिन्तन की पूँजी के रूप में 'अशोक के फूल' के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। समय के साथ अपने अनुसार हम हर वस्तु से आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। यह कहना भी हजारीप्रसाद द्विवेदी के सोच का ही प्रमाण है जो इस निबन्ध में ही नहीं उनके द्वारा रचित अन्यान्य साहित्य विधाओं में भी अभिव्यक्त हुआ है। ललित निबन्ध में सहजता, सरसता और प्रवाह का होना भी आवश्यक है। 'अशोक के फूल' में ये सभी गुण विद्यमान हैं।

### 1.3.5. 'अशोक के फूल' की भाषा-शैली

'अशोक के फूल' की भाषा विचारों एवं भावों के अनुरूप प्रवाहमयी सहज भाषा है। वाक्य-रचना विषय के अनुकूल है। कहीं छोटे और कहीं बड़े वाक्यों की रचना की गई है। प्रश्न और जिज्ञासा भारतीय चिन्तन का प्रथम तत्त्व है। द्विवेदीजी ने भी प्रश्न, जिज्ञासा और उसका उत्तर निबन्ध में प्रस्तुत किया है। यथा – "अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता कौन है ?", "जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ?" हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाषा कहीं व्याख्यानपरक और कहीं व्याख्यात्मक हो गई है। इस प्रकार की भाषा में विवरण-प्रधानता आ जाती है। यह विवरण कहीं विषयानुसार चित्रात्मक भाषा तो कहीं शास्त्रों की सूक्ष्म जानकारियों का संग्रह बनकर सपाट रूप से उपस्थित होता है। यथा – "किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-सम्भार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं।"

अशोक वृक्षों की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए द्विवेदीजी संस्कृत, हिन्दी और पुराण-विद्वानों के उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं। इसके द्वारा विषय की प्रामाणिकता की पुष्टि तो होती ही है पर साथ ही भाषा भी समर्थ तथा बहुआयामी बन जाती है।

जब द्विवेदीजी विषय को आत्मीय दृष्टि प्रदान करते हैं तब भाषा में प्रवाह लालित्य तथा काव्यात्मकता का सन्निवेश हो जाता है। यथा – "अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोए जा रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है।" कालिदास के उल्लेख से भाषा के माध्यम से कितने ही बिम्ब बना जाते हैं। यह सर्जनात्मक भाषा का ऐसा रूप है जिसमें लेखन की बुद्धि भी रमी हुई है। द्विवेदीजी की भाषा में भावात्मकता और आत्मीयता का अद्वितीय मेल है। यथा – "अशोक (वृक्ष) आज भी उसी मौज में है।", "अशोक का फूल तो उसी मस्ती में हँस रहा है।", "पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है।"

एक वातावरण की सृष्टि भी भाषा ने की है। लक्षणा और व्यंजना ने भाषा को गरिमा और शक्ति प्रदान की है। द्विवेदीजी की भाषा में विद्वत्ता होते हुए भी पाण्डित्य-प्रदर्शन का भाव नहीं है। इसमें आख्यान भी है और व्याख्यान भी। यह एक चिन्तक के हृदय की भाषा है। ललित निबन्ध की बहुआयामी सर्जनात्मक भाषा का एक आदर्श रूप उन्होंने हिन्दी जगत् में प्रतिष्ठित किया है। 'अशोक के फूल' निबन्ध में विषय के अनुरूप

विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक और गवेषणात्मक शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं। प्रस्तुत निबन्ध में विचारों की शृंखला और भावाभिव्यंजना दोनों का समावेश है।

## 1.3.6. पाठ-सार

'अशोक के फूल' एक ललित निबन्ध है। ललित निबन्ध यानी ऐसा निबन्ध जिसमें भाव और विचार के सामंजस्य तथा भाषा-शैली के लालित्य के द्वारा लेखक अपनी बात आत्मीय ढंग से कहता है। 'अशोक के फूल' निबन्ध में द्विवेदीजी इसी ढंग से अपनी बात कहते हैं।

'अशोक के फूल' के बहाने द्विवेदीजी मानव-प्रकृति और मानव-धर्म के ऐसे पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका मानव-सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में केन्द्रीय महत्त्व है। द्विवेदीजी मानवतावादी लेखक हैं। वे जीवन में संघर्ष और प्रेम दोनों को समान महत्त्व देते हैं। 'अशोक के फूल' के माध्यम से द्विवेदीजी ने व्यक्त किया है कि समय आगे बढ़ जाता है, इतिहास पीछे छूट जाता है। वस्तु वही होती है, दृष्टि बदल जाती है। यही संसार का नियम है। सौन्दर्य-बोध मनुष्य की मनोवृत्ति में निहित है। वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है, 'स्थिर'। द्विवेदीजी इतिहास, पुराण, प्रकृति और साहित्य के मर्मज्ञ हैं। ये सारे तथ्य प्रस्तुत निबन्ध में समाविष्ट हैं। बात तो अशोक के फूल की है किन्तु उसके माध्यम से सौन्दर्यशास्त्र, कला-शिल्प, राजनैतिक परिवेश और उसका प्रभाव, आर्य-अनार्य सभ्यता-संस्कृति और उसका विकास आदि बहुआयामी ज्ञान-विज्ञान एवं कला की चर्चा द्विवेदीजी सहजता से करते चलते हैं। यह उनके जैसे कुशल रचनाकार के द्वारा ही सम्भव है।

भाषा की दृष्टि से भी निबन्ध का प्रभाव अप्रतिम है। उनकी भाषा में न तो वैचारिक बोझिलता है, न भावात्मक ऊहापोह। वे ज्ञान को संवेदनात्मक रूप में और संवेदना को ज्ञानात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदीजी के निबन्ध में उनके पाण्डित्य का भी प्रमाण मिलता है किन्तु यह आतंकित या बोझिल नहीं करता बल्कि चमत्कृत करते हुए हमारे ज्ञान को समृद्ध करता है।

## 1.3.7. बोध प्रश्न

1. ललित निबन्ध की दृष्टि से 'अशोक के फूल' की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. 'अशोक के फूल' के माध्यम से लेखक क्या कहना चाहता है? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. 'अशोक के फूल' पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/

❖❖❖

## खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

## इकाई – 4 : भाषा बहता नीर – कुबेरनाथ राय

**इकाई की रूपरेखा**

1.4.0. उद्देश्य कथन
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. कुबेरनाथ राय का लेखकीय व्यक्तित्व
1.4.3. 'भाषा बहता नीर' की अन्तर्वस्तु
1.4.4. 'भाषा बहता नीर' के विचारणीय बिन्दु
1.4.5. ललित निबन्ध के रूप में 'भाषा बहता नीर'
1.4.6. 'भाषा बहता नीर' की भाषा-शैली
1.4.7. पाठ-सार
1.4.8. बोध प्रश्न

### 1.4.0. उद्देश्य कथन

गद्य विधाओं का प्रारम्भ हिन्दी में आधुनिक काल से हुआ। निबन्ध गद्य साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधा है। निबन्ध एक विचारप्रधान विधा होती है। इसमें चिन्तन पक्ष की प्रधानता होती है। इस इकाई में आप कुबेरनाथ राय के निबन्ध 'भाषा बहता नीर' का अध्ययन करेंगे। सन्त कबीरदास का कथन है – "संसकीरत है कूप जल, भाखा बहता नीर।" उनके इस कथन का गूढ़ार्थ क्या है, इसे आप समझ सकेंगे। भाषा बहते नीर के समान है। तात्पर्य यह कि भाषा या भाषा का कोई बँधा-बँधाया सुपरिभाषित तथा अनन्य अथवा एकान्तिक रूप नहीं है। इसका स्वरूप लगातार बहते पानी की तरह बदलता रहता है। एक ही समय में अलग-अलग क्षेत्रों में इस भाषा के स्वरूप में कुछ न कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इस तथ्य की पड़ताल, प्रासंगिकता और पुरोवाक् के रूप में उसकी आधुनिक सार्थकता पर आप इस पाठ में विचार कर सकेंगे।

### 1.4.1. प्रस्तावना

कुबेरनाथ राय हिन्दी ललित निबन्ध परम्परा के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर, सांस्कृतिक निबन्धकार और भारतीय आर्य चिन्तन के सशक्त स्तम्भ हैं। उनकी गणना हजारीप्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र जैसे ख्यातिलब्ध निबन्धकारों के साथ की जाती है।

'भाषा बहता नीर' में लेखक कुबेरनाथ राय ने यह बताने का प्रयास किया है कि संस्कृत की भूमिका भारतीय भाषाओं और साहित्य के सन्दर्भ में 'कूपजल' से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वस्तुतः यह वाक्यांश कबीर ने पुरोहित-तन्त्र के खिलाफ आवाज उठाने के लिए प्रयोग किया है। संस्कृत भाषा तो उसकी एक प्रतीक मात्र थी।

उसके आगे कबीर की भाषा-सम्बन्धी 'बहता नीर' वाली 'थीसिस' को स्वीकारते हुए भी समूचे कथन के सन्दर्भ में लेखक ने अपना समाज-सांस्कृतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है।

### 1.4.2. कुबेरनाथ राय का लेखकीय व्यक्तित्व

कुबेरनाथ राय का जन्म 26 मार्च 1933 ई. को उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जिले के मतसाँ ग्राम में हुआ। उनके पिताजी का नाम बैकुण्ठनारायण राय तथा माता का नाम लक्ष्मी राय था। उन्होंने क्विंस कॉलेज वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। उनकी पत्नी का नाम महारानी देवी था। अपने सेवाकाल के आरम्भ में उन्होंने विक्रम विश्वविद्यालय, कोलकाता में अध्यापन किया। उसके बाद वे नलबारी, असम में अंग्रेजी के प्राध्यापक और सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर, उत्तरप्रदेश में प्राचार्य रहे। इनका निधन 5 जून 1996 ई. को उनके पैतृक गाँव मतसाँ में हुआ।

कुबेरनाथ राय उत्कृष्ट लेखक, निबन्धकार, भारतीय चिन्तक, विद्वान्, संस्कृति पुरुष तथा ललित निबन्धकार थे। इनके कई निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए – प्रिया नीलकण्ठी (1969) (भारतीय ज्ञानपीठ), रस आखेटक (1971), गन्धमादन (1972), निषाद बाँसुरी (1973), विषाद योग (1974), पर्ण मुकुट (1978), महाकवि की तर्जनी (1979), पत्र मणिपुतुल के नाम (1980), मन पवन की नौका (1983), किरात नदी में चन्द्रमधु (1983), दृष्टि अभिसार (1984), त्रेता का बृहत्साम (1986), कामधेनु (1990), मराल (1993), रामायण महातीर्थम् (2002), उत्तर कुरु (1993), चिन्मय भारत (1996), अन्धकार में अग्निशिखा (2000) आदि। 'कथामणि' काव्यसंग्रह 1998 में प्रकाशित हुआ।

कुबेरनाथ राय को कई पुरस्कार प्रदान किए गए जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार 1992, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्मान 1971, अभयानन्द पुरस्कार 1982, महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार 1987 तथा उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान 1995 प्रमुख हैं।

कुबेरनाथ राय पर केन्द्रित कई शोध कार्य महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर तथा पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला में सम्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त कुबेरनाथ राय पर केन्द्रित कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं।

### 1.4.3. 'भाषा बहता नीर' की अन्तर्वस्तु

कुबेरनाथ राय का 'भाषा बहता नीर' शीर्षक निबन्ध उनके निबन्ध संग्रह 'दृष्टि अभिसार' में संकलित है। यह संग्रह नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से 1984 में प्रकाशित हुआ। यह निबन्ध कबीर के कथन 'संसकिरत है कूप जल, भाखा बहता नीर' पर आधारित है। प्रायः कवियों के कथन लोकोक्ति बन जाते हैं। 'रामचरितमानस' की अनेक पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में प्रचलित और प्रयुक्त होती हैं। प्रायः कवि अपने स्वान्तःसुख के लिए काव्य-सृजन करते हैं जिसमें उनका आत्मानुभव अभिव्यक्त होता है। तुलसीदास ने प्रारम्भ में

ही लिख दिया कि "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध यति मंजुलमातनोति।" लेकिन यदि कवि का स्वान्तःसुख व्यापक मानवीय समाज को प्रभावित करते हुए लोक-सुख का विषय बन जाए तो उसकी काव्योक्ति लोकोक्ति बन जाती है। कबीर ने तो अपने बारे में पहले ही लिख दिया कि "मसि कागद छूऔं नहीं, कलम गहौं नहि हाथ।" फिर भी उनकी अभिव्यक्ति जनमानस की लोकोक्ति बन जाए तो यह कवि की गहन चिन्तनशीलता तथा समाज-सांस्कृतिक व्यापकता का ही प्रमाण है। हिन्दी के ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय ने कबीर की इस उक्ति का गूढ़ार्थ अपनी आर्ष चिन्तन शैली में व्यक्त किया है।

कबीर जैसे क्रान्तिकारी तथा समाज-सुधारक कवि के कथन में कोई संशय तो हो ही नहीं सकता। जब कबीर ने कहा है, 'संस्कृत कूप जल है, भाखा बहता नीर' तो उसका कुछ गूढ़ार्थ अवश्य है। संस्कृत मात्र कूप जल के समान तो नहीं है। भारतीय भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में संस्कृत की भूमिका अत्यधिक विस्तृत है। अतः स्वयं कबीर ने 'मसि' और 'कागद' छुआ हो या न छुआ हो, लेकिन यह तो वे भी जानते थे कि संस्कृत की क्या अहमियत भारतीय भाषा, समाज और संस्कृति के सन्दर्भ में है। अतः कबीर का अभिप्राय भाषा और साहित्य से सम्बन्धित नहीं रहा होगा। वास्तव में उस समय पुरोहित-तन्त्र बहुत फैला था। उनकी भाषा संस्कृत थी। अतः 'संस्कृत भाषा कूप जल' कहने के पीछे पुरोहित-तन्त्र पर प्रहार करना कबीर का उद्देश्य रहा होगा, संस्कृत की अवमानना नहीं। संस्कृत भाषा तो पुरोहित-तन्त्र का प्रतीक मात्र थी। वैसे 'कूप' अर्थात् कुँआ से दो अर्थ जुड़े हुए हैं। एक तो 'कूप मण्डूक' होना, दूसरा कुँए के समान गहरा होना। कबीर पुरोहित तन्त्र को भले ही 'कूप मण्डूक' कहते या समझते हों किन्तु संस्कृत भाषा को तो वे कुँए के समान गहन-गम्भीर ही मानते होंगे क्योंकि कुँए की गहराई पाताल से जुड़ी होती है।

कबीर के कथन के दूसरे अंश 'भाखा बहता नीर' से संयुक्त होने के कारण पूरे कथन का स्पष्टीकरण भी कुबेरनाथ राय ने अपने निबन्ध में किया है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत की बर्फ पिघल कर बहते जल वाली नदी में जीवन का संचार करती है और अमृत जल के समान गाँव-गाँव, नगर-नगर की प्यास बुझाती हुई सागर-संगम तक पहुँचती है उसी प्रकार संस्कृत भाषा 'कूप जल' नहीं बल्कि भाषा तथा संस्कार दोनों ही दृष्टि से संस्कृत हमारे जीवन एवं भाषा बोली में, बहते नीर के समान सदैव प्रवहमान है। जब उत्तर दिशा में बर्फ पड़ती है तो वही राशिभूत होकर हिमवाह का रूप धारण करती है। जब हिमवाह पिघलता है तो नदी में जीवन की गति संचरित होती है। हिमालय तथा हिमवाह हमारी दृष्टि से परे है किन्तु हिमालय का पिछला हुआ हृदय रूपी हिमवाह ही हमारी प्यास बुझाने का मुख्य स्रोत है। यदि हिमवाह अवरुद्ध हो जाए तो नदी का जीवन ही समाप्त हो जाए।

एक समय था जब सरस्वती हरियाणा के अंचल से बहती हुई सिन्ध में जाकर सतलज में मिलती थी। कालान्तर में उसका पोषण करने वाले ग्लेशियरों का मुख भिन्न दिशा में हो गया। वे सरस्वती से विमुख होकर यमुना में ढल गए, आज भी यमुना की ओर ही वे जल प्रवाहित कर रहे हैं। परिणामस्वरूप यमुना गहन जल से लबालब हो गई, सरस्वती विलुप्त हो गई। आज की यमुना में ही सरस्वती का जल प्रवाहित है। सामान्य जन इतना सब कुछ जानने-समझने में असमर्थ है। अतः धार्मिक दृष्टि से त्रिवेणी संगम पर एक कल्पित अन्तःसलिला का प्रतीक सरस्वती कूप बना दिया गया। 'यमुना-जल' के गोत्रनाम से ही हमें अब भी सरस्वती का जल प्राप्त हो रहा

है। हिमवाह के अतिरिक्त नदी के बहते जल का स्रोत एक और है जिसे हम आकाशचारी मेघ के रूप में जानते हैं किन्तु ये मेघ बरसाती नदियों के लिए ही लाभदायक हैं। बड़ी नदियों का स्रोत तो हिमवाह ही है। संस्कृत भाषा हमारे जीवन को बहुविध प्रवहमान बनाने के लिए आकाशचारी मेघ तथा हिमवाह दोनों रूपों में कार्य करती है। हिन्दुस्तानी धरातल पर यह मेघ के समान है जो चारों ओर मीठी जलधारा की वर्षा कर परस्पर समरसता, समन्वय एवं सामंजस्य से सम्पूर्ण हिन्दुस्तानी समाज को सींचता रहता है। हिन्दुस्तानी जनजीवन की बहुलताओं के रूप में बहने वाली अनेक जल-धाराओं की मिठास निरन्तर सर्वत्र सुलभ है। संस्कृत भाषा एक प्राणवान् स्रोत है। भारतीय भाषा, समाज, संस्कृति, आचार-विचार प्रत्येक दृष्टि से संस्कृत अस्तित्वमान है। यूनान, मिश्र, रोम आदि की संस्कृतियाँ इतिहास का विषय बन चुकी हैं किन्तु भारत या हिन्दुस्तान का अस्तित्व अबाध गति से निरन्तर वर्तमान है।

कबीर के कथन को सकारात्मक ढंग से ग्रहण करना अधिक समीचीन है। लेखन में बोलचाल की भाषा का प्रयोग अधिक व्यावहारिक, लोकप्रिय तथा भाषा की प्रगतिशीलता का परिचायक है। किन्तु उचित सन्दर्भ में ही यह बात सही हो सकती है। जब हिन्दी की जड़ पर ही कुठाराघात करने के लिए बोलचाल की भाषा प्रयोग की जाए तो यह स्वीकार्य नहीं है। सन्दर्भ बदल जाने से अर्थ भी बदल जाता है। उसी प्रकार किसी बात का प्रभाव भी सन्दर्भ से अलग-अलग हो जाता है।

'भाखा बहता नीर' का उपयोग कुछ नये लोग कूट तर्क के लिए करते हैं तो यही बात एक दुराग्रह के रूप में बदल जाती है। पुरोहित-तन्त्र पर प्रहार करने के लिए कबीर ने 'संस्कृत भाषा कूप जल' कहकर अपनी खीझ निकाली है जबकि 'भाखा बहता नीर' उक्ति उनकी सूझ को दर्शाती है। वास्तव में भाषा खुले मैदान की ताजी हवा की तरह है। प्रातःकालीन पक्षियों का कलरव, पशुओं का रंभाना, बच्चे की तोतली बोली, माँ का वात्सल्य, प्रसन्नता, शोक आदि सभी कुछ भाषा के सरल, सरस, निरन्तर प्रवाह का ही प्रतिफल है। भाषा के अन्तर्गत गरजते बादलों से लेकर शब्दहीन मौन तक सभी कुछ समाहित है। किसी दार्शनिक ने कहा है, "बातचीत करने की महान् कला खामोशी है।" इसी भाषा को वीणावादिनी माँ सरस्वती का वरदान मानकर वेदित किया गया है।

कबीर ने आदिभूत 'जल' के बिम्ब का आश्रय लेकर कहा है, 'भाखा बहता नीर।' यह सर्वथा युक्तिपूर्ण बात है। यह एक सार्वभौम सत्य है किन्तु सत्य को समझने के लिए व्यावसायिक स्तर के बाह्य व्यापार से बाहर निकलकर साहित्य सर्जना के स्तर पर आन्तरिक व्यापार को ग्रहण करना होगा। कुबेरनाथ राय ने अपने लेख में कबीर की उक्ति को 'सत ही अर्थ' में ग्रहण न करके 'सर्वांग अर्थ' में ही स्वीकृत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके (राय के) लेखन में बाजारू हिन्दी, भोजपुरी, शब्द, मुहावरे, पूर्वी उत्तरप्रदेश की गंगातीरी काशी का क्षेत्र की लोकसंस्कृति के विषयान्तर्गत आने वाली शब्दावली आदि तथा कबूतरबाजी से लेकर गाँव-देहात के अनेक मुहावरे आ गए हैं लेकिन यही 'भाखा बहता नीर' की शब्द-सम्पदा है। जो शब्द जन-समाज के कण्ठ से निकला है, वह कभी भी, कहीं भी 'अपवित्र' नहीं।

'भाखा बहता नीर' एक गम्भीर कथन है। यह बहता नीर आज का नहीं है। इसमें किसी भी युग, किसी भी क्षेत्र का शब्द अन्तर्भुक्त हो सकता है। शर्त केवल यह है कि देश, काल, पात्र, परिस्थिति, समय और सन्दर्भ के अनुकूल उस शब्द के प्रयोग की माँग हो। वह शब्द प्रयुक्त परिवेश में सहज और सुसंगत लगे। ऐसा नहीं लगना चाहिए कि देवता के प्रसाद की पवित्र थाली में 'आमलेट' रखा है। भाषा का आदर्श उसकी सहजता तथा बोधगम्यता है। बिना आवश्यकता भाषा को दुरूह बनाना उचित नहीं। प्रायः पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा विषयगत आवश्यकता के कारण भी भाषा दुरूह हो जाती है। कभी विषय की व्याख्या या विवेचन करते समय भी शब्दगत-चयन का विशेष महत्त्व होता है। इसलिए भी भाषा का कलेवर कठिन या सरल होता रहता है। विचारप्रधान निबन्ध लेखन के द्वारा पाठक के मानसिक-बौद्धिक पक्ष का उन्नपन भी होता है। पाठक साहित्यकार की अभिव्यक्ति क्षमता के सहारे विषय की गहराई में प्रवेश करता है। आज जनवादी युग का नारा देकर भाषा के विचलन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुबेरनाथ राय ने हिन्दी के उन्नयन, विकास एवं विविध ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी बनने के लिए उसकी भाषिक समृद्धि को आवश्यक माना है। उसे अंग्रेजी का स्थान लेना है। अतः 'बहता नीर' का एक चालू अर्थ न लेकर उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना होगा। हिन्दी का दायित्व बृहत्तर है। 'भाखा बहता नीर' हिमवाहों के समान शाश्वत, सशक्त और अविरल ज्ञान-गंगा का वरदान है। 'भाखा बहता नीर' एक सनातन परम्परा है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य का अवश्यम्भावी सृजन-सोपान है। जिस प्रकार अनेक नदियों की अनेक धाराओं, उपधाराओं और सहायक नदियों को हम प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार हिन्दी को, उसकी आंचलिक बोलियों को, भोजपुरी, मगही, अवधी, छत्तीसगढ़ी, ब्रजभाषा, आदि-आदि को इस 'भाखा बहता नीर' का ही अंग मानते हुए उन्हें आत्मसात करते हैं। पीका, सीका, बेहन, गाछ, पुली, गुदारा, भा भिनुसार, अदहन, पगहा जैसे भोजपुरी शब्द खड़ीबोली की शब्द-सम्पदा की श्रीवृद्धि करते हुए अभिव्यक्ति की पूर्णता भी प्रदान करते हैं। लेखक ने न केवल आंचलिक बोलियों बल्कि आस-पास की भाषाओं यथा, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, असमिया, बांग्ला आदि से भी शब्द एवं मुहावरे लेना 'भाखा बहता नीर' का ही अभिन्न अंग माना है।

संस्कृत भाषा की जीवन्तता का प्रमुख कारण यही है कि उसने चारों दिशाओं से शब्द-सम्पदा को आत्मसात किया है। इसीलिए संस्कृत की अभिव्यक्ति-क्षमता असीम है। संस्कृत में एक शब्द के अनेक पर्याय हैं। ये पर्याय किसी न किसी आंचलिक भाषा से जुड़े हैं। 'भाखा बहता नीर' का एक सुखद आश्चर्य तब अनुभव होता है जब किसी शब्द को हम हिन्दी में उच्च मानते हैं या संस्कृतगर्भित मानते हैं लेकिन अपने देश के ही किसी स्थान पर वह 'उच्च' सामान्य बोलचाल के शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है। यथा – कदली (केला) नीर (जल) आदि दक्षिण भारत में सामान्य बोली का शब्द है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत के पर्यायवाची शब्द कहीं न कहीं की जनभाषा से ही जुड़े हैं। संस्कृत की यह परम्परा उसकी उत्तराधिकारिणी भाषा हिन्दी में भी चलनी चाहिए। प्रयुक्त होते-होते एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात् वे शब्द जनभाषा में रच-बस जाएँगे और हिन्दी का अखिल भारतीय स्वरूप निखरेगा। हिन्दी के विकास के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के साथ 'भाखा बहता नीर' की 'भूमावृत्ति' को भी लेखकीय दायित्व में समाविष्ट करना श्रेयस्कर है। वास्तव में भाषा की सरलता तथा समृद्धि दोनों आवश्यक है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'भाषा बहता नीर' निबन्ध में लेखक कुबेरनाथ राय ने भाषा की संवेदनशीलता के साथ हिन्दी की अखिल भारतीयता के मार्ग में आने वाली चुनौतियों को रेखांकित करते हुए उसके विकास का मार्ग प्रशस्त किया है।

## 1.4.4. 'भाषा बहता नीर' के विचारणीय बिन्दु

औपनिवेशिक दौर में निर्मित भाषायी मानचित्र का मुख्य आधार यह था कि आर्य भारत के बाहर से आये इसलिए भारत में मुख्यतः दो भाषा परिवार बने – (i) आर्यभाषा परिवार और (ii) द्रविड़भाषा परिवार। आर्यों की दो शाखाओं की परिकल्पना की गई जिनमें एक यूरोप की ओर चली गई और दूसरी भारत की ओर आ गई। यह अनुमान किया गया कि दो शाखाओं में विभाजित होने के पहले ये एक ही तरह की भाषा का प्रयोग करते रहे होंगे। इसलिए उत्तरभारत की आर्यभाषाओं तथा यूरोप की भाषाओं में खोजने पर कुछ न कुछ सामान्य तत्त्व मिल जाएँगे। यद्यपि 'इंडो यूरोपियन' भाषा-परिवार के प्रणेता विलियम जोन्स ने माना कि भाषा के उस आदिरूप को खोज पाना मुश्किल है जिससे इस परिवार की भाषाओं की उत्पत्ति हुई किन्तु उत्पत्ति के किसी आदिस्रोत की कल्पना के सहारे उसके मूल रूप के समीप हम पहुँच सकते हैं। इस हेतु हमें सम्बद्ध भाषाओं के बाहरी प्रभावों से अलग हटकर, धातु तथा व्याकरणिक संरचना के आधार पर, उस भाषा के मूल रूप की खोज करनी होगी। इस प्रकार भाषा की एक अपने में पूर्ण संरचना की कल्पना की गई। उसके विकास के विभिन्न चरणों को ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधार पर रेखांकित किया गया।

विलियम जोन्स की परिकल्पना के अनुसार ग्रीक, लैटिन, ग्रीक, फारसी और संस्कृत एक भाषा-परिवार की भाषाएँ हैं। इस समूह की मूल भाषा सम्भवतः संस्कृत थी। वास्तव में 'इंडो-यूरोपियन' भाषा परिवार की परिकल्पना को स्वीकार कर लेने पर, भारत की कथित आर्य भाषाओं तथा यूरोप की भाषाओं के बीच तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सामान्य तत्त्वों को सामने लाने का प्रयास तो बहुत हुआ किन्तु भारतीय भाषाओं के मध्य समानता एवं निरन्तरता के तत्त्वों को देखने तथा उनके निहितार्थों को समझने की कोशिश लम्बे समय तक बहुत कम हुई।

भाषा परिवार की इस सैद्धान्तिकी ने भारत के इतिहास को दो प्रजातियों के इतिहास के रूप में देखने की बुनियाद रख दी। ये प्रजातियाँ थीं, गोरे और संस्कृत बोलने वाले आक्रान्ता आर्य तथा द्रविड़ भाषा बोलने वाले काले बर्बर मूल निवासी। यह दृष्टिकोण लम्बे समय तक भारतीय सभ्यता के इतिहास के महाख्यान के रूप में कायम रहा किन्तु अब यह सिद्धान्त अमान्य सिद्ध हो चुका है या विवादास्पद बना हुआ है। 'भाषा बहता नीर' के सन्दर्भ में भाषा के ऐतिहासिक पक्ष पर विचारणीय यह प्रथम बिन्दु है। जो दो नस्लों – आर्य-द्रविड़ के सिद्धान्त पर आधारित है।

दूसरा विचारणीय बिन्दु भाषा और बोली विषयक है। पश्चिमी भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियाँ स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। वास्तव में भारत की अधिकतर भाषाओं के निर्माण की आधारभूत सैद्धान्तिकी

औपनिवेशिक अध्येताओं ने तैयार की थी और इसे ही थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके क्षेत्रीय बुद्धिजीवियों ने अंजाम तक पहुँचाया । अनेक क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषाओं की स्वतन्त्र अस्मिता-निर्माण-प्रक्रिया एक सचेत राजनैतिक आन्दोलन का हिस्सा बनी और जहाँ स्थानीय भाषा / बोली को एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्थापित करने का आन्दोलन नहीं खड़ा हो पाया वहाँ विभाजन के दूसरे तरीके निकाले गए । ये तरीके राजनीति से प्रेरित अधिक थे। अतः हिन्दी क्षेत्र की बोलियों को स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्थापित करने का कोई आन्दोलन खड़ा नहीं हो पाया। पहले ब्रजभाषा को और फिर खड़ी बोली पर आधारित हिन्दी-उर्दू को हिन्दी क्षेत्र के उन अंचलों के लोगों ने भी सहज स्वीकार कर लिया जहाँ वह 'बोली' बोली ही नहीं जाती थी । इसलिए हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू का विवाद खड़ा किया गया । भाषा के क्षेत्रीय रूपों के अन्तःसम्बन्ध को समझने का एक वैकल्पिक आधार शब्द-सम्पदा की समानता भी हो सकती है । हिन्दी क्षेत्र में ब्रजभाषा या हिन्दी-उर्दू को दूसरे अंचलों में इसलिए बिना किसी दबाव के स्वीकार कर लिया गया क्योंकि इस क्षेत्र के स्थानीय भाषा रूपों में शब्द-सम्पदा की दृष्टि से समानता बहुत अधिक परिलक्षित होती है। भारत में भाषाओं / बोलियों का वर्गीकरण, नामकरण और उनकी स्पष्ट सीमाएँ निर्धारित करना कभी भी आसान नहीं था । लेकिन पश्चिम से आई आधुनिकता की सैद्धान्तिकी विभेदीकरण की नीति पर ही आधारित थी । कारण यह कि अंग्रेज अध्येताओं के लिए मानचित्र का निर्माण और भाषायी वर्गीकरण सुशासन के लिए निहायत ज़रूरी थे।

'भाषा बहता नीर' का तीसरा विचारणीय बिन्दु भाषा की परिवर्तनशीलता का है । काल की ही तरह देश-भेद से भी भाषा बदलती रहती है । यह बदलाव की प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है । यदि आप प्रयाग से पश्चिम की ओर चलें, पैदल यात्रा करें, चार-पाँच मील नित्य आगे बढ़ें तो चलते-चलते आप पेशावर या काबुल तक पहुँच जाएँगे किन्तु यह समझ में नहीं आएगा कि हिन्दी कब, कहाँ किस गाँव में छूट गई, पंजाबी कहाँ से प्रारम्भ हो गई और पश्तो ने पंजाबी को कहाँ रोक दिया, ऐसा प्रतीत होगा कि प्रयाग से काबुल तक एक ही भाषा है। किन्तु यही यात्रा यदि वायुयान से की जाए तो प्रयाग से सीधे पेशावर या काबुल पहुँचने पर भाषा-भेद से चकरा जायेंगे । इसी प्रकार पूर्व की ओर पैदल यात्रा करने पर हिन्दी की विभिन्न बोलियों में मैथिली-उड़िया-बांग्ला आदि में अन्तर विशेष नहीं दिखेगा । दक्षिण की ओर मद्रास तक पहुँच जाएँ तो भी भाषा-सम्बन्धी कोई अड़चन नहीं आएगी। लेकिन वायुयान से जाएँ तो अचानक ऐसा अन्तर आ जाएगा कि कुछ समझ ही नहीं आएगा। वास्तव में भारत में भाषाएँ परस्पर इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि उन्हें जबरदस्ती करके ही एक दूसरे से अलगाया जा सकता है । भाषा के स्थानीय रूप में परिवर्तन इतना धीरे-धीरे और क्रमशः होता है कि पता ही नहीं चलता कि कब और कहाँ भाषा का एक रूप समाप्त हुआ और दूसरे रूप का प्रारम्भ हुआ। भारत में देशी भाषाओं का चरित्र और उनका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा है कि भाषा और बोली के युग्म में उसे समझा ही नहीं जा सकता । उल्लेखनीय है कि भाषा / बोली का एक स्थानीय रूप भी अपने समूचे क्षेत्र में एक जैसा नहीं दिखाई पड़ता । इसी कारण राहुल सांकृत्यायन भोजपुरी को प्रयोग-भेद के आधार पर तीन-चार खण्डों में बाँटते हैं । हिन्दी क्षेत्र में अनेक ऐसे स्थलों को चिह्नित किया जा सकता है जहाँ बहते हुए पानी की तरह भाषा के कई स्थानीय रूप एक दूसरे से परस्पर मिलते हुए और क्रमशः परिवर्तित होते हुए दिखाई पड़ेंगे।

'भाषा बहता नीर' का चौथा और अन्तिम विचारणीय बिन्दु हिन्दी क्षेत्र के नामकरण का है। 'भाषा' के स्थानीय रूपों के नामकरण और उनकी सीमाएँ चिह्नित करने का कार्य भारत में उन्नीसवीं सदी में प्रारम्भ हुआ। भाषा के किसी स्थानीय रूप में भी पर्याप्त विविधता है। आज हम प्रायः भाषा के मानवीकृत रूप के आधार पर ही उनके सम्बन्धों को समझने के आदी हो गए हैं, जबकि आरम्भिक आधुनिक भारत में भाषाओं का अन्तःसम्बन्ध परस्पर सम्बद्धता का रहा है। इसीलिए हमारे यहाँ लम्बे समय तक, यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी में भी, हिन्दी क्षेत्र के सभी स्थानीय रूपों को भाषा कहा जाता रहा। 19वीं सदी में शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है – "इस ग्रन्थ में एक हजार भाषा कवि लोगों के नाम और जीवन चरित्र सन्-संवत् कविता समेत लिखे गए हैं।" धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि "प्रथम आवश्यकता अपने देश अथवा वर्तमान संयुक्त प्रान्त को उचित नाम देने की है। भारतवर्ष में केवल यह एक हिन्दी भाषा-भाषी जन-समुदाय है कि न तो जिसके देश का ही कोई नाम है और न जहाँ के देशवासियों को ही किसी एक नाम से पुकारा जा सकता है।" (1930-76) इस हिन्दी क्षेत्र को हिन्दी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान के नाम से पुकारे जाने की सिफ़ारिश धीरेन्द्र वर्मा ने की थी किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि बंगाल, पंजाब आदि की तरह हिन्दी क्षेत्र का नाम नहीं बन पाया। इसके कारण को समझने के लिए हिन्दी क्षेत्र के भाषायी स्वरूप को समझना आवश्यक है। एक भाषा के आधार पर बने पश्चिमी राष्ट्रों के मॉडल पर हिन्दी क्षेत्र और अन्ततः सम्पूर्ण भारत के नामकरण से हिन्दी क्षेत्र अथवा भारत के भाषायी वैशिष्ट्य का बोध नहीं हो सकता।

विडम्बना यह है कि अधिकतर भाषावैज्ञानिकों तथा समाज एवं साहित्य के अध्येताओं ने पश्चिमी मॉडल पर ही भारत के भाषायी वैशिष्ट्य को समझने की चेष्टा की है। वास्तव में भारत और विशेष रूप से भाषा क्षेत्र (जिसे सामान्यतः हिन्दी क्षेत्र कहते हैं) के विविध भाषायी स्वरूप, संस्कृत और फारसी जैसी शास्त्रीय भाषाओं से बहुत कुछ आत्मसात कर अपना 'विकास' करते हैं। साथ ही भाषायी स्वरूप के निहितार्थों को विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों की संरचना तथा उनके अन्तःसम्बन्ध को समझने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय समाज की आन्तरिक गतिकी (Internal Dynamics) को समझने की कुंजी हिन्दी क्षेत्र के भाषायी अन्तस्सम्बन्ध में छिपी है।

भाषा क्षेत्र के स्थानीय मुहावरों, बोलियों की आत्मपूर्ण और निरपेक्ष कोटियाँ नहीं बनी क्योंकि भाषा-क्षेत्र ये क्षेत्रीय रूप शब्द-सम्पदा और व्याकरण की दृष्टि से बहुत कुछ एक जैसे हैं। जो अन्तर है, वह क्रियाओं और उच्चारण में है। इसलिए भाषा-क्षेत्र के अधिकांश कवि एक से अधिक भाषायी मुहावरे, बोली या भाषा में लिखते हैं। ऐसा करने में उन्हें कोई कठिनाई भी नहीं है। इनमें पारस्परिक सनातन सम्बन्ध चला आ रहा है। सम्भवतः इसीलिए चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में उत्तरभारत में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर ने लिख दिया – "संसकिरत है कूप जल, भाखा बहता नीर।" अर्थात् भाषा का कोई बँधा-बँधाया, सुपरिभाषित स्वरूप नहीं है। यह निरन्तर बहते पानी की तरह बहता-बदलता रहता है। एक ही समय में, अलग-अलग क्षेत्रों में इस भाषा के स्वरूप में कुछ न कुछ अन्तर परिलक्षित होता रहता है। इसीलिए इस भाषा या भाषा-क्षेत्र का अभी तक कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। अलग-अलग क्षेत्रीय मुहावरों में उपलब्ध रचनाएँ समूचे हिन्दी क्षेत्र में गायी, पढ़ी, सुनी और समझी जाती रही हैं।

उनकी सम्प्रेषणीयता कहीं भी बाधित नहीं हुई है। कबीर सहित अधिकांश सन्तों की बानियों की भाषा को हिन्दी में सधुक्कड़ी कहने का प्रचलन रहा है क्योंकि इनमें विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं के मिले-जुले रूप मिलते हैं। इसलिए इन्हें कोई एक नाम दिया ही नहीं जा सकता। यह भारतीय बहुभाषिकता के वैशिष्ट्य से सम्पृक्त हैं।

## 1.4.5. ललित निबन्ध के रूप में 'भाषा बहता नीर'

ललित निबन्ध मूलतः भावप्रधान होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें विचार-तत्त्व का अभाव होता है। इस प्रकार के निबन्धों में भावुकता का आधिक्य होने पर भी विचारों की अन्तर्धारा बराबर प्रवाहित होती रहती है। कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में विचार और भाव का समावेश बराबर-बराबर होता है। लेखक का पाण्डित्य बराबर उनके साथ रहता है। निबन्ध लेखन में स्वच्छन्दता, सरलता, आडम्बरहीनता, घनिष्ठता तथा आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण का समावेश रहता है। निबन्ध का ऐसी कलाकृति है जिसके नियमों का निर्माता स्वयं लेखक ही होता है। लेखक के द्वारा भावना और विचार का सहज समन्वय पाठक के हृदय को द्रवीभूत भी करता है। साथ ही पाठक की बुद्धि को प्रेरणा भी प्रदान करता है।

'भाषा बहता नीर' में कुबेरनाथ राय ने भाव और विचार दोनों का आश्रय लेकर ललित शैली में तथ्य और सत्य को आत्मीयता के साथ प्रस्तुत किया है। 'भाखा बहता नीर' सतत प्रवाहमान सरिता की भाँति भारत की बहुभाषिकता को आत्मसात किए हुए जन-जन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह जनभाषा या भाषा हमारा आदर्श है जिसमें सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय समाज की सम्प्रेषणीयता प्रतिबिम्बित होती है। ललित निबन्धों में कई साहित्य रूपों के गुण समाविष्ट रहते हैं। इसमें जीवन की वास्तविकता कहानी की संवेदना, नाटक की नाटकीयता, विचारों की उत्कृष्टता, सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं।

'भाषा बहता नीर' एक ललित निबन्ध है। इसका विषय जनभाषा है। इस विषय को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने उस भावभूमि पर भी प्रकाश डाला है जहाँ अनेकता में एकता प्रकट करने वाली बहुभाषिकता के समन्वय का जन्म होता है। हिमालय के हिमवाह की तरह पिघलकर गाँव, शहर कस्बे को सिंचित करती हुई सतत प्रवाहित रहने वाली भावधारा जो जनमानस की बहुविध अभिव्यक्तियों को अपने में सँजोए हुए है। यह 'भाषा' हमारी भारतीय सभ्यता, समाज और संस्कृतियों का संगम है। यही प्रयाग की त्रिवेणी है और रामेश्वरम् का गंगासागर है। कुबेरनाथ राय के निबन्धों में हृदय और बुद्धि साथ-साथ चलते हैं।

'भाषा बहता नीर' का ऐतिहासिक सम्बन्ध, उसकी प्राचीनता, उसकी व्युत्पत्ति, उसके विविध आयामों पर वैचारिक मीमांसा करने के पश्चात् कुबेरनाथ राय पुनः प्रकृति के लालित्य के मध्यभारत की बहुभाषिक उपलब्धि को प्रतिष्ठित करते हुए प्रतीत होते हैं। 'भाषा बहता नीर' के आदर्श चिन्तक के रूप में लेखक ने भाषा, भाव और बोध के लालित्य को सहजता से प्रस्तुत किया है।

ललित निबन्ध की एक विशेषता 'स्वच्छन्दता' है। स्वच्छन्दता से निबन्ध शास्त्रीय बोझ से मुक्त होता है। स्वच्छन्दता का अर्थ अनियन्त्रित होना नहीं है। यह लेखक की 'निजता' के मुक्त सन्निवेश से सम्बन्धित है। मुक्त

भाव से कुबेरनाथ राय अपने विचारों को इस निबन्ध में स्थान देते हैं। आत्मीयता और आडम्बरहीनता की दृष्टि से 'भाषा बहता नीर' में लेखक की आत्मीयता पाठक की आत्मीयता बन जाती है। पाठक लेखक और निबन्ध तीनों ही एकतान होकर रचना को अपने में समाहित करते हैं और स्वयं रचना में समाहित होते हैं। इस निबन्ध से गुजरते हुए ऐसा लगता है जैसे कुबेरनाथ राय ने निबन्ध की काया में ही प्रवेश कर लिया है। इसे ही 'परकाय प्रवेश' कहते हैं। यदि ऐसा न होता तो निबन्ध बाह्य विवरण देकर ही समाप्त हो जाता।

लेखक ने 'भाषा बहता नीर' को शानदार ढंग से चित्रित किया है। उनकी रम्य दृष्टि का आलेखन एक चमत्कार उत्पन्न करता है। लेखक की वैयक्तिक दृष्टि निबन्ध से जुड़कर कभी भाव, कभी उपदेश और कभी सामाजिक आदर्श के रूप में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। 'भाषा बहता नीर' सर्वजन समुदाय का चिरपरिचित मित्र है जो अखिल भारतीय भाषा, समाज एवं संस्कृति को एकता के सूत्र में आबद्ध करता है। ललित निबन्ध की सहजता, सरसता, प्रवाह आदि गुण 'भाषा बहता नीर' में विद्यमान हैं।

### 1.4.6. 'भाषा बहता नीर' की भाषा-शैली

प्रस्तुत निबन्ध की भाषा विचारों एवं भावों के अनुरूप सहज तथा प्रवाहमयी है। वाक्य-रचना विषय के अनुरूप है। कहीं छोटे और कहीं बड़े वाक्यों की रचना की गई है। कबीर के सन्त व्यक्तित्व एवं सधुक्कड़ी भाषा के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए ही विषयगत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह लेखकीय आदर्श को व्यक्त करता है। भाषा कहीं-कहीं व्याख्यानपरक अथवा व्याख्यात्मक भी हो जाती है। इस प्रकार की भाषा में विवरण प्रधानता आ जाती है। निबन्ध की भाषा सपाट किन्तु बुद्धिमूलक है। बुद्धि के द्वारा विषय के अर्थ को स्पष्ट करते समय निबन्ध की भाषा समर्थ एवं बहुआयामी बन जाती है। जब लेखक विषय को आत्मीय दृष्टि प्रदान करता है तब भाषा में प्रवाह, लालित्य तथा काव्यात्मकता का समावेश हो जाता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है– "हिमालय दूर है, हिमवाह नजरों से ओझल है, पर जानने वाले जानते हैं कि वह तृषातोषक अमृत वारि जो गाँव-नगर की प्यास बुझाता हुआ सागर-संगम तक जा रहा है, हिमालय का पिघला हुआ हृदय ही है।" इस भाषा में हिमवाह के उल्लेख भाषा के माध्यम से कितने ही बिम्ब बन जाते हैं। ये बिम्ब, दृश्यबिम्ब भी हैं और मानसबिम्ब भी। यह सर्जनात्मक भाषा का ऐसा रूप है जिसमें लेखक की बुद्धि भी रमी हुई है। यह अन्ततः भावात्मकता और आत्मीयता में घुल-मिल जाती है। एक अन्य उदाहरण देखिए – "संस्कृत 'कूप जल' नहीं, भाषा और संस्कार दोनों की दृष्टि से यह हमारे बोली और जीवन के प्रवहमान रूपों के लिए व्योम-मेघ या हिमवाहस्वरूप है। हिन्दुस्तानी आकाश में मेघ है, हिन्दुस्तानी हिमालय का हृदय निरन्तर गल रहा है, इसी से हिन्दुस्तानी जलधाराओं में मीठा बहता पानी निरन्तर सुलभ है। इसी तरह देखें तो कहना पड़ेगा कि संस्कृत एक प्राणवान् स्रोत के रूप में भाषा-संस्कृति-आचार-विचार हर दृष्टि से अस्तित्वमान है। इसी से यूनान, मिस्र, रोमां के मिट जाने पर भी हम नहीं मिटे हैं। हमारा अस्तित्व कायम है।" इस भाषा में लक्षणा और व्यंजना ने भाषा को गरिमा तथा शक्ति प्रदान की है। इस भाषा में विचार और संवेदना दोनों को वहन करने की शक्ति है। भाषा में प्रवाह, बिम्बात्मकता, सहजता तथा सरलता है। इसमें आख्यान भी है और व्याख्यान भी। यह भाषा पाठक के विवेक को जाग्रत् करने वाली है। भाषा का सौन्दर्य और लालित्य यहाँ गतिमान रूप में अपनी निरन्तरता बनाए हुए है। ललित निबन्ध के लिए यह

मानक भाषा है। यह एक चिन्तक के हृदय की भाषा है। इस भाषा के द्वार सभी भाषाओं के लिए खुले हुए हैं। निबन्ध की भाषा विषयानुरूप है। ललित निबन्ध की बहुआयामी सर्जनात्मक भाषा का एक आदर्श रूप उन्होंने हिन्दी जगत् में प्रतिष्ठित किया है। निबन्ध की भाषा-शैली स्वगत चिन्तनमूलक है। अपने चिन्तन में पाठक की भावभूमि को भी एकाकार कर लेते हैं। 'भाषा बहता नीर' पाठक के साथ वार्तालाप शैली भी प्रस्तुत करता है। स्वाभाविकता के साथ सत्यता की संस्कृति इस शैली की विशेषता है। 'भाषा बहता नीर' निबन्ध के विषय के अनुकूल व्याख्यात्मक एवं भावात्मक के साथ गवेषणात्मक शैली का प्रयोग लेखक ने किया है। प्रस्तुत निबन्ध में वैचारिक शृंखला तथा भावाभिव्यंजना दोनों का अभूतपूर्व सामंजस्य है।

## 1.4.7. पाठ-सार

'भाषा बहता नीर' एक ललित निबन्ध है जो भावात्मक तथा चिन्तन प्रधान शैली में लिखा गया है। भाव और विचार के सामंजस्य के साथ ललित भाषा-शैली में लेखक ने अपनी बात तार्किक एवं आत्मीय ढंग से अभिव्यक्त की है। भाषा या भाषा की प्रकृति तथा भाषा के समाज-सांस्कृतिक स्वरूप की एकात्मकता को भारतीय सन्दर्भ में अत्यन्त सारगर्भित एवं समन्वयात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है जो पाठक के मन और बुद्धि को भाषा की बहुव्यापकता एवं बहुभाषिकता के साथ पारस्परिक सम्मिश्रण में प्रयाग की त्रिवेणी के संगम से दक्षिण के सागर-संगम तक के दर्शन कराता है।

निबन्ध को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कबीर के कथन "संसकिरत है कूप जल, भाखा बहता नीर" की ही व्याख्या कर रहा है किन्तु उक्ति के दूसरे अंश 'भाखा बहता नीर' के गूढ़ार्थ को लेखक ने हिमालय और हिमवाह के प्रतीकों के माध्यम से अखिल भारतीय शब्द-सम्पदा एवं भारत की समाज-भाषिक एकता तथा परस्पर सम्बद्ध बहुभाषिक संस्कृति के रूप में अभिव्यक्त किया है।

भाषा की दृष्टि से निबन्ध का प्रभाव अप्रतिम है। लेखक ने भाषा विषयक ज्ञान को संवेदनात्मक रूप में और संवेदना को ज्ञानात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। निबन्ध में लेखक की रचनात्मक शक्ति एवं पाण्डित्य का प्रमाण मिलता है किन्तु वह पाण्डित्य पाठक को बोझिल नहीं करता बल्कि उसके ज्ञान के भण्डार को समृद्ध करता है।

## 1.4.8. बोध प्रश्न

1. ललित निबन्ध की दृष्टि से 'भाषा बहता नीर' की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. 'भाषा बहता नीर' के माध्यम से लेखक क्या कहना चाहता है ? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. 'भाषा बहता नीर' निबन्ध की भाषा-शैलीगत विशेषताएँ बताइए।

❖❖❖

## खण्ड – 1 : निबन्ध साहित्य

## इकाई – 5 : मेरे राम का मुकुट भीग रहा है – विद्यानिवास मिश्र

**इकाई की रूपरेखा**


1.5.0. उद्देश्य कथन
1.5.1. प्रस्तावना
1.5.2. निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र
  1.5.2.1. प्रमुख निबन्ध
  1.5.2.2. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में युगबोध एवं लोकधर्मिता
1.5.3. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध की अन्तर्वस्तु
  1.5.3.1. मौलिक चिन्तन
  1.5.3.2. वैयक्तिकता
  1.5.3.3. विचारों की सम्पन्नता व सुसम्बद्धता
  1.5.3.4. सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम
1.5.4. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध का शिल्पगत वैशिष्ट्य
  1.5.4.1. भाषा-विधान
  1.5.4.2. शैलीगत वैविध्य
1.5.5. पाठ-सार
1.5.6. शब्दावली
1.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.5.8. बोध प्रश्न


### 1.5.0. उद्देश्य कथन

वैचारिक खुलापन आने से आधुनिक हिन्दी निबन्धों में युगीन समस्याओं, जटिलताओं और चुनौतियों पर तार्किक बहस केन्द्रित विवेक-प्रौढ़ता विकसित हुई है। आज निबन्ध अधिक एकाग्र आत्मदान अभिप्रेरित विधा के रूप में गतिशील है। निबन्धकारों की वृत्तियाँ अब गहरी एकाग्रता-केन्द्रित मालूम पड़ती हैं। पण्डित विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निबन्ध परम्परा का विकास नयी चिन्तन-पद्धतियों और अभिव्यक्तियों की भंगिमाओं के साथ प्रस्फुटित हुआ है। प्रस्तुत इकाई हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धकार स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
ii. मिश्रजी के प्रसिद्ध निबन्ध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' की अन्तर्वस्तु की विवेचना कर सकेंगे।
iii. 'मेरे राम का मकुट भीग रहा है' के शिल्पगत विधान का निरूपण कर सकेंगे।

## 1.5.1. प्रस्तावना

समकालीन हिन्दी निबन्धों में मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेकित करने का आग्रह है। आधुनिक युग के प्रख्यात निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में मानव जीवन-दर्शन, धर्म, सदाचरण एवं व्यवहार के निहितार्थ लोकानुभूति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत प्रभावी ढंग से हुई है। मौलिक चिन्तन से निस्सृत उनके निबन्धों में शास्त्र-सम्पदा एवं लोकसंस्कृति के प्रति उनका रुझान परिलक्षित होता है। उनके निबन्ध भारतीय साहित्य एवं संस्कृति को लोकजीवन से जोड़ने का संस्तुत्य प्रयास करते हैं। विषय-वस्तु, दृष्टिकोण, शिल्प तथा भाव-भंगिमा के आधार पर कला और संस्कृति के विविध रूपों को उद्घाटित करते हुए निबन्धकार पाठकों के चिन्तन का विस्तार करता है। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में शास्त्र-सम्पदा, लोकसंस्कृति व लोकाचरण का सम्मिलन है।

## 1.5.2. निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र

विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में भारतीय संस्कृति का पुनराख्यान हुआ है। यहाँ लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति का उज्ज्वल पक्ष समग्रता में आलोकित होता है। साधारण से साधारण विषयों को पौराणिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों से सम्बद्ध कर मिश्रजी ने प्रस्तुति को प्रभावशाली बना दिया है। उनके अधिकांश निबन्ध ललित निबन्धों की श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं। उनके ललित निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा से अभिप्रेरित हैं। मिश्रजी के निबन्धों की रचनात्मक वृत्ति रोमांटिक भावावेश के बोध से बाहर निकलकर बौद्धिक रुझानों की ओर झुकती हुई प्रतीत होती है।

### 1.5.2.1. प्रमुख निबन्ध

विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में लोकसंवेदना और लोकहृदय की मर्मस्पर्शी पकड़ है। शिक्षा, संस्कृति और साहित्य उनके निबन्धों के तीन चक्षु हैं। इन्हीं चक्षुओं से निहारते हुए वे 'नया अर्थ' पाते हैं। अपने परम्परा-बोध के प्रति स्वाभिमान प्रकट करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है – "वैदिक सूत्रों के गरिमामय उद्गम से लेकर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है, उस भारतीय परम्परा का मैं स्नातक हूँ।" उनके निबन्धों 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'परम्परा बन्धन नहीं', 'वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं', 'कँटीले तारों के आर-पार', 'संचारिणी', 'कौन तू फुलवा बीनन हारी', 'अस्मिता के लिए', 'भ्रमरानन्द के पत्र', 'अंगद की नियति', 'चितवन की छाँव', 'कदम की फूली डाल', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी और बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'साहित्य की चेतना', 'महाभारत का काव्यार्थ', 'लागौ रंग हरी', 'अग्निरथ' आदि में उनका गम्भीर चिन्तन-प्रवाह देखा जा सकता है। अपने निबन्धों में रचनाकार 'पुरातन से अद्यतन' तथा 'अद्यतन से पुरातन' की बौद्धिक यात्रा करता प्रतीत होता है।

## 1.5.2.2. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में युगबोध एवं लोकधर्मिता

भारतेन्दु युग में व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की परम्परा प्रचलन में थी जिसमें सजीवता के साथ विषय-चयन की नवीनता और वर्णन-शैली की रोचकता का आग्रह था। द्विवेदी युग और शुक्ल युग में उसका विकास उतने तीव्र रूप से नहीं हो सका। विद्यानिवास मिश्र ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए सांस्कृतिक ऐक्य एवं साहित्यिक गरिमा को समृद्ध किया। मिश्रजी के निबन्ध कला और संस्कृति के विविध रूपों को उद्घाटित करते हुए पाठकों के चिन्तन का विस्तार करते हैं। साथ ही भारतीय साहित्य एवं संस्कृति को लोकजीवन से जोड़ने का प्रयास करते हैं। भारतीय जीवन की अजस्र परम्परा से संयुत अपने निबन्धों में मिश्रजी ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह सांस्कृतिक आकलन की सर्वथा मौलिक पद्धति है। शिवप्रसाद मिश्र के शब्दों में "विद्यानिवासजी के निबन्धों को पढ़ने पर जो पहली चीज सामने आती है, वह है उनकी खाँटी भोजपुरी संस्कृति। घर में, हेली-मेलियों के बीच और एक बहुत व्यापक पुरजन-परिजन के साथ उनकी बातचीत भोजपुरी में ही चलती है। उनके रहन-सहन, खान-पान यानी पूरे मिजाज में यह भोजपुरी संस्कारिता इस तरह ढल चुकी है कि उसे शायद अमेरिका के रहने वाले उनके विदेशी मित्र भी सहज ही पहचान लेते होंगे। उनके निबन्धों में यह लोक संस्कृति कई रूपों में अपनी सुबास छोड़ जाती है।"

'संस्कृति की पाषाणी' निबन्ध में विद्यानिवास मिश्र खुजराहो के कन्दर्पेश्वर मन्दिर की स्थापत्य कला का संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हुए विचले शिखर के चारों ओर उभरे उरुशृंगों का सजीव वर्णन करते हैं – "इन उरुशृंगों की आरोही पंक्तियाँ, जो अमृतघट के पास पहुँचने के लिए व्याकुल दिखती हैं, ऊँचाई का प्रभाव बढ़ा देती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार एक योगी की महत्ता को उसकी अमृत ज्योति से आकृष्ट, सन्तप्त, तृषित साधकों की पंक्ति बढ़ा देती है।"

विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध महज कल्पना की उड़ान नहीं हैं। वे समसामयिक समस्याओं व जीवन की विषमताओं का निरूपण व्यंग्यपूर्ण शैली में करते हैं। उनकी रचनाओं में संस्कृति के अनेक तत्त्वों का समावेश है। वस्तुतः उनके निबन्धों में भारत की संस्कृति बोलती है। 'आम्रमंजरी' में वे संस्कृत साहित्य में चित्रित वसन्त वर्णन का विशद् चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'घने नीम तरु तले' में उन्होंने जीवन और नीम के वृक्ष का सम्बन्ध-सूत्र उजागर किया है। 'विन्ध्य की धरती में' वे भारत की सांस्कृतिक एकता में विन्ध्य भूमि के योगदान की चर्चा करते हैं। 'कलचुरिओं की राजधानी गुर्गी' के माध्यम से वे स्पष्ट करते हैं कि भारत का मध्ययुग उतना पतित नहीं था जितना उसे आज समझा जाता है। 'मैंने सिल पहुँचाई' निबन्ध में निबन्धकार ने 'सिल' के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ को प्रकट किया है। 'प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जाएगी' में सांस्कृतिक चेतना के प्रति सजगता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि वर्तमान साहित्य भारतेन्दु की स्वस्थ परम्पराओं से बहुत दूर चला गया है, अतः वह अग्राह्य होता जा रहा है। अपनी सांस्कृतिक चेतना के प्रति उनकी यह सजगता दिखावा मात्र नहीं है।

निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में युगीन चेतना अपनी पूर्ण भावात्मकता के साथ विद्यमान है। जीवन की गहन अनुभूतियों से छलछलाते हुए उनके निबन्ध भारतीय संस्कृति और लोकधर्मिता का वरण करते हैं।

अपने 'हिन्दी की शब्द-सम्पदा' ग्रन्थ में उन्होंने 'आवाजें' नामक निबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न जीव-जन्तुओं के मुख से निकलने वाली ध्वनियों को अलग-अलग नाम देने का प्रयत्न किया है। उनके निबन्धों विशेषकर ललित निबन्धों में कल्पना का विलास भी प्रचुर मात्रा में दिखलायी पड़ता है। 'अन्धी जनता और लंगड़ा जनतन्त्र' में उन्होंने भारतीय लोकतन्त्र की कल्पना प्रस्तुत की है – "भारतीय जनतन्त्र पंचमुख परमेश्वर है, सबसे ऊपर वाला मुख ईशान है, जिसका कोई व्यक्त आकार नहीं, जिसकी कोई व्यक्त भाषा नहीं, यह मुख है राज्याध्यक्ष, एकदम निरपेक्ष, पर सबसे ज्यादा चन्दन का लेप इसी मुख पर होता है और सबसे ज्यादा फूलमालाएँ इसी पर पड़ती हैं।" अपने एक अन्य चर्चित निबन्ध 'युद्ध और व्यक्तित्व' में अपनी माटी पर गर्व करने की उनकी अभिव्यक्ति उल्लेखनीय है – "मैं तो भोजपुरी हूँ जिनके बारे में लोगों का कहना है कि भोजपुरी किसी लड़ाई में तमाशबीन नहीं रह सकता है। वह ज़ुल्म के खिलाफ लाठी लेकर खड़ा हो जाएगा। पर मैं भी हर विजय की घोषणा में स्वर क्यों नहीं ऊँचा कर पाता।"

### 1.5.3. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध की अन्तर्वस्तु

उत्कृष्ट रचना-सृजन हेतु प्रत्येक रचनाकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सृजन के क्षण में आत्मविस्मृति के दौर से गुजरे। यदि वह सृजनकर्म में तल्लीन नहीं हो पाता तो उसकी कृति दर्शक, श्रोता या भावक को रस-निष्पत्ति के उस धरातल तक नहीं ले जा सकती जहाँ वह भी रचना के आस्वाद के क्षण में आत्मविस्मृति के दौर से गुजरे। इस दृष्टि से विद्यानिवास मिश्र हिन्दी निबन्ध साहित्य के अप्रतिम रचनाकार हैं। उनका निबन्ध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' विषयगत गम्भीरता, व्यापकता, लोक सम्पृक्ति एवं संस्कृति का विशद् आख्यान प्रस्तुत करता है। अकेला यह निबन्ध उन्हें श्रेष्ठ, चिन्तनशील और ईमानदार साहित्यकार की श्रेणी में ला खड़ा करता है। लोकविश्वास, लोकमान्यताएँ, परम्पराएँ किसी भी समाज विशेष की सांस्कृतिक एकता तथा सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में निबन्धकार लोकविश्वास और मान्यताओं का भी सजीव चित्रांकन करता है। उसका मानस चिन्तित है कि आज आधुनिक बोध से जुड़कर व्यक्ति ने अपने चिरन्तन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी है।

#### 1.5.3.1. मौलिक चिन्तन

विद्यानिवास मिश्र अपनी रचनात्मक मौलिकता व प्रतिबद्धता को सम्पूर्णता में प्रदर्शित करते हैं। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में निबन्धकार ने भारतीय परम्परा एवं संस्कृति को भलीभाँति देखने-परखने के साथ अपने मौलिक चिन्तन को अभिव्यक्त किया है। मिश्रजी का विश्वास है कि अतीत जो कुछ भी जीवन्त वर्तमान को सौंपता है, वह परम्परा ही कहीं-न-कहीं मानव जीवन के भविष्य-निर्धारण में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्व, वैचारिक मुठभेड़ें और विभिन्न आस्था-विश्वास के संघर्ष समन्वयन की परम्परा को कालान्तर में भी प्रवाहित होते रहने की जीवनी शक्ति देते हैं। आदर्श और यथार्थ का चिरन्तन द्वन्द्व भी बारम्बार होने वाले समझौतों का आधार प्रस्तुत करता है। निबन्ध के आरम्भ में ही उन्होंने बहुत सहज होकर अपना भाव प्रकट किया है – "कभी-कभी तो बड़ी-से-बड़ी परेशानी करने वाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उल्टे

ऐसा लगता है, जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ; न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात भी भयंकर चिन्ता का कारण बन जाती है।"

रचनाओं का एक सम्मिलित संसार होता है जिसके केन्द्र में मानवीय चिन्ताएँ होती हैं। रचनाओं का पारस्परिक संवाद और अन्तरावलम्बन ही रचना-संसार को समृद्ध करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध की रचनात्मक दीर्घा से गुजरना एक उदात्त अनुभव है। यहाँ भाव संयोजन रचनाकार की निरीक्षण क्षमता से उपजे हैं। हमारे आस-पास जो कुछ पसरा है, निबन्धकार ने उसकी सार्थक अभिव्यक्ति की है। मिश्रजी का मौलिक चिन्तन उन अछूते कोनों तक पहुँचता है जिसके लिए आधुनिक निबन्ध साहित्य में बहुत कम अवसर हैं। उनका रचनात्मक विन्यास देशज है जहाँ देश की माटी व संस्कृति का गहरा संस्पर्श है। उदाहरण द्रष्टव्य है – "मन फिर घूम गया कौसल्या की ओर, लाखों-करोड़ों कौसल्याओं की ओर, और लाखों करोड़ों कौसल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम-अरूप कौसल्या की ओर, इन सबके राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बँधा है और उसी के भीगने की इतनी चिन्ता है ? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरम्भ होने के पूर्व एक निश्चित मुहूर्त में मुकुट की ही पूजा सबसे पहले की जाती है ? क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुँचने पर उन्हें 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी ? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं ? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।" प्रत्येक रचना की प्रतिध्वनि और आशय व्यापक होता है। चेतनाजन्य चिन्तन ही उसे विश्वसनीय बनता है। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में निबन्धकार अपने मौलिक चिन्तन द्वारा जीवन संघर्ष में उलझे मनुष्य व समाज का दिग्दर्शन तथा मानवीय आदर्श एवं परम्परागत मूल्यों की अभीष्ट पहचान प्रस्तुत करते हैं।

### 1.5.3.2. वैयक्तिकता

भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के उदात्त तत्त्वों के प्रति गहरी आस्था प्रकट करने वाले पण्डित विद्यानिवास मिश्र अपनी वैयक्तिक चेतना को बृहत्तर मानवीय जीवन-मूल्यों, संवेदनाओं व सन्दर्भों के साथ जोड़ देने वाले सिद्धहस्त रचनाकार हैं। उनकी प्रबल अवधारणा है कि व्यक्तिगत जीवन की पद्धति जब समष्टि की संवेदना के साथ संधारित हो जाती है तब अनुभव की सामाजिक परम्परा जन्म लेने लगती है। उनके निबन्धों, विशेषकर 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' की पृष्ठभूमि में आधुनिक मानवता की करुणा और द्वन्द्व का समन्वित रूप विद्यमान है। अतीत की सर्जना करते हुए वे स्वयं को वर्तमान से संलग्न करते हैं – "इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के सम्भावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से-बड़ा संकट झेल लेगी। बार-बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पढ़ाती है, लड़का संकट-बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का ख़याल आते ही दुश्चिन्ता होती, गली में जाने कैसे तत्त्व रहते हैं ! लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई

व्यवस्था करनी चाहिए थी, परायी लड़की (और लड़की तो हर एक परायी होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहराएगी, अन्त में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आयी, कहीं कुछ हो न जाए !"

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में लेखक की तमंचाई उग्रता नहीं है। उसकी सामाजिक-परिवर्तन की आकांक्षा शान्त संयत-स्वर में यातना-शिविर को ध्वस्त करना चाहती है। रचनाकार आत्मसाक्षात्कार के जरिये भी सक्रियता प्रदान करना चाहता है। सामूहिकता को स्वस्थ सामाजिकता और साहसिकता प्रदान करता हुआ वह अपने दायित्व बोध को उजागर करता है – "क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुँचने पर उन्हें 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी ? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं ? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।" इस प्रकार यहाँ मानवधर्म की सर्वोपरि अभिव्यक्ति हुई है। यह सत्य है कि वायुमण्डल में उछाले गए शब्द भी बेकार नहीं जाते। जब सृजन का आरम्भ शून्य को आन्दोलित करने लगता है, तब अँधेरे के कलेजे में ठुकी हुई कील ज्योति-स्तम्भ बन जाती है। लेखक का यह अनुभव उन्हें सर्जक व्यक्तित्व का धनी घोषित करता है।

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में लेखक अपनी वैयक्तिक चेतना को वास्तविक सन्दर्भों में उजागर करता है। निबन्धकार का यह रचनात्मक बोध एक लम्बी चिन्तन-यात्रा को तय करने के उपरान्त उत्पन्न हुआ है। उनका यह बोध बनावटी नहीं है। निर्मलता, सहजता, प्रेम व विश्वास उनकी वैयक्तिक चेतना के आधार हैं। उदाहरण देखिए – "अभिषेक की बात चली, मन में अभिषेक हो गया और मन में राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन में प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश में उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाए, इसकी चिन्ता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमरबंद दुपट्टा भी (प्रहरी की जागरूकता का उपलक्षण) न भीगने पाए और अखण्ड सौभाग्यवती सीता की माँग का सिन्दूर न भीगने पाए, सीता भले ही भीग जाएँ। राम तो वन से लौट आए, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आए, पर लोकमानस में राम की वनयात्रा अभी नहीं रुकी। मुकुट, दुपट्टे और सिन्दूर के भीगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्याएँ बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने काँटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताजा चुभन लिए हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को सँभालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी में बन्द जिलावतनी की तरह दिन बिताएँगे।"

### 1.5.3.3. विचारों की सम्पन्नता व सुसम्बद्धता

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में विद्यानिवास मिश्र के व्यक्तित्व के अनेक आयाम प्रतिफलित हुए हैं। निबन्ध में हर उस बिन्दु का विश्लेषण है जो मानवीय जीवन-मूल्यों पर केन्द्रित है। रचनाकार हर सम्भ्रान्त

क्षण से लेकर निबन्ध की रचना-यात्रा तक में यह स्वीकार करते हैं कि संवेदना या संवेग मरता नहीं, अपितु चेतना से निश्चित ही नियन्त्रित होता है। आज की बौद्धिक प्राणायाम वाली रचनाएँ भले ही हल्ला चाहे जितनी मचा लें वक्त के साथ ठहरेंगी नहीं। आज इंसान की जो ज़रूरत है, वही रचना है, यानी रचना की भूमिका सही लोक-संस्कार निर्माण करने की है। स्थितियों व घटनाओं को भेदकर, छानकर उनके भीतर उदात्त जीवन-मूल्यों की स्थापना में 'कनविक्शन' की सीमा तक निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र के लगाव का कारण है। वे कहते हैं – "तेज बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टप्-टप् बूँदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिकें, तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर बारिश पीठ गलाने लगती है। जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाए चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता है, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनाहट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गए हैं, तुम्हारे कहे जानेवाले कोई भी हो सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम ! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बँटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हज़ार चीज़ों में। दूसरे कुछ पतियाएँ भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूँ या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूँ कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिन्ता किसी के लिए होती है, वह चिन्ता क्या पराये के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है ? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आए हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनाना ही अपनाने की उनकी बढ़ी हुई शर्त नहीं है ?"

निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र व्यग्र एवं सन्नद्ध रचनाकार हैं। उनके वैयक्तिक विचारों और भावनाओं की तरह ही उनके निबन्ध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में स्पष्टता और मार्मिकता है। लेखक जो खुद नहीं कह सका, वह आलोच्य निबन्ध के माध्यम से कहता है। अन्तर्वस्तु की बुनावट में अन्तःग्रथित लय से मन की सूक्ष्म हलचल तरंगों को बाँधता और उतनी ही सहजता से जीवन के खुदरेपन को युगानुकूल साँचे में फिट करने की कोशिश करता हुआ वह कहता है – "तार टूट जाता है, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, यह भीतर से कहाँ पाऊँ ? अपनी उदासी से ऐसा चिपकाव अपने सँकरे-से-दर्द से ऐसा रिश्ता, राम को अपना कहने के लिए केवल उनके लिए भरा हुआ हृदय कहाँ पाऊँ ? मैं शब्दों के घने जंगलों में हिरा गया हूँ। जानता हूँ, इन्हीं जंगलों के आसपास किसी टेकड़ी पर राम की पर्णकुटी है, पर इन उलझानेवाले शब्दों के अलावा मेरे पास कोई राह नहीं। शायद सामने उपस्थित अपने ही मनोराज्य के युवराज, अपने बचे-खुचे स्नेह के पात्र, अपने भविष्यत् के संकट की चिन्ता में राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है, उनसे भी अधिक एक बिजली से जगमगाते शहर में एक पढ़ी-लिखी चंद दिनों की मेहमान लड़की के एक रात कुछ देर से लौटने पर अकारण चिन्ता हो जाती है, उसमें सीता का ख़याल आ जाता है, वह राम के मुकुट या सीता के सिन्दूर के भीगने की आशंका से जोड़े न जोड़े आज की दरिद्र अर्थहीन, उदासी को कुछ ऐसा अर्थ नहीं दे देता, जिससे ज़िन्दगी ऊब से कुछ उबर सके ?" अपनी आँखों की नमी का निबन्धकार कोई उत्सव नहीं मनाता। दूसरे की आँखों की नमी उसके लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

## 1.5.3.4. सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

लोकविश्वास एवं लोकमान्यताएँ किसी भी समाज विशेष के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग होती हैं। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में निबन्धकार की लोकविश्वास, लोकमान्यताओं और लोक-परम्पराओं के प्रति आस्था प्रकट हुई है। लोकगीतों का स्वर्णिम सूर्य सतरंगी रश्मियों का पुंजीभूत रूप है जहाँ माँ की ममता, विरह की कसक आदि लोकगीत की सतरंगी आभा है, हृदयमयी प्रभाव उत्पादिकता उसकी शुभ्रता है। लोकगीत भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड लोकसंस्कृति के सशक्त अधिवक्ता हैं, इतिहास लोकगीतों का शरीर है तो परम्पराएँ व संस्कृति प्राण। उदाहरण द्रष्टव्य है –

**मोरे राम के भीजै मुकुटवा**
**लछिमन के पटुकवा**
**मोरी सीता के भीजै सेनुरवा**
**त राम घर लौटहिं।**

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में अभिव्यक्त मानवीय जीवन-मूल्य भारतीय मनीषियों द्वारा व्यक्ति व समाज के लिए स्थापित, अनुभूत और समुज्ज्वल आदर्श हैं जिन्हें शास्त्रों व धार्मिक ग्रन्थों में मानवीय आदर्शों के रूप में भी परिभाषित किया गया है। यह प्राणिमात्र के अभ्युदय, सुख और शान्ति का संविधान है। निबन्धकार कहता है – "सोचते-सोचते लगा कि इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश में बिसूर रही है – 'मोरे राम के भीजे मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, ऐश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिन्दूर भीग रहा है, उसका अखण्ड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे ऐश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है।"

मानवीय सभ्यता के विकास-अनुक्रम में प्रकृति का योगदान निर्विवाद है। प्रकृति के झंझावातों के बीच रहकर मनुष्यों ने अनेकविध जीवन-संघर्ष किए हैं। प्राकृतिक विशिष्टताएँ मानव की रचनात्मक ऊर्जा से सम्बन्ध रखती हैं। निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र ने प्रकृति और मानव जीवन के अन्तर्निहित पहलुओं को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है – "सीता जंगल की सूखी लकड़ी बीनती हैं, जलाकर अँजोर करती हैं और जुड़वाँ बच्चों का मुँह निहारती हैं। दूध की तरह अपमान की ज्वाला में चित्त कूद पड़ने के लिए उफनता है और बच्चों की प्यारी और मासूम सूरत देखते ही उस पर पानी के छींटे पड़ जाते हैं, उफान दब जाता है। पर इस निर्वासन में भी सीता का सौभाग्य अखण्डित है, वह राम के मुकुट को तब भी प्रमाणित करता है, मुकुटधारी राम को निर्वासन से भी बड़ी व्यथा देता है और एक बार और अयोध्या जंगल बन जाती है, स्नेह की रसधार रेत बन जाती है, सब कुछ उलट-

पलट जाता है, भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है, दूर ऊँचे खड़े तटस्थ पहाड़, राजमुकुट में जड़े हीरों की चमक के सैकड़ों शिखर, एकदम कठोर, तीखे और निर्मम –

**पुरा यत्र स्त्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्**
**बहोः कालाद् दृष्टंह्यपरमिव मन्ये वनमिदं निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥**

राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिन्दूर और दमक उठता है, सीता का वर्चस्व और प्रखर हो उठता है।"

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो छायावाद काल से ही लक्षित होता है, वह है, 'रहस्योन्मुखता'। लेखकीय दायित्वबोध सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के निमित्त सभी छायाओं से सम्पृक्त हो उठता है। रहस्यवादिता प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति की छाया रही है। वह छायावाद की परोक्ष शैली, प्रच्छन्न अनुभूति और अरूप दार्शनिकता तथा विवेकानन्द, गाँधी, टैगोर के व्यक्तित्वों का स्पर्श पाकर आधुनिककाल की रचनाओं में अधिक मुखर हो उठी है। निबन्धकार लिखते हैं कि "इतनी असंख्य कौसल्याओं के कण्ठ में बसी हुई जो एक अरूप ध्वनिमयी कौसल्या है, अपनी सृष्टि के संकट में उसके सतत उत्कर्ष के लिए आकुल, उस कौसल्या की ओर, उस मानवीय संवेदना की ओर ही कहीं राह है, घास के नीचे दबी हुई। पर उस घास की महिमा अपरम्पार है, उसे तो आज वन्य पशुओं का राजकीय संरक्षित क्षेत्र बनाया जा रहा है, नीचे ढँकी हुई राह तो सैलानियों के घूमने के लिए, वन्य पशुओं के प्रदर्शन के लिए, फ़ोटो खींचनेवालों की चमकती छवि यात्राओं के लिए बहुत ही रमणीक स्थली बनायी जा रही है। उस राह पर तुलसी और उनके मानस के नाम पर बड़े-बड़े तमाशे होंगे, फुलझड़ियाँ दगेंगी, सैर-सपाटे होंगे, पर वह राह ढँकी ही रह जाएगी, केवल चक्की का स्वर, श्रम का स्वर ढलती रात में, भीगती रात में अनसोये वात्सल्य का स्वर राह तलाशता रहेगा – किस ओर राम मुड़े होंगे, बारिश से बचने के लिए ? किस ओर ? किस ओर ? बता दो सखी।"

### 1.5.4. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध का शिल्पगत वैशिष्ट्य

प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार पण्डित विद्यानिवास मिश्र शब्द और कर्म की सार्थकता के प्रतिमान हैं। संस्कृति एवं लोकतत्त्व से समाविष्ट उनके निबन्धों में विचार, अनुभूति, बुद्धि, कल्पना व शैली का अद्भुत सामंजस्य दिखाई पड़ता है।

#### 1.5.4.1. भाषा-विधान

भाषा संचार का माध्यम और साहित्य का मूलाधार है। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में संस्कृत शब्दावली (गृहिणी, उद्विग्न, संकल्प, प्रतीक्षा, समर्थ, संकटबोध, निर्वासित, कुटिल, अभिषेक, परिहार, मातृ, स्नेह, अखण्ड, चैतन्य, उत्कर्ष, अनन्त, दुश्चिन्ता, प्रतिष्ठित, एकनिष्ठ, कलि, दीप्ति आदि); उर्दू-फारसी के लोकप्रचलित शब्द (तबीयत, कीमत, साल, बदा, फीका, ख़याल, मेहमान, जिलावतनी, उबर, तमाशा, कारबरदार, फुसफुसाना,

उफनना आदि) तथा अंग्रेजी के लोकप्रिय शब्द (रील, कॉलेज, रिक्शा आदि) अवसरानुकूल कुशलतापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। लोकभाषा के शब्दों यथा – थमना, चिरई, पुत, उमड़ती, माथे, घुमड़ती, पटुकवा, सेनुरआ, मुटरी, गँवार, धीरज, गगरी, अंजोर, अधफूटी, मसान, ढरकाए आदि का सहज प्रयोग हुआ है।

### 1.5.4.2. शैलीगत वैविध्य

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में विद्यानिवास मिश्र ने विविध शैलियों का प्रयोग किया है। विभिन्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

i. चित्रात्मक शैली : "मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा, मेरे लखन का पटुका (दुपट्टा) भीग रहा होगा, मेरी सीता की माँग का सिन्दूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते।"

ii. भावात्मक शैली : "पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाए, इसकी चिन्ता बनी रही।"

iii. उद्धरण शैली : "और लड़की तो हर एक परायी होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहराएगी, अन्त में उसे गृहिणी बनने जाना ही है।"

iv. लाक्षणिक शैली : "कितनी अयोध्याएँ बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने काँटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताजा चुभन लिए हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को सँभालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी में बन्द जिलावतनी की तरह दिन बिताएँगे।"

v. धारा शैली : "जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुःख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झाँकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झाँकता हूँ, तो मंगल का सारा उत्साह फ़ीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शक्ल में कुण्डली मारे नागिन दिखती है, मंगल-घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठों का अंबार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़ने वाले अन्तिम कारबरदार की उसाँस में बजकर एकबारगी बन्द हो जाता है।"

### 1.5.5. पाठ-सार

विद्यानिवास मिश्र आधुनिक हिन्दी के मूर्धन्य निबन्धकार हैं। वे भारतीय साहित्य एवं संस्कृति को आधुनिक व समेकित अभिव्यक्ति देने वाले रचनाकार के रूप में प्रख्यात हैं। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में

उनका सामाजिक-सांस्कृतिक बोध पूरी तरह से उभरकर सामने आया है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि, गहन अनुभव, गम्भीर चिन्तन, भाव-गाम्भीर्य, विषय-विवेचन क्षमता एवं हृदय और बुद्धि का संतुलित समन्वय देखते ही बनता है। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध में भारतीय सनातन धर्म व संस्कृति की जीवन्त परम्परा विद्यमान है। यहाँ मानव जीवन-दर्शन की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हुई है। निबन्ध के माध्यम से लेखक ने आधुनिक मानव व समाज के नवनिर्माण का सन्देश भी प्रतिपादित किया है।

## 1.5.6. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| चिरन्तन | : | पुरातन |
| समेकित | : | मिला-जुला |
| सनातन | : | परम्परागत |
| गगरी | : | एक प्रकार का मिट्टी का वर्तन |
| अंजोर | : | उजाला, प्रकाश |
| मसान | : | मरघट |

## 1.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. मिश्र, विद्यानिवास, व्यक्ति व्यंजना, विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
2. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी गद्य का साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध व निबन्धकार, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी का गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. बाबूराम, हिन्दी निबन्ध साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.


## 1.5.8. बोध प्रश्न

**टिप्पणी लिखिए –**

1. आधुनिक निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र।
2. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में युगीन चेतना व लोकधर्मिता।
3. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' का भाषिक विधान।
4. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' का शैलीगत वैशिष्ट्य।
5. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. " 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में शास्त्र-सम्पदा, लोकसंस्कृति व लोकाचार का स्वाभाविक सम्मिलन हो गया है।" इस कथन का परीक्षण कीजिए।
2. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध के शिल्पगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. 'चितवन की छाँह' के रचयिता हैं –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
(ग) कुबेरनाथ राय
(घ) विद्यानिवास मिश्र

2. तुलसीदास ने किसको 'सत अवध समाना' कहा है ?

(क) आनन को
(ख) कानन को
(ग) मिथिला को
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. विद्यानिवास मिश्र किस परम्परा के निबन्धकार हैं ?

(क) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ग) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. विद्यानिवास मिश्र के श्रेष्ठ निबन्ध हैं –

(क) मैंने सिल पहुँचाई
(ख) तुम चन्दन हम पानी
(ग) घने नीम तरु तले
(घ) उपर्युक्त सभी

5. बहुचर्चित निबन्ध 'अन्धी जनता और लंगड़ा जनतन्त्र ' के रचनाकार हैं –

(क) विद्यानिवास मिश्र

(ख) कुबेरनाथ राय

(ग) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

(घ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 2 : विविध गद्य-रूप – 1

## इकाई – 1 : आत्मकथा : क्या भूलूँ क्या याद करूँ – हरिवंशराय बच्चन

**इकाई की रूपरेखा**

2.1.00. उद्देश्य कथन
2.1.01. प्रस्तावना
2.1.02. हिन्दी की आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय
2.1.03. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का गद्य-रूप
2.1.04. अपनी आत्मकथा की रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में लेखक की राय
2.1.05. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की विषय-वस्तु
2.1.06. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में अभिव्यक्त विचार
2.1.07. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की भाषिक संरचना और शिल्प
2.1.08. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का रचनात्मक महत्त्व
2.1.09. पाठ-सार
2.1.10. बोध प्रश्न
2.1.11. व्यवहार
2.1.12. कठिन शब्दावली
2.1.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.1.14. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

### 2.1.00. उद्देश्य कथन

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक डॉ॰ हरिवंशराय बच्चन की सम्पूर्ण आत्मकथा चार भागों में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं – 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर', और 'दशद्वार से सोपान तक'। प्रस्तुत इकाई में बच्चनजी की आत्मकथा के पहले भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का अध्ययन करेंगे। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का प्रकाशन सन् 1969 में हुआ था और शेष तीनों भाग क्रमशः सन् 1970, 1977 एवं 1985 में प्रकाशित हुए थे। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित बिन्दुओं को जान सकेंगे –

(i) आत्मकथा विधा के रूप में 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का क्या महत्त्व है?
(ii) 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की विषयवस्तु में किन प्रसंगों और घटनाओं का उपयोग किया गया है?
(iii) व्यक्तित्व के विकास में जीवन के कष्टों, संघर्षों और प्रयासों की क्या भूमिका होती है?
(iv) 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के माध्यम से लेखक जीवन से जुड़े दायित्वों के बारे में पाठकों को क्या सन्देश देना चाहता है?
(v) हिन्दी आत्मकथा लेखन में 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का क्या स्थान और योगदान है?

## 2.1.01. प्रस्तावना

साहित्य की सभी विधाओं में लेखन कार्य करने के बावजूद बच्चन जी को सर्वाधिक प्रसिद्धि कवि रूप में मिली। 27 नवंबर सन् 1907 को इलाहाबाद के एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार जन्मे बच्चनजी का पहला काव्य-संग्रह 'तेरा हार' सन् 1932 में प्रकाशित हुआ। फिर काव्य के विभिन्न मंचों पर धूम मचानेवाली एवं तदनन्तर सन् 1935 में प्रकाशित 'मधुशाला' ने उन्हें बेहद चर्चित बनाया। जीवन में तमाम उतार-चढ़ाव एवं जोखिम भरे पगडंडियों पर गुजरते हुए उन्होंने लगभग पाँच दशकों तक साहित्य की भरपूर सेवा की। डॉ॰ हरिवंशराय बच्चन ने सन् 1925 ई. में हाईस्कूल पास किया, फिर 1929 में उन्होंने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे सन् 1941 ई. से सन् 1952 ई. तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के लेक्चरर रहे। सन् 1952 ई. से सन् 1954 ई. तक उन्होंने इंग्लैंड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य के विख्यात कवि डब्लू.बी. यीट्स की कविताओं पर शोध कर पी-एच.डी. पूरी की थी। इसके बाद उन्होंने कुछ समय तक आकाशवाणी में भी कार्य किया। सन् 1955 ई. में भारत सरकार द्वारा उन्हें विदेश मंत्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया गया। दस साल बाद राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने उन्हें राज्यसभा के सदस्य के रूप में मनोनीत किया।

बच्चनजी ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन कार्य किया। वे मूलतः अंग्रेजी के शिक्षक थे, किन्तु उनका हिन्दी के प्रति समर्पण और कर्मठता प्रशंसनीय है। वैसे देखा जाए तो उन्होंने 12 वर्ष की अवस्था से छिट-पुट लेखन-कार्य शुरू कर दिया था, किन्तु पहली दफा उनको ख्याति और पहचान 'मधुशाला' से मिली। सन् 1930 ई. के आस-पास उन्होंने विधिवत लेखन-कार्य आरम्भ कर दिया था और सन् 1985 ई. में स्वास्थ्यगत कारणों से उनका लेखनकार्य शिथिल हुआ। आगे 18 जनवरी 2003 को मुंबई में इनका निधन हुआ। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं –

काव्य – तेरा हार, मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमन्त्रण, एकान्त संगीत, आकुल अंतर, सतरंगिनी, हलाहल, बंगाल का काल, खादी के फूल, सूत की माला, मिलनयामिनी, प्रणयपत्रिका, धार के इधर-उधर, आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर, त्रिभंगिमा, चार खेमे चौंसठ खूँटे, दो चट्टानें, बहुत दिन बीते, कटती प्रतिमाओं की आवाज़, उभरते प्रतिमानों के रूप।

गद्य – कवियों में सौम्य पन्त (समीक्षा और निबन्ध), नए-पुराने झरोखे (निबन्ध), टूटी-छूटी कड़ियाँ (निबन्ध), प्रवास की डायरी (डायरी,1971) क्या भूलूँ क्या याद करूँ (1969), नीड़ का निर्माण फिर (1970), बसेरे से दूर (1977), दशद्वार से सोपान तक (1985) (चार भागों में आत्मकथा)।

अनुवाद – खय्याम की मधुशाला (1935), मैकबेथ (1957), जनगीता (1958), आथेलो (1959), उमर खय्याम की रुबाइयाँ (1959), चौसठ रूसी कविताएँ (1964), मरकत द्वीप का स्वर (1965), नागरगीता (1965), हेमलेट (1969), किंगलियर (1972)।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने आत्मकथा के अतिरिक्त दो काव्य-संग्रह 'जाल समेटा' और 'नई से नई पुरानी से पुरानी' भी प्रस्तुत किया। अपनी कविताओं के सन्दर्भ में वे स्वयं कहते थे कि – "मेरी कविता मोह से आरम्भ हुई और मोहभंग पर समाप्त हो गई।" आत्मकथा का लेखन उन्होंने जीवन के छठे दशक में शुरू कर 15-16 वर्षों का लम्बा समय लगाकर बड़े मनोयोग एवं तैयारी के साथ लिखा है। इस आत्मकथा में लेखक ने अपने जीवन से जुड़े हर सुखद एवं कड़वे प्रसंगों का निःसंकोच भाव से वर्णन कियाहै। गौर करने वाली बात यह है कि 16वीं शताब्दी के महान् फ्रांसीसी लेखक 'मानतेन' को वे अपनी आत्मकथा-लेखन का प्रेरणा स्रोत मानते हैं, जिसने अपने निबन्धों को ही अपनी आत्मकथा माना था। इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक उल्लेख आगे किया जाएगा। फ़िलहाल इस प्रकरण को यह कहते हुए विराम देना उचित होगा कि चार भागों में लिखित बच्चन की आत्मकथा हिन्दी आत्मकथा लेखन के इतिहास में मील का पत्थर है और इस रचना का अध्ययन करना एक कोमल कवि की करुण कथा को पढ़ने जैसा है।

## 2.1.02. हिन्दी की आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दी में आत्मकथाओं की एक लम्बी परम्परा रही है। बनारसीदास जैन द्वारा पद्य में लिखित 'अर्द्धकथा' (1641 ई.) हिन्दी की पहली आत्मकथा है। आत्मकथा की आवश्यक शर्तों में से निरपेक्षता और तटस्थता को इसमें सहज ही देखा जा सकता है। इसमें लेखक ने अपने गुणों और अवगुणों का यथार्थ चित्रण किया है। अन्य कई गद्य विधाओं की तरह आत्मकथा का विकास भी भारतेन्दु काल में ही हुआ। भारतेन्दु ने अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा को लेखकीय मंच प्रदान किया। उनकी अपनी आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का आरम्भिक अंश 'प्रथम खेल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। गौर से देखें तो इस आत्मकथा में भारतेन्दु ने आम बोल-चाल के शब्दों का खुलकर उपयोग किया है, जो एक तरह से बाद की आत्मकथाओं के लिए आधार दृष्टि का काम करती है। भारतेन्दु के अतिरिक्त इस काल के आत्मकथाओं में सुधाकर द्विवेदी द्वारा रचित 'रामकहानी' और अंबिकादत्तव्यास-कृत 'निजवृत्तान्त' को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व हिन्दी के आत्मकथा के विकास में 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक का विशिष्ट योगदान रहा। सन् 1932 में प्रकाशित इस अंक में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, गोपालराम गहमरी, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास आदि साहित्यकारों के जीवन के कुछ अंशों को प्रेमचंद ने स्थान दिया है। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण आत्मकथा श्यामसुन्दरदास-कृत 'मेरी आत्मकहानी' (सन् 1941) मानी जाती है। इसमें लेखक ने अपने जीवन की निजी घटनाओं के स्थान पर काशी के इतिहास और समकालीन साहित्यिक गतिविधियों को भरपूर स्थान दिया है। उसी काल में बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' प्रकाशित हुई थी। जिसमें लेखक ने व्यंग्यपूर्ण रोचक शैली में अपने जीवन की असफलताओं का सजीव चित्रण किया है। सन् 1946 में राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवनयात्रा' का प्रथमभाग प्रकाशित हुआ, फिर सन् 1949 में दूसरा तथा सन् 1967 में उनकी मृत्यु के उपरान्त इसके तीन भाग और प्रकाशित हुए। बृहत् आकार की यह आत्मकथा मूलतः वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है। सन् 1947 के आरम्भ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक 'आत्मकथा' ही था।

इस विस्तृत आत्मकथा में राजेन्द्रबाबू ने बड़ी सादगी और निश्छलता से अपने वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ स्वतन्त्रता-संघर्ष के दौरान देश की दशा और महात्मा गाँधी सहित अनेक राष्ट्र-सेवा में संलग्न महापुरुषों के योगदान का वर्णन किया है।

आजादी के बाद सन् 1948 ई. में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन-प्रवाह' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के समाज सेवा से सम्बन्धित अंश की साहित्य जगत् में खूब चर्चा हुई, जिसमें लेखक ने समाज के निचले पादान पर रहकर जीवन जीने वाले गरीबों का बहुत मार्मिक वर्णन किया गया है। यशपाल-कृत 'सिंहावलोकन' के तीन भागों का प्रकाशन क्रमशः सन् 1951, 1952 और 1955 ई. में हुआ। यशपाल की आत्मकथा की विशेषता उसकी रोचक और मर्मस्पर्शी शैली है। सन् 1952 ई. में शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन के प्रारम्भिक इकतालीस वर्षों की करुण कथा को स्थान दिया है। सन् 1953 ई. में यायावर प्रवृत्ति के लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशित हुई। सन् 1960 ई. में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर' बहुत चर्चित रही, क्योंकि इसमें उनके जीवन की विद्रूपताओं के बीच युगीन परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। बीसवीं शताब्दी के इसी सातवें दशक में हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा चार भागों में प्रकाशित हुई, जो हिन्दी की सर्वाधिक सफल और महत्त्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। तदनन्तर प्रकाशित आत्मकथाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1970 ई.), देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (1970 ई.), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (सन् 1985 ई.), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक ज़िंदगी की' (1990 ई.) और भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003) प्रकाशित हुई। इसमें भीष्म साहनी ने देश के विभाजन की त्रासदी को बेहद सजीव और मार्मिक भाषा में चित्रित किया है। यदि समकालीन आत्मकथा पर विचार किया जाए तो आजकल साहित्य में दलित आत्मकथाओं का दौर है। ओमप्रकाश बाल्मीकि-कृत 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय-कृत 'अपने-अपने पिंजरे' और कौशल्या बैसंत्री-कृत 'दोहरा अभिशाप' आदि आत्मकथाओं ने इस विधा को यथार्थ अभिव्यक्ति के माध्यम से नितान्त भिन्न स्वरूप प्रदान करने और विमर्श के चौपाल पर पहुँचाने का कार्य किया है। इन महिला और दलित रचनाकारों ने इस विधा को गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ा है। साहित्यकारों के अलावा दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि महापुरुषों की आत्मकथाएँ भी हिन्दी समाज के पाठकों में खूब चर्चित रही हैं, पर विस्तार भय से उनका विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा रहा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी आत्मकथा साहित्य की एक लम्बी यात्रा के बाद आज उस मंजिल पर आ पहुँचा है जहाँ वह आत्मश्लाघा की न्यूनता से मुक्त होकर मानव के स्वभाव एवं व्यवहार में शामिल गुण-दोषों को सच्चाई से व्यक्त करने में सक्षम है।

### 2.1.03. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का गद्य-रूप

सामान्यतः भाषिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से साहित्य को पद्य और गद्य के रूप में विभाजित किया जाता है। पुनः गद्य साहित्य के अन्तर्गत निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तान्त, आलोचना, रिपोर्ताज आदि विविध विधाएँ अथवा गद्य-रूप भी स्वीकार किए जाते हैं। साहित्यिक विधा की दृष्टि

से 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' एक आत्मकथा है। आत्मकथा शब्द 'आत्म' और 'कथा' के योग से बना है, इसलिए कथातत्त्व इसमें महत्त्वपूर्ण होता है और 'आत्म' शब्द रचनाकार के स्वयं उपस्थित होने का बोधक है। चूँकि "आत्मकथा में कथा का विशेषण 'आत्म' है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ कि किसी व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपनी कथा का लेखन।"[1] ध्यान रहे यह आत्म न तो किसी कवि या गीतकार का क्षणिक घनीभूत आत्म होता है और न ही किसी निबन्धकार का किसी विषय से सम्बन्धित प्रतिक्रियात्मक आत्म। बल्कि इस आत्म में सम्बद्ध व्यक्ति का जन्म से लेकर कथा लिखने तक का आत्म उपस्थित रहता है, जिसमें उसके जीवन के छोटे-बड़े, तिक्त-मधुर सभी प्रसंग शामिल होतेहैं। आत्मकथा लेखक अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर अपने अतीत पर दृष्टिपात करता है और अपने जीवन में होश सँभालने से लेकर अपने आत्मकथा लेखन तक के समय को स्मरण करके कथा-रूप देने का प्रयास करता है। अपने होश सँभालने से पहले की घटनाओं को सामान्यतः वह अपने माता-पिता, परिवार के बड़े-बुजुर्गों, अन्य सगे-सम्बन्धियों इत्यादि से छान-बीन करके पता लगाने की कोशिश करता है। इसके अतिरिक्त अपने पूर्वजों के पारिवारिक-वातावरण, रहन-सहन, धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं को शोध के द्वारा पुनर्जीवित करने की चेष्टा भी करता है। ज्यादातर आत्मकथाओं में वंश-वृक्ष, जन्म-स्थान, भाई-बहन एवं अन्य पारिवारिक सदस्यों का उल्लेख करते हुए उनके स्वभाव, शिक्षा-दीक्षा, पद-प्रतिष्ठा, सामाजिक व्यवहार का परिचय देते हुए लेखक अपने व्यक्तित्व-निर्माण को निरूपित करता है। अतः आत्मकथा में लेखक जीवन के घात-प्रतिघातों से निर्मित अपने व्यतित्व के निर्माण प्रक्रिया का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है।

आत्मकथा में परिवार एवं पूर्वजों के जीवन को छोड़कर लेखक समान्यतः अपने भोगे हुए जीवन को घटनाओं एवं तथ्यों के सहारे वर्णित करता है, इसलिए पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किए गए प्रसंगों में यथातथ्यता का आग्रह सदैव बना रहता है। आत्मकथा का लेखक स्वयं वही व्यक्ति होता है, जिसका जीवन उसमें चित्रित होता है, इसलिए स्व-लेखन उसकी दूसरी आवश्यक शर्त होती है। आत्मकथा को पाठक के द्वारा स्वीकृति तभी मिलती है, जब स्वार्थ, पक्षपात, अतिभावुकता आदि दुर्बलताओं से ऊपर उठकर लेखक तटस्थ होकर लिखता है। इस प्रकार आत्मकथा का तीसरा आवश्यक घटक तटस्थता है। चूँकि आत्मकथा एक साहित्यिक विधा है, इसलिए कलात्मकता का संधान आवश्यक माना जाता है और यह आत्मकथा का चौथा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। विद्यार्थियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी साहित्यिक रचना को अध्ययन करने के क्रम में इस तरह की सरल पद्धतियों को अध्ययन-सुविधा के लिए अपनाया जाता है। जबकि आधुनिककाल की अधिकतर महान् रचनाएँ शास्त्रीय एवं तात्त्विक समीक्षा के साँचे में नहीं अटतीं। वे बँधे-बँधायी समीक्षा पद्धतियों और पुराने मानदण्डों की चौहद्दी से बाहर झाँकती और कई बार उनको तोड़ती प्रतीत होती हैं। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' को इसी कोटि में रखना चाहिए, क्योंकि बच्चन ने अपनी आत्मकथा-लेखन की प्रक्रिया के क्रम में 'गिबन', 'यीट्स' और मुख्य रूप से 'मानतेन' की आत्मकथाओं से प्रेरणा लेने का उल्लेख किया। दूसरी तरफ बच्चन भारतीय-संस्कृति और विराट् चिन्तन परम्परा में गहरी आस्था रखने वाले रचनाकार माने जाते हैं। जाहिर है इस रचना की सृजन-प्रक्रिया में उन्होंने अपने सश्लिष्ट अनुभवों को साधने के लिए कठिन परिश्रम किया है। अतः यह आत्मकथा पढ़ते हुए जितनी सरल लगती है, उतनी है नहीं।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बच्चनजी ने अपने वंशजों का रोचक वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने वंश से जुड़े साक्ष्यों को खंगालते हुए इस कथा को अतीत की सातवीं पीढ़ी तक पहुँचाया है। इस प्रसंग में वे अपने पूर्वज 'मनसा' नामक व्यक्ति के परताबगढ़ (प्रतापगढ़) के 'बाबूपट्टी' से इलाहाबाद के 'मुहल्ला चक' में आ बसने की कहानी बताते हैं, फिर आगे की कई पीढ़ियों के पारिवारिक जीवन एवं जीविका आदि से जुड़े संघर्ष का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस अंश का लेखन करते हुए लेखक बिल्कुल संयत औरगम्भीर दिखता है, उसमें कहीं भी व्यग्रता अथवा आपा-धापी का भाव नहीं है। वह रुक-रुककर प्रत्येक वर्णन-योग्य पारिवारिक प्रसंगों का कहीं आत्मीय तो कहीं तटस्थ भाव से उल्लेख करता है और परिवार के अंदर और समाज में हुई प्रतिक्रियाओं की थाह लेता है। साथ ही अपनी तटस्थ प्रतिक्रिया देता है और बीच-बीच में कुछ उद्धरणों को भी पाठकों के बीच रखता है। यथा – "एकै धर्म, एक व्रत नेमा / काय बचन मन पति पद प्रेमा।" इन दो पंक्तियों की सहायता से लेखक बड़ी सरलता से अपनी माता 'सुरसती देवी' के स्वभाव को पाठकों के सामने स्पष्ट कर देता है। अपने बाबा भोलानाथ द्वारा ललितपुर छोड़ने की घटना को उल्लेख करते हुए लेखक उस समय की सामाजिक प्रतिक्रिया को एक स्थानीय कहावत के सहारे प्रस्तुत करता है – "झाँसी गले की फाँसी, दतिया गले का हार / ललितपुर मत छोड़िये, जब तक मिले उधार।" आगे लेखक स्पष्ट करता है कि इन "कहावतों के पीछे एक लम्बा सामूहिक अनुभव विद्यमान रहता है जो जाति-जीवन में न जाने कितने अवसरों की कसौटी पर चढ़ता और अपना खरापन सिद्ध करता है।"[2] आरम्भ में अपनी सात पीढ़ियों की कथा प्रस्तुत करते हुए, अपने विद्यार्थी और किशोर जीवन से जुड़े सबल-दुर्बल पक्षों के वर्णन क्रम में अपने स्वभाव एवं व्यवहारगत गुण-दोषों के प्रकटीकरण, फिर पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु के समय के कारुणिक दृश्यों को रचते हुए लेखक निश्चित ही नीर-क्षीर विवेक का परिचय देता है। इन सभी बिन्दुओं पर अध्याय के अगले हिस्से में विस्तार से चर्चा की जाएगी। अभी इतना जानना पर्याप्त होगा कि इस चार खण्डों में प्रकाशित आत्मकथा के पहले भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में चित्रित लेखक के पूर्वजों से जुड़े प्रसंगों और घटनाओं को पढ़कर उनकी वर्णन सम्बन्धी ईमानदारी पर किसी तरह का कोई अविश्वास भाव मन में नहीं उभरता। आत्मकथा के रूप में यह एक सफल और कृति है।

## 2.1.04. अपनी आत्मकथा की रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में लेखक की राय

अपनी आत्मकथा लिखने से पहले हरिवंशराय बच्चन ने इसकी भरपूर तैयारी की थी। 'आत्मकथा लेखन की मेरी प्रक्रिया' शीर्षक लेख में उन्होंने स्वीकार किया है कि "मैंने अपनी आत्मकथा अपने जीवन के छठे दशक में आरम्भ की और सातवाँ दशक पूरा करते-करते समाप्त कर दी। ... आत्मकथा लिखने से पूर्व मैं हिन्दी और अंग्रेजी में उपलब्ध प्रायः सभी प्रसिद्ध आत्मकथाकारों की कृतियाँ पढ़ चुका था। गिबन, किपलिंग, यीट्स, मानतेन, रूसो, आंद्रे, मारा, सार्त्र, मालरो, (जिन्होंने अपनी आत्मकथा को एंटी-आटोबायोग्राफी का नाम दिया है) टैगोर, गोर्की, गाँधी, नेहरू, आदि; हिन्दी में बनारसीदास से लेकर अपने अग्रज सुमित्रानन्दन पन्त तक सभी आत्मकथाएँ मैंने पढ़ी हैं।"[3] इसी लेख में आगे बच्चनजी कुछ आत्मकथाकारों और उनकी कृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और कुछ कृतियों की सीमाओं की ओर भी संकेत भी करते हैं। फिर गिबन की परिष्कृत शैली पर मुग्ध होते हैं, ताल्स्तोय के परिश्रम के कायल होते हैं और रूसो की दोष-स्वीकृति के हौसले से प्रभावित होने की

बात स्वीकार करते हैं। यीट्स के साहित्य पर पी-एच.डी. करनेवाले बच्चन उनके आत्मकथा लेखन की पद्धति से काफी चमत्कृत होने की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं कि "यीट्स की आत्मकथा पढ़ते हुए 'मेरे दिमाग में एक बिजली सी कौंध गई' और मैंने प्रण किया कि 'अगर कभी मैं अपनी आत्मकथा लिखूँ तो यीट्स मेरे मॉडल हो सकते हैं, क्योंकि वे अपने कवित्वमय जीवन के विषय में भी लिखते हैं और जीवनमय कवित्व के विषय में भी'।" उनकी अभिव्यक्ति की सरलता का उल्लेख करते हुए वे अभिभूत होते हुए बताते हैं कि "जब वे लिखते हैं तो सदा ऐसी कल्पना करते रहते हैं कि टेबल की दूसरी तरफ कोई साधारण सा व्यक्ति बैठा है और वे उसे अपना लेखन-कथन सम्बोधित कर रहे हैं।"[4]

इस लेख के महत्त्वपूर्ण अंश में बच्चन अपनी आत्मकथा लेखन की प्रेरणा के रूप में फ्रांसीसी रचनाकार मानतेन की आत्मकथा की निर्णायक भूमिका का विस्तार से उल्लेख करते हैं। इस अंश में वह मानतेन की आत्मकथा की भूमिका को अपनी रचनाधर्मिता के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते से जान पड़ते हैं। वे लिखते हैं कि "यह किताब ईमानदारी के साथ लिखी गई है। इसके लिखने में मेरा एकमात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी रहा है। ... इसे मैंने अपने सम्बन्धियों और मित्रों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए तैयार किया है। ... मैं अपने गुण-दोष जग-जीवन के सामने रखने जा रहा हूँ, पर स्वभाविक शैली में जो लोकशील से मर्यादित है। मानतेन ने अपने निबन्धों को अपनी आत्मकथा माना और उसमें अपनी जीवन-घटनाओं के साथ अपने भावों, विचारों, चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, दर्शन सबको सम्मिलित कर लिया।"[5] जाहिर है बच्चन किसी रचनाकार के मूल्यांकन के लिए आत्मकथा के साथ उसकी दूसरी रचनाओं को भी शामिल करने के हिमायती प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त बच्चनजी का मानना है कि कवियों एवं कलाकारों को अवश्य ही अपनी आत्मकथा लिखनी चाहिए ताकि काव्य एवं कला-प्रेमियों का रचनाकार के जीवन के विषय में सिर्फ कौतूहल का निवारण ही न हो, बल्कि उसके जीवन प्रसंगों से उसकी कविता या कला पर न्यूनाधिक प्रकाश भी पड़े। उनकी नज़र में ईमानदारी आत्मकथा की पहली शर्त है, किन्तु लेखक को अपनी ईमानदारी का प्रमाण देने की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि कलम के समक्ष ईमानदारी-बेईमानी छुपती नहीं। वे इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "सरलता, स्वाभाविकता और साधारणता जब लेखन में प्रतिबिम्बित या प्रक्षेपित होती है, तभी वह अपने खरेपन की साख भारती है और लोकमानस लेखन में अपनी ही छाया पाकर उसकी ओर झुकता है।"[6] तुलसी के 'जन-रंजन सज्जन प्रिय एहा' उक्ति में वे अपने लेखन की लोक-भूमिका के लिए विश्वास संचित करते हैं। बच्चन को लोकवादी तुलसी और उनकी रामचरितमानस बहुत प्रिय है।

वे आत्मकथा लेखन के क्रम में आनेवाली परेशानियों को भी इस लेख में उद्धृत करते है। उन्हें लगता है कि आत्मकथाकार लिखता तो अपने बारे में है लेकिन वर्णन के क्रम में बहुधा दूसरों के विषय में कहे बगैर अपने बारे में लिखा नहीं जाता। जाहिर है सबकी तरह लेखक भी अपनी ज़िंदगी शून्य या वैक्यूम में नहीं जीता। जीवन का आरम्भ दूसरों के साथ होता है और जीवन के अन्त तक चलता है। लेखक को इस बात का खेद है कि लोकशील के अनुपालन के भरपूर प्रयास के बावजूद दूसरों की स्वतन्त्रता और निजता के साथ हस्तक्षेप करना पड़ा, साथ ही कुछ लोगों की भावना को चोट पहुँची। इसके अतिरिक्त लेखक को वृद्धावस्था में आत्मकथा

लिखना अपेक्षाकृत कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि जीते हुओं के बारे में अप्रिय लिखना जहाँ खतरे से खाली नही, वहीं मृतकों के बारे में अप्रिय कहना ठीक नहीं माना जाता। इसके बावजूद वे स्वीकार करते हैं कि दूसरों के बारे में सत्य कहने के लिए आत्मकथा से बढ़कर दूसरा कोई माध्यम नहीं है। बच्चनजी आत्मकथा की परिधि को भी भलीभाँति जानते हैं कि लेखनी का बड़ा से बड़ा धनी भी अपने जीवन के सभी पक्षों को इसमें उजागर नहीं कर पाता।

गद्य लेखन का अभ्यास बच्चनजी ने अपने कैम्ब्रिज प्रवास के दौरान किया था और अपने शोधकाल में 'प्रवास की डायरी' लिखा था। वहाँ उन्होंने किसी रचना के लेखन से पूर्व ड्राफ्ट तैयार करने की विधि का उपयोग करना सीखा। उन्होंने अपने शोध-थीसिस के सात ड्राफ्ट तैयार किए और कठिन परिश्रम के बाद उसका वांछित रूप तैयार हुआ। बच्चन यह मानते हैं कि यदि अच्छा गद्य लिखना है तो मान्य प्रक्रिया यही है। वे अपनी आत्मकथा लिखने के लिए सुबह पाँच-छह पृष्ठ पेंसिल से लिखते थे और शाम को अन्ततः उसमें से दो पृष्ठ तैयार होता था। इस तरह हजार पृष्ठों की आत्मकथा के लिए उन्होंने कम से कम तीन हजार पृष्ठ लिखे। बेंजामिन के शब्दों में अपने लिखने के उद्देश्य को बच्चन कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि "अगर आप चाहते हैं कि मरणोपरान्त आपको दुनिया जल्दी न भुला दे तो कुछ ऐसा लिखें जो पढ़ने योग्य हो या कुछ ऐसा करें जो लिखने योग्य हो।"

बच्चनजी अपनी आत्मकथा के बारे बड़े बेबाकी से स्वीकार करते हैं कि यह रचना मेरे "मानस-मन्थन का परिणाम है और मुझे कई वर्षों से लग रहा था कि जब तक मैं अपने अन्तर में निरन्तर उठती-स्मृतियों को चित्रित न कर डालूँगा तब तक मेरा मन शान्त नहीं होगा।" आगे वे लिखते हैं कि "मेरा जीवन एक साधारण मनुष्य का जीवन है। ... मुझे फिर से इच्छानुकूल जीवन जीने की क्षमता दे दी जाए तो मैं अपना जीवन जीने के अतिरिक्त और किसी का जीवन जीने की कामना न करूँगा – उसकी सब त्रुटियों, कमियों, भूलों, पछतावों के साथ।"[7] उन्हें यह पूरा विश्वास था कि साहित्य साधारण जनों से जुड़ने और उनके हृदय में स्थान बनाने का सशक्त और महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

## 2.1.05. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की विषय-वस्तु

आत्मकथा में लेखक अपने जीवन को शब्दबद्ध करता है, इसलिए आत्मकथा का विषय स्वयं लेखक का अपना जीवन होता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं जीवन इतना सरल नहीं होता, बल्कि इच्छा और परिस्थितियों के संघात से उसके कई आयाम प्रकट होते हैं। उसमें कई अन्य व्यक्तियों, समाज-संस्कृतियों, स्थानों, घटनाओं, अनुभवों आदि का संयोग होता है और जीवन का यह बोध हर मनुष्य की निजी क्षमताओं के अनुरूप निर्मित होता है। आत्मकथा में लेखक अपने जीवन के अनुभवों को विषय के रूप में चुनता है, फिर अपनी योजनानुसार चयनित प्रसंगों को 'आत्मकथा' का रूप प्रदान करता है। बच्चनजी ने अपनी इस आत्मकथा में अपने जीवन के उन रोचक प्रसंगों को विषय बनाया है जिनकी कुछ विशिष्ट सामाजिक उपादेयता है।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में उन्होंने अपने जन्म से लेकर अपनी पत्नी श्यामा के असामयिक देहावसान तक के अनुभवों को चित्रित किया है। आत्मकथा के इस पहले खण्ड के प्रारम्भ में उन्होंने अपने वंश की अमोड़ा के पाण्डेय से श्रीवास्तव बनने की कथा का रोचक वर्णन किया है। फिर एक के बाद कई प्रसंगों के अन्तर्गत अपनी सात पीढ़ी के कुटुम्ब जनों के स्वभावगत गुणों एवं दुर्गुणों का परिचय दिया है। बच्चन बताते हैं कि उनके जन्म से पूर्व माता सुरसती एवं पिता प्रतापनारायण द्वारा 'हरिवंश पुराण' विशेष रूप से पढ़े जाने के कारण उनका नाम हरिवंश राय रखा गया। बच्चन ने यहाँ अपनी बाल्यावस्था, पारिवारिक जीवन, शैक्षणिक जीवन, किशोरावस्था में कर्कल से निकटता, चम्पा के प्रति आकर्षण और श्यामा के संग विवाह की अपनी अनुभूतियों को चित्रित करने का सुन्दर प्रयास किया है। लेखक अपने वंशजों के साथ-साथ लगातार अपने पारिवार पर काली छाया की तरह मँडराते रहने वाली आर्थिक परेशानियों के कारणों और परिणामों को कई कोणों से देख-परखकर पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। श्यामा की लम्बी और लाईलाज बीमारी के बाद आधी रात में प्राण त्यागने के पलों में अपने अनुभवों को चित्रित करते हुए मानो हृदय निकाल कर रख देता है।

वैसे इस आत्मकथा का आरम्भ लेखक के पूर्वज 'मनसा की कथा' से होता है। मनसा परतापगढ़ जिले के 'बाबूपट्टी' गाँव के निवासी थे। गरीब, दुखी और निस्संतान मनसा के तिलहर के रामानन्द सम्प्रदाय के एक सन्त के आशीर्वादस्वरूप तीन पुत्रों की प्राप्ति का वरदान और तीन बर्तन प्राप्त हुए। फिर गुरु सन्त महाराज के आशीर्वाद के अनुसार कुछ समय बाद तीन लड़के हुए, जिनके योग से तीन परिवार बने और तीन पीढ़ियों तक सबका कुटुम्ब साथ-साथ रहा। चौथी पीढ़ी में सबका परिवार अलग-अलग हो गया। मनसा की छठी पीढ़ी में लेखक के पिता का जन्म हुआ। लेखक के परबाबा का नाम मिट्ठूलाल था। उनकी बहन का नाम राधा था, जो विवाह के कुछ दिनों के बाद ही विधवा होकर सदा के लिए मायके आ गई थी। उनके कठिन जीवन के वर्णन के क्रम में लेखक ने तत्कालीन भारत में विधवा की सामाजिक दुर्दशा का आकलन किया है। लेखक के परबाबा मिट्ठूलाल नायब कोतवाल या कोतवाल के नायब थे। वे शारीरिक रूप से बहुत हृष्ट-पुष्ट थे। उनके पुत्र भोलानाथ कद में छोटे लेकिन शरीर से मजबूत थे। मरते समय मिट्ठूलाल ने अपने बेटे भोलानाथ से यह वचन लिया कि वह राधा को आश्रय देता रहेगा और राधा की एकमात्र बेटी महारानी का विवाह भी करेगा। भोलानाथ ने पिता को दिए वचन को निभाया और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद महारानी का विवाह किया लेकिन दुर्भाग्य से कुछ समय के बाद ही उसके पति की भी मृत्यु हो गई और वह भी ससुराल से प्रताड़ित होकर उन्हीं के पास वापस आ गई। भोलानाथ बाद में ललितपुर जेल में दारोगा बने।

भोलानाथ के पुत्र प्रतापनारायण का विवाह मुंशी ईश्वरीप्रसाद की पुत्री सुरसती देवी के साथ हुआ। प्रतापनारायण 'पायनियर प्रेस' में क्लर्क थे। इन्हीं के घर 27 नवंबर 1907 को छठी संतान के रूप में हरिवंश राय का जन्म हुआ। लगातार दो बच्चों के जन्म के बाद मृत्यु के भय से आक्रान्त होकर उनकी माँ ने टोन-टोटके के प्रभाव में आकार एवं पड़ोस की किसी बड़ी-बूढ़ी के आग्रह पर उन्हें स्थानीय लछमिनिया चमारिन चम्मा के हाथों पाँच पैसे में बेचकर बतासे खा लिए, बाद में इसी कारण उनका नाम बच्चन पड़ा। इसी नाम को बाद में लेखक ने अपने साहित्यिक नाम के साथ जोड़ लिया। बच्चन को बचपन से ही पढ़ने का शौक था। जहाँ मुहल्ले के अन्य

बच्चे खेलने में लीन रहते, वहीं बच्चन एकान्त में बैठकर पढ़ने में लगे रहते थे। किशोरावस्था से युवावस्था की तरफ बढ़ते हुए बच्चन ने अपने एक मित्र कर्कल और उससे अन्तरंगता का मोहक वर्णन किया है। उनका कथन है कि "कर्कल का सान्निध्य मुझे न मिलता तो शायद मैं वह न बन पाता, जो मैं बन सका।" कर्कल का चम्पा से विवाह हो जाने के बाद भी दोनों मित्रों के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया था, बल्कि वे और अधिक निकट आ गए थे। कुछ समय के बाद बीमारी की वजह से कर्कल का देहान्त हो गया और चम्पा की कठिन परिस्थितियों में लेखक कब चम्पा के बहुत निकट जा पहुँचा, उसे आभास ही नहीं हो पाया। बाद में चम्पा और बच्चन के तरल सम्बन्धों पर भी समाज की क्रूर प्रतिक्रिया हुई और बच्चन उद्विग्न से रहने लगे। उसी वर्ष सम्पन्न दसवीं की परीक्षा में वे असफल भी हो गए। बाद में चम्पा अपने सास के साथ तीर्थ पर चली गई और हमेशा के लिए अपने मायके चली गई, जहाँ कुछ दिनों के बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।

मई 1926 में उन्नीस वर्ष की आयु में बच्चन का विवाह चौदह साल की श्यामा के साथ हुआ। शीघ्र ही वे श्यामा के साथ दाम्पत्य प्रेम की गहराई में उतरते चले गए और इस आत्मकथा में उन्होंने खुले मन से यह स्वीकार किया है कि श्यामा जीवनपर्यन्त उनकी स्मृतियों में बनी रहीं और उनकी रचनाओं पर श्यामा के साथ जीये-भोगे गए क्षणों की गहरी छाप है। उन्होंने अपनी पत्नी श्यामा का नाम 'जॉय' रखा था। श्यामा अपनी माँ की क्षय रोग में सेवा करते-करते खुद भी बीमार रहने लगी। इस बीच आर्थिक अभावों से जूझते हुए लेखक ने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। बीमार श्यामा का गौना कराके बच्चन उन्हें अपने घर ले आए। उसे हमेशा ज्वर रहता था और उनकी उस अवस्था में बच्चन बहुत सेवा करते थे। उन्हीं दिनों बच्चन ने इलाहाबाद हाईस्कूल में अध्यापक के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया था।

सन् 1933 की गर्मियों में 'रुबाइयत उमर खय्याम' का अनुवाद किया। मधुशाला का लेखन पूरा होने के बाद प्रकाशकों के टालमटोल वाले रवैये से बच्चन काफी परेशान रहे, किन्तु सन् 1935 में लेखक के अपने ही अथक प्रयास से मधुशाला प्रकाशित हुई और चारों तरफ बच्चन की धूम मच गई। इस बीच एक बड़ी रोचक घटना घटी। महात्मा गाँधी से किसी ने शिकायत कर दी कि जिस सम्मेलन के आप सभापति हों, उसमें मदिरा का गुणगान किया जाए बड़े आश्चर्य की बात है। बाद में गाँधीजी ने बच्चन को बुलाया, वे डरते हुए पहुँचे तथा छाँटकर 'मधुशाला' के दो सार्थक छन्द सुनाए। सुनने के बाद गाँधीजी बोले – "इसमें तो मदिरा का गुणगान नहीं है।" गाँधी से मिलकर उन्हें बहुत बल मिला और आगे के कई काव्य-मंचों पर उन्होंने निर्भीक् होकर कविता पाठ किया। उन्हीं दिनों बच्चन की पत्नी श्यामाजी की तबियत बहुत खराब हो गई और कुछ समय बाद 17 नवंबर 1936 को उनकी जीवनसाथी श्यामा का देहान्त हो गया। इस घटना से कवि बच्चन भीतर से बहुत अधिक टूट गया। पत्नी की अर्द्ध-रात्रि में मृत्यु फिर बिना राम्नाम सत्य के उच्चारण के श्मशान घाट तक की यात्रा, दाह-संस्कार और परिवार जनों के शोक-सन्तप्त अवस्था का बहुत ही हृदय-विदारक वर्णन बच्चनजी ने 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के अन्तिम पृष्ठों में किया है। कुल मिलाकर यह पूरा खण्ड पठनीय है।

## 2.1.06. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में अभिव्यक्त विचार

साहित्य की अन्य विधाओं की तरह आत्मकथा भी समाज के सरोकारों से आवश्यक रूप से जुड़ी होती है। साहित्य का समाज से जुड़ाव उसमें व्यक्त भावों एवं विचारों के कारण होता है, इसलिए सचेत साहित्यकार भाव या विचारशून्य रचना में कभी प्रवृत नहीं होता। वस्तुतः किसी रचनाकार की श्रेष्ठता का आकलन उसकी रचनाओं में व्यक्त भाव और विचारों की सामाजिक उपादेयता से किया जाता है। इन भावों एवं विचारों के माध्यम से हमें यह पता चलता है कि व्यक्ति और समाज के बारे में लेखक की क्या समझ है ? अपने जीवनकाल में घटित होने वाले सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में वह क्या सोचता है और उनमें निजी तौर पर किस प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है ?

इस आत्मकथा में लेखन-क्रम में स्वाभाविक रूप से घुले-मिले विचार, चिन्तन-मन्थन, मान्यताओं आदि की पड़ताल करने से पूर्व लेखक का एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य ध्यातव्य है। बच्चनजी ने खुद एक स्थान पर लिखा है कि अगर दुर्भाग्यवश उनके पुस्तकालय में आग लग जाए तो वे जिन पुस्तकों को हर हाल में बचाना चाहेंगे वे हैं – बुद्धचर्या, भगवद्गीता, गीतगोविन्द, कालिदास ग्रन्थावली, रामचरितमानस, बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट), कंप्लीट शेक्सपियर, पोएटिकल वर्क्स ऑफ़ यीट्स, दीवाने-ग़ालिब, रुबाइयात उमर खय्याम, वार एंड पीस और ज्यो क्रिस्ताफ। वैसे तो इस सूची पर विचार करते हुए कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, किन्तु इस सूची से आत्मकथाकार बच्चन की रुचि और साहित्यिक मिज़ाज का सहज ही आभास हो जाता है। इस सूची से रचनाकार के साहित्यिक-सामाजिक सरोकार का एक खाका आसानी से खींचा जा सकता है। इसमें दो राय नहीं कि बच्चन भगवद्गीता और रामचरितमानस के जीवन-दर्शन से बहुत प्रभावित थे। आत्मकथा के पहले खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में परिवार के ज्यादातर सदस्यों की अकाल मृत्यु के बाद उपस्थित कठिन परिस्थितियों के साक्षात्कार के क्रम में लेखक की मनःस्थिति और उससे जूझने की शक्ति का वर्णन गीता के कर्मयोग से बहुत भिन्न नहीं है। आमतौर पर देखा जाता है कि सामान्य मनुष्य अपने जीवन की समस्याओं में उलझकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। फिर जीवन की विकट परिस्थितियों से डरकर पलायन करने का मन बना लेता है, परन्तु बच्चन की आत्मकथा गीता और भारतीय चिन्तनधारा के कर्म-मार्ग को प्रस्तावित करती प्रतीत होती है।

वैसे तो 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में मनुष्य जीवन से सम्बद्ध लगभग सभी क्षेत्रों को समाहित किया गया है, किन्तु अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर इस रचना में व्यक्त विचारों को सामाजिक विचार, देश की स्वतन्त्रता और आन्दोलन से जुड़े विचार, धर्म-दर्शन सम्बन्धी विचार, साहित्य और भाषा सम्बन्धी विचार आदि श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं।

इस रचना में अपने परिवार और सम्बन्धियों का चित्रण करते हुए बच्चन भारतीय सामाजिक जीवन के जाति व्यवस्था, परिवार व्यवस्था, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विधवा स्त्रियों की दशा, सामाजिक कुरीतियाँ और अन्धविश्वास, शिक्षा व्यवस्था जैसे कई पहलुओं का विश्लेषण करते हुए इन विषयों पर अपनी राय भी व्यक्त करते हैं। बच्चनजी आत्मकथा के आरम्भ में अपने पूर्वजों के उद्गम स्रोतों की पड़ताल के क्रम में 'कायस्थ' जाति के

सन्दर्भ में प्रचलित कई संस्कृत श्लोकों और स्थानीय भाषा अवधी में विद्यमान लोकोक्तियों को उद्धृत करते हैं, जिसमें वे कायस्थों को शूद्र वर्ण के करीब रखे जाने का मामला उठते हैं। फिर जाति सम्बन्धी जटिल अवधारणा का संकेत भी करते हैं कि पुनर्जागरणकाल में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में कायस्थों को शूद्रवत् व्यवहार वाली स्थिति कहलाने लगी और जाति की व्युत्पति एवं इतिहास सम्बन्धी कई शोध पुस्तकें लिखी गईं जिसमें कहीं कायस्थों को ब्राह्मण तो कहीं क्षत्रिय सिद्ध किया जाने लगा। कुछ ने अपने नाम के आगे 'सिंह' तो कुछ ने 'वर्मा' लगाना शुरू कर दिया। अपने विद्यार्थी जीवन में बच्चनजी ने भी कुछ दिनों तक अपने नाम के साथ 'वर्मा' जोड़ा था, किन्तु शीघ्र ही उन्हें जाति-उपजाति की व्यर्थता का आभास हो गया और उन्होंने जातिसूचक नाम की निरर्थकता का बोध हो गया। वे जातीय द्वेष की चर्चा भी करते हैं कि विद्या, ज्ञान, चिन्तन और बुद्धि-कुशाग्रता में ब्राह्मणों ने कायस्थों को अपना प्रतिद्वन्द्वी पाया तो उनके मन में स्पर्धा, प्रतियोगिता और ईर्ष्या के भावना से उद्वेलित होकर कायस्थों की निन्दा करनी शुरू कर दी यथा –

**कायस्थेनोदरस्थेन मातुर्मासं न भक्षितम्।**
**न तत्र करुणा हेतुः हेतुस्तत्र अदंतता।**

अर्थात् कायस्थ इतना क्रूर होता है कि उसने पेट में रहते हुए अपनी माँ का मांस क्यों नहीं खाया, यह आश्चर्य की बात है। जातीय द्वेष से जुड़े इस तरह के कई प्रसंग हैं और इन प्रसंगों में कई सबल तर्कों और महापुरुषों के स्वभावगत विशेषताओं के उदाहरणों द्वारा लेखक ने जातिगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर जीने की सलाह देते हैं।

सामाजिक कुरीतियों के वर्णन के क्रम में उन्हें यह प्रतीत होता है कि हिन्दुओं के रस्म, रिवाज न जल्दी बदलते हैं, न बन्द होते हैं, लेकिन जड़ और गैर-ज़रूरी कर्मकाण्डों पर वे तीक्ष्ण प्रहार ज़रूर करते हैं। उदाहरण के लिए अपने परिवार में 'विन्ध्याचल की देवी' के प्रांगण में बाल उतरवाने की प्रथा का उल्लेख करते हैं और वहाँ प्रचलित बलि-प्रथा को अनुचित घोषित करते हैं, उन्हें इस बात का संतोष है कि अब कुछ लोगों ने बकरे की जगह नारियल की सांकेतिक बलि देना शुरू कर दिया है। स्त्रियों की दीन-हीन अवस्था पर भी लेखक कई स्थानों पर चर्चा करता है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि "नारी को पूजने का आदर्श बनाकर पुरुष ने अपने को कम नहीं पुजवाया और पीटने का अधिकार हाथ में रखकर शायद कम पिटा भी नहीं – पिटाई हमेशा शरीर की ही नहीं होती। ... सारे प्रयोगों का औसत निकाला जाए तो प्रायः स्त्री पुरुष से दबी रही है और इसका मूल कारण है उसकी आर्थिक परतन्त्रता।"[8] स्त्री-पुरुष के इस असमानता को बताते-बताते वे यहाँ तक प्रस्तावित करते प्रतीत होते हैं कि जब तक परिवार व्यवस्था विघटित नहीं हो जाती और कृत्रिम गर्भाधान समाज द्वारा स्वीकृत नहीं हो जाता तब तक स्त्री-पुरुष के संतुलित सम्बन्धों की खोज जारी रहेगी। इसके अतिरिक्त आत्मकथा में सामाजिक कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों के कई किस्से शामिल किए गए हैं, जिनके समानान्तर लेखक बड़ी उदारता से समाज के लिए इन्हें विषाक्त घोषित करता है और इनके सामाजिक दुष्परिणामों की ओर संकेत करता है। लेखक शहर की तुलना गाँवों से करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि शहरों में जातिगत बन्धनों के ढीले होने के कारण व्यक्तिगत विशिष्टताओं के उभरने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। निश्चित ही सामाजिक मुद्दों से जुड़े लेखक के विचार मानवीय सम्बन्धों की महता से ओत-प्रोत है।

बच्चन की आत्मकथा के केन्द्र में उनका अपना जीवन और परिवार है, इसलिए आत्मकथा के इस खण्ड में राजनैतिक प्रसंगों को अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है। यहाँ महात्मा गाँधी या राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा की तरह राजनैतिक चर्चाएँ नहीं है। फिर भी भारतीय आजादी के निर्णयकारी काल के समानान्तर रचे जाने के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा स्वाभाविक रूप से हो गई है । तत्कालीन आन्दोलनों और राष्ट्रीय नेताओं के त्याग और संघर्ष पर लेखक टिप्पणी करता है। जलियाँवाला बाग की घटना से पूरा देश व्यथित था, बच्चन का बालमन भी बहुत व्यथित होता है। वे शासन-व्यवस्था के सन्दर्भ में सार्थक प्रश्न पूछते हैं कि "क्या सरकार जब चाहे जनता पर गोलियाँ चला सकती है ? क्या दुनिया में सब जगह शासक और शासितों में यही जोरावर और कमजोर का सम्बन्ध है ? क्या सबल दुर्बल को जब चाहेगा ऐसे ही सताएगा ? क्या दुर्बल के पास उससे बचने का कोई उपाय नहीं ?"[9] इस घटना के कुछ दिनों के बाद ही लोकमान्य तिलक के मृत्यु का समाचार सुनकर बच्चन काफी दुखी होते हैं और प्रयाग में उनके अस्थि -कलश विसर्जन में भाग लेकर तीर्थयात्रा का अनुभव करते हैं। समय आने पर वे गाँधीजी के राष्ट्रव्यापी स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन करते हुए पढ़ाई छोड़ने तक की कोशिश करते हैं। गाँधी की दांडी यात्रा में भाग लेने का मन बनाते हैं और एम.ए. प्रीवियस की परीक्षा बेमन से देते हैं, फिर अन्तिम वर्ष की पढ़ाई छोड़ने का निर्णय लेते हैं। वे राष्ट्रीय चेतना से आवेशित होकर जुलूसों में नारे लगाते हैं, नेताओं के जन-सभाओं में शामिल होते हैं, घर में चर्खा चलाते हैं, गाँवों में जाकर जनता से जागरूक होने का आह्वान करते हैं, स्वतन्त्रता सेनानी श्रीकृष्ण और प्रकाशो को अपने घर में शरण देते हैं, लेकिन पारिवारिक चिन्ताओं के कारण पूर्णतः समर्पित होकर देशसेवा से नहीं जुड़ पाते। लेखक को मलाल है कि वह पारिवारिक उलझनों के कारण देश के लिए वह कार्य नहीं कर पाए, जिसकी कल्पना वे साहित्य और विशेषकर अपनी कविताओं में करते रहे।

लेखक मूलतः दार्शनिक होता है, क्योंकि वह मनुष्य के जीवन और जगत् के सम्बन्धों में विद्यमान सूक्ष्म परतों की सुधि लेकर समाज को सकारात्मक दिशा प्रदान करता है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म भारतीय संस्कृति के आवश्यक तत्त्व हैं। जैसा कि पूर्वोक्त है कि बच्चन बुद्धचरित, गीता और रामचरितमानस के नियमित अध्येता रहे हैं और अंग्रेजी के अतिरिक्त उन्होंने औपचारिक पढ़ाई के लिए दर्शनशास्त्र के तत्त्व मीमांसा (मेटाफिजिक्स) और मॉडर्न एथिक्स विषय को चुना था, ताकि मानव की समस्याओं का उचित समाधान देने की प्रक्रिया को समझ सकें। यही वजह है कि इस आत्मकथा में भारतीय धर्म-दर्शन सम्बन्धी कई मुद्दों पर उन्होंने खुलकर अपनी राय व्यक्त की है। जैसे भारतीय जाति एवं वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत, विवाह-प्रथा, विधवा जीवन की सुचिता आदि को धर्म से छद्म रूप में जोड़ने का वे पुरजोर विरोध करते हैं। इस सन्दर्भ में ब्राह्मणों के स्वार्थ और मठ-मन्दिरों की विभेदकारी भूमिका की कड़ी भर्त्सना करते हैं। आत्मकथा के शुरुआती हिस्सों में वे जातियों की उत्पति सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्त की सत्यता पर घोर आपत्ति दर्ज करते हैं। वे विवेकानन्द के जीवन की घटना को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि किस प्रकार बंगाली ब्राह्मणों ने उनकी ख्याति से ईर्ष्या करते हुए उन्हें अपमानित किया। "अमरीका जिसको सम्मान दे रहा है, भारत में तो उसे शूद्र समझा जाता है और उसे धर्म-प्रचार करने और धर्म के विषय में बोलने का कोई अधिकार नहीं हैं।"[10] जाहिर है इस तरह के उदाहरणों के द्वारा बच्चन भारत की वर्ण आधारित जातीय व्यवस्था में विद्यमान असमानता के भाव समझने का प्रयास करते हैं और इन्हें अनुचित बताते हैं।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के वृत्तान्त को पढ़ते हुए आत्मा की सत्ता, जीवन-मरण, दुःख-विषाद, आत्मघात आदि से सम्बन्धित कई गहन मुद्दों पर लेखक ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। अपने पहले लेख में ही बच्चन ने हैकल के मनुष्य में आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार करने को कड़ी चुनौती देते हुए लिखा था कि "यह योरोपीय संसार के लिए आश्चर्य करने की बात हो सकता है, किन्तु हिन्दू तो अनादि काल से सब जीवों में आत्मा की सत्ता मानते हैं – आत्मा को अगर इस युग में Individuality (व्यक्तित्व) मान लें तो क्या हर्ज है ! प्रकृति इतनी विविधामयी है कि उसने मनुष्य, पशु-पक्षी तो दूर एक-एक घास-पात को अलग व्यक्तित्व दिया है।"[11] आगे वे प्रकाशो और श्रीकृष्ण के प्रकरण में लगातार सामाजिक-आर्थिक मदद के बाद जब उनमें जीवन के प्रति सकारात्मक बदलाव नहीं देखते तो काफी दुखी हो जाते हैं। वे बड़ी निडरता से कहते हैं कि "जीवन के मारे हुओं के प्रति मेरे मन में संवेदना भले ही हो; प्रशंसक हूँ मैं जीवन से जूझनेवालों का ही।" बच्चनजी स्वीकार करते हैं कि "कर्म स्वभाव का प्रतिबिम्ब है, अकर्मण्य दृष्टिकोण मुझे अच्छा नहीं लगता।"[12] बाद में प्रकाशो और श्रीकृष्ण जब यमुना में डूबकर जान देने का नाटक करते हैं तो लेखक की आत्मा क्षुब्ध हो जाती है और वे आत्मघात के विचार की कड़ी भर्त्सना करते हैं – "जीवन की कितनी ही बड़ी चुनौती पर आत्महत्या करने की बात मैं नहीं सोच सकता, जो सोचता है वह मेरी दृष्टि में निरात्म है। मैं नरक में वास कर सकता हूँ, निरात्म का संग नहीं निभा सकता।"[13] ध्यान रहे, धर्म और दर्शन सम्बन्धी लेखक के ये विचार अपने स्वरूप में वस्तुपरक और विश्लेषणात्मक कम, भावनात्मक अधिक हैं, इसलिए कई जगह ये विचार नितान्त वैयक्तिक प्रतीत होते हैं। इतना ज़रूर है कि लेखक जीवन से जुड़े इन ज़रूरी मुद्दों से भागता नहीं, बल्कि उससे जूझता है और कई स्थानों पर टकराता भी है। उदाहरण के लिए मृत्यु जैसे जटिल मुद्दे पर जहाँ लोग ईश्वर की इच्छा मानकर अक्सर मौन हो जाते हैं, वहाँ लेखक खुलकर अपने विचार व्यक्त करता है और अपनी पत्नी की मृत्यु को आर्थिक दुर्बलता के कारण अच्छी चिकित्सा व्यवस्था न मिल पाने को जिम्मेदार मानता है। फिर जीवन की वास्तविकता को लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है – "पर दुनिया दुनिया है, ... इधर लाश उठती है, उधर दुनिया के काम यथावत होने लगते हैं। ... शरीर रहने तक मनुष्य को क्या-क्या सहना पड़ता है। शरीर छूटा कि सारे दुःख-दर्द, चिन्ताएँ-व्यथाएँ, शोक-संताप विलुप्त।"[14] उन्हें अपनी पत्नी की मृत्यु की गहन पीड़ा है, पर वे जीवन की जटिलता को भी जानते हैं। वे अपनी आत्मकथा में इन विचारों को व्यक्त करते हुए कम जीते, भोगते ज्यादा दिखाई देते हैं।

बच्चन मूलतः साहित्यिक प्राणी हैं, इसलिए आत्मकथा के पहले खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के अन्तिम हिस्से में वे अपनी रचनाओं, तत्कालीन साहित्यिक परिवेश, प्रकाशन सम्बन्धी दुरूहताओं, मंचीय कविताओं के स्वरूप, कविता की भाषा और वाचन से जुड़े कई प्रसंगों की चर्चा करते हैं। वैसे भी पूरी आत्मकथा का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि इस रचना में बच्चन के पारिवारिक जीवन में निर्धनता की संकट से अथक लड़ते जाने, जीविका के लिए कड़े संघर्ष, रोग-मृत्यु की अनवरत विद्यमान काली छाया से निकलने के कठोर यत्न आदि से सम्बद्ध कई विकट घटनाओं का चित्रण है। इनके माध्यम से बच्चन अपने पाठक को जीवन में आगे बढ़ते रहने और हिम्मत न हारने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार मानवीय संवेदनाओं के प्रति करुणा, जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में सतर्कता, सम्बन्धों के लिए समर्पण का भाव, राष्ट्र-सेवा में गहरी आस्था, कर्म के लिए निष्ठा एवं अनुशासन का पालन, दायित्व-बोध, रचना के लिए प्रतिबद्धता का भाव और

निरन्तर प्रयत्नशीलता से युक्त उनका व्यक्तित्व उनके साहित्य को लोकप्रिय बना देता है। वे "कोशिश करने वालों की कभी हार नहीं होती" का विचार अपनी आत्मकथा में भी रचते दिखाई पड़ते हैं।

'अपनी आत्मकथा की रचना प्रक्रिया के बारे में लेखक की राय' शीर्षक अध्ययन के क्रम में बच्चन के साहित्यिक विचारों पर विस्तार से चर्चा की गई है। अतः यहाँ उनके साहित्य सम्बन्धी कुछ अन्य विचारों को संकलित करने प्रयास किया गया है। बच्चन अपनी आत्मकथा में अपने कवि-व्यक्तित्व की चर्चा बड़े चाव से करते हैं। उन्होंने कविता को 'गहन भावों-विचारों की, गहन क्षणों की सहज वाणी' या 'अगम अनुभूतियों की सुगम अभिव्यक्ति' माना। वे रचना के क्षण में कवि की मनोस्थिति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि "सृजन के क्षण जीवन को जिस गहराई, जिस ऊँचाई से देखते हैं वह सर्जक के लिए भी अज्ञेय और आश्चर्य का विषय है।" इसके साथ ही वे कला के रचना-क्षण का अनुभव बताते हुए लिखते हैं कि – "कला अनुभूतियों का किसी इन्द्रिय-ग्राह्य माध्यम में रूपान्तरण है। यह रूपान्तरण ही वह जादू है जो अनुभूतियों को मस्तिष्क के उस स्तर से उठाकर, जहाँ वे भोगी जाती हैं, उस स्तर पर ले जाता है जहाँ उनका आस्वादन किया जाता है। ... भोगने-झेलने की अस्थिरता-कटुता कला के माध्यम से वह पूर्णता प्राप्त करती है जो मनुष्य को अधिक-से-अधिक संतोष देती है। शोक की अनुभूति से शोकगीत रचना और शोकगीत से आनन्द-संतोष और शान्ति की उपलब्धि कर लेना विष को मधुरस बना देना है और यह कला का सबसे बड़ा चमत्कार है।"[15] अर्थात् कला एक तरफ जहाँ रचनाकार के लिए तो दूसरी तरफ सहृदयों के लिए आनन्दप्रदायिनी होती है। सबसे मजेदार बात यह है कि आत्मकथा की प्रस्तुति के क्रम में थोड़े-थोड़े अन्तराल के बाद कथा-प्रसंग के अनुरूप वे शास्त्रीय, लोक-प्रसिद्ध और ज्यादातर स्थानों पर अपनी ही काव्य-पंक्तियों को उद्धृत करना नहीं भूलते। उनके अंदर का कवि हृदय रह-रहकर छलक पड़ता है। फिर भी उनके साहित्यिक विचारों की प्रखरता वहाँ अधिक दिखती है जहाँ में रचना के सरोकार पर अपनी राय व्यक्त करते हैं। वे तुलसी की तरह रचनात्मकता के लिए 'जन-रंजन' और सज्जन-प्रिय' होने की शर्त को आवश्यक मानते हैं। "कवि की समस्त कृतियों को एक ही कृति मानकर पढ़ना चाहिए – यह उसका वाङ्मय शरीर है – अलग-अलग रचनाओं को देखना जैसे, उसके हाथ-पाँव, नाक-कान को काटकर देखना है। प्रत्येक अंग का महत्त्व सर्वांग के साथ है, सर्वांग का महत्त्व प्रत्येक अंग के साथ।"[16] अर्थात् बच्चनजी रचनाकार के समेकित मूल्यांकन के हिमायती हैं। इस आत्मकथा में बच्चन बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक के काव्य-मंचों की भी खूब चर्चा करते हैं। वे अपने समय के प्रसिद्ध रचनाकारों से अपने सम्बन्धों का भी आत्मीय चित्र उकेरते हैं, जिनमें सुमित्रानन्दन पन्त, शमशेर, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि प्रमुख हैं।

## 2.1.07. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की भाषिक संरचना और शिल्प

आत्मकथा में अपने जीवन का ऐतिहासिक परिचय देना लेखक का उद्देश्य नहीं होता, बल्कि अपने मूल स्वरूप में आत्मकथा एक साहित्यिक विधा है। अतः साहित्य की मान्य शर्तों पर उसे खरा उतरना पड़ता है। साहित्य की प्रत्येक विधा की अपनी एक भाषिक संरचना और अभिव्यक्ति की शैली होती है। चर्चित रचनाओं की भाषा सामान्यतः सरल होती है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की भाषा की मुख्य विशेषताएँ उसकी सरलता, सहजता, स्वाभाविकता और निष्प्राणता से जुड़ी हैं। यथा – "कहते हैं, आज से लगभग पाँच-छह सौ बरस पहले

की बात है, उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले के अमोढ़ा नामक ग्राम में पाण्डेय उपजाति का एक बड़ा ही तपोनिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण रहता था। उसे एक कन्या थी जो अत्यन्त रूपवती थी, और जिसके सौन्दर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। उन्हीं दिनों अमोढ़ा से कुछ मील के फ़ासले पर डोमिन दुर्ग नामक एक स्थान था जिसका राजा उग्रसेन, जाति का डोम था। बस्ती ज़िले में अब भी एक स्थान डोमीनियम बुर्ज कहलाता है। हो सकता है, इस नाम में डोमिन दुर्ग की ही कोई यादगार अटकी रह गई हो। डोम राजा ने जब ब्राह्मण-कन्या के अनिंद्य रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनी तब उसने ब्राह्मण के पास यह सन्देश भेजा कि वह अपनी बेटी का ब्याह उसके साथ कर दे। ब्राह्मण के सामने बड़ा भारी धर्म-संकट उपस्थित हो गया। 'आपत काल परखिए चारी : धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।' उसने परिणाम की कुछ भी परवाह किए बिना डोम राजा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस पर डोम राजा ने दल-बल के साथ अमोढ़ा पर चढ़ाई कर दी और ब्राह्मण के पूरे परिवार को पकड़कर बंदीगृह में डाल दिया।

बंदीगृह में ब्राह्मण कन्या को एक तरकीब सूझी। उसने डोम राजा से कहला भेजा कि मैं अपने माता-पिता को कष्ट-मुक्त देखने के लिए तुम्हारे साथ विवाह करने को तैयार हूँ मगर विवाह से पूर्व मैं अयोध्या की तीर्थ-यात्रा कर आने की आज्ञा चाहूँगी, मेरे माता-पिता को मेरे लौटने तक बन्धक के रूप में बंदी रक्खा जा सकता है। डोम राजा इस पर सहमत हो गया और कन्या तीर्थ-यात्रा के लिए छोड़ दी गई।

उन दिनों अयोध्या अवध प्रान्त की राजधानी थी, जिसके सूबेदार राय जगतसिंह थे। जगतसिंह श्रीवास्तव कायस्थ थे। बड़े ही धर्मात्मा, नीति-कुशल, न्याय-परायण और पराक्रमी। अयोध्या पहुँचकर ब्राह्मण-कन्या राय साहब के समक्ष उपस्थित हुई, और उसने उन्हें अपनी और अपने परिवार की विपदा सुनायी। अपने पूर्वजों के मूल-स्थान की देवी स्वरूपा उस कुमारी कन्या का परित्राण करने की राय साहब ने प्रतिज्ञा की – बस्ती का पुराना नाम, कहते हैं, श्रावस्ती था जिसे पुराणों के अनुसार राजा श्राव ने बसाया था, और मूलतः वहीं से आने के कारण वहाँ के कायस्थ श्रीवास्तव कहलाए। राय साहब ने एक बड़ी सेना सजाकर डोमिन दुर्ग पर चढ़ाई कर दी, डोम राजा के पूरे परिवार का सफ़ाया कर दिया, और ब्राह्मण को कारागार से मुक्त करके उसकी तपःपूत कन्या उसे सौंप दी।

राय साहब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए उस निर्धन और असहाय ब्राह्मण के पास कुछ भी नहीं था। उसने अचानक यज्ञोपवीत की ओर देखा और उसे उतारकर राय साहब के कन्धे पर डाल दिया, बोला "इसके द्वारा मैं अपना 'पाण्डेय' आस्पद आपको प्रदान करता हूँ, और आपको ब्राह्मण बनाकर अपनी ब्राह्मण-कन्या आपको समर्पित करता हूँ। ब्राह्मण ने इसी अवसर पर राय साहब से यह वचन लिया कि उनके वंश में कोई मदिरा-पान नहीं करेगा और यदि करेगा तो कोढ़ी हो जाएगा। जगतसिंह के वंशज 'अमोढ़ा के पाण्डे' के नाम से प्रसिद्ध हुए और दो-तीन शताब्दियों तक अमोढ़ा के ही निवासी रहे। अमोढ़ा किसी समय छोटा-मोटा ग्राम न होकर पूरा जनपद था जिसमें सैकड़ों ग्राम थे।

किसी कारण, किसी समय – शायद आज से भी दो सौ साल पहले – अमोढ़ा के पाण्डे लोगों के बहुत-से परिवार अपना मूल स्थान छोड़कर अवध के विभिन्न नगरों-गाँवों में जा बसे। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि उनका परिवार भी मूलतः अमोढ़ा का था, और जीविका की तलाश में जीरादेई-

बिहार जा पहुँचा था – एक बार बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझसे कहा था कि वे अपने पूर्वजों की भूमि अमोढ़ा की यात्रा भी कर आए थे। शायद अन्य परिवार भी इसी कारण निकले हों, पर सहसा अमोढ़ा से जीविका के साधन विलुप्त कैसे हो गए, इसका किसी को पता नहीं। हो सकता है कोई भारी अकाल पड़ा हो, क्योंकि अकाल के समय जनता प्रायः एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान के लिए चल पड़ती है। सम्भव है किसी राजा या सामन्त ने अमोढ़ा पर आक्रमण किया हो। निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

बस्ती, हरदोई, लखनऊ, गोंडा, बहराइच, सीतापुर, सुल्तानपुर, फ़ैज़ाबाद, परताबगढ़ और इलाहाबाद में श्रीवास्तव कायस्थों के बहुत-से परिवार ऐसे हैं जो अपने को 'अमोढ़ा के पाण्डे' कहते हैं।"[17] दो-ढाई पृष्ठों की इस कथा को पढ़ते हुए पाठक कहानी-पाठ का अनुभव करता है। पर यह लेखन कार्य इतना आसान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सरल-स्वभाविक लिखना कठिन साधना के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। जितनी सरल-सहज यह आत्मकथा शुरू में जान पड़ती है, सचमुच उतनी है नहीं, इसमें बड़े पेंच और फंदे हैं, परत के भीतर कई-कई परतें हैं। दुनिया में ज्यादा बिकने वाली पुस्तकों की भाषा सादी -सरल ही होती है। 'बाइबिल' इसका प्रमाण है, पर बहुत से लेखकों ने वैसा लिखने का प्रयास किया और खुद को अक्षम पाया। अतः इस आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसका गद्य अद्‌भुत और अपूर्व है। भला "मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है", "इसलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो", "मेरे नयन भरे आते हैं" – जैसी पंक्तियों का रचयिता इतना सजीव गद्य नहीं लिखेगा तो कौन लिखेगा ? ठीक ही कहा गया है कि 'गद्य ही कवियों की कसौटी है।'

चूँकि आत्मकथा की भाषिक संरचना कथा-साहित्य के बहुत करीब होती है, इसलिए वर्णन की पद्धति कथा-साहित्य से मिलती-जुलती-सी प्रतीत होती है। एक अन्तर ज़रूर है कि जब बच्चन इस कथा को शब्दों में ढालते हैं तो उनकी भाषा कविता की शब्दावली और लय से हमजोली करती प्रतीत होती है। जैसे – "हम दोनों एक दूसरे से लिपटकर रो रहे हैं और आँसुओं के उस संगम से हमने एक दूसरे से कितना कह डाला, एक दूसरे को कितना सुन लिया है, उन आँसुओं से कितने कूल-किनारे टूट गिर गए हैं, कितने बाँध ढह-बह गए हैं, हम दोनों के कितने शाप-ताप घुल गए हैं, ... कितना हम एक दूसरे में खो गए हैं।" आत्मकथा के इस खण्ड में बच्चनजी की भाषा में विद्यमान आडम्बरहीनता, आवेगमयता, बेबाकी, अन्तःसाक्ष्य, आत्मीयता, द्रवणशीलता, व्यंजना, पारस्परिकता आदि का अनुभव बड़ी आसानी से किया जा सकता है। यह उनके गद्य-लेखन का ठेठ, स्वाभाविक और शुद्ध रूप है, न कि आवर्ती-पुनरावर्ती से युक्त कविता। यहाँ कोरी कल्पना का उच्छ्वास नहीं बल्कि जीवन के सजल कूलों से जुड़कर निस्सृत सुगन्धित निश्वास है। इन्हीं विशेषताओं के कारण यह कृति सर्वथा पठनीय और नितान्त रोचक है।

यह देखा गया है लेखक अपनी विषयवस्तु को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए जिस भाषिक युक्ति और कथन पद्धति का प्रयोग करता है उसे शैली कहा जाता है। इस आत्मकथा में जिस लेखन-शैली का अनुसंधान लेखक ने किया है वह कहीं सामान्य से विशेष तो कहीं विशेष से सामान्य की ओर सहज संचरण करती है। इस प्रक्रिया में रचना में निबद्ध कहानी लेखक के जीवन के केन्द्र और परिधि को निरन्तर स्पर्श करती रहती है। कहानी के बेहद उलझे सूत्र भी कथा की बुनावट में अपना विशेष महत्त्व बनाए रखते हैं। चाहे दुःख के प्रसंग हो या फिर सुख के,

कहीं भी वर्णन की भाषा और शैली मन्द, शुष्क या कुन्द होती प्रतीत नहीं होती। चरित्र और परिस्थिति के अनुरूप भाषा कहीं शहरी तो कहीं अवधी हो जाती है। कुछ प्रसंगों में अंग्रेजी के वाक्य भी शामिल किए गए हैं। अपने पूर्वजों की चर्चा और जाति-प्रकरण में वे संस्कृत के कई श्लोकों को उद्धृत करते हैं और उनका प्रसंगानुकूल विश्लेषण करते हैं। वैसे इस आत्मकथा को कथा-प्रस्तुति की शैली का सहारा लेकर आरम्भ, मध्य और अन्त के रूप में विभाजित कर सकते हैं। इस आधार पर 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के आरम्भ में लेखक ने अपने पूर्वजों के इलाहाबाद में बसने की कथा को रखा है, फिर मध्य हिस्से में अपने परिवार के सामाजिक सम्बन्धों, अपने जन्म और बचपन की कथा को तथा अन्त में अपने यौवनकाल, विवाह एवं कक्जीवन की कथा को प्रस्तुत किया है। कथा के इन तीनों हिस्सों को पठनीय और रोचक बनाने के लिए लेखक ने छोटी-छोटी कथाओं का सृजन किया है, लोक-प्रचलित देशी-स्थानीय कहावतों, श्रुतियों, लोक-कविताओं, अपनी काव्य-पंक्तियों आदि को उद्धृत किया है। फिर भी वर्णन की यह शैली इकहरी नहीं है, बल्कि कई कथाएँ एक दूसरे में प्रविष्ट होकर लेखक के लिए काफी चुनौतीपूर्ण स्थिति पैदा करती जान पड़ती हैं। लेकिन लेखक घबराता नहीं, बड़ी चतुराई से उनकी एकता का सूत्र पकड़े अपनी योजना के अनुसार उन्हें विन्यस्त करता जाता है। इसमें लेखक के अतिरिक्त उनके सगे-सम्बन्धियों, मित्रों, साहित्यकारों, राष्ट्र-सेवकों, शिक्षकों आदि से जुड़ी कहानियाँ भी हैं, लेकिन आत्मकथा पढ़ने के क्रम में यह कहीं महसूस ही नहीं होता कि इनमें से कोई भी कथा लेखक के जीवन के वर्णन-क्रम में अनावश्यक संयोजित हो गया है। इनकी आपसी एकता और सम्बद्धता इस आत्मकथा की प्रस्तुति शैली की बहुत खास विशेषता है।

यह ध्यान रहे कि लेखक ने किसी बँधी-बँधायी शैली को नहीं अपनाया है, बल्कि आत्मकथा के प्रसंगों के अनुरूप कहीं वर्णनात्मक शैली है तो कहीं विश्लेषणात्मक, कहीं सम्बन्धों के आवेशों और तरलता को उद्घाटित करने के लिए आवेगमयी शैली है, तो कहीं जाति-निर्णय के कटु प्रश्नों से टकराते हुए अद्भुत तर्क-शैली, कहीं वर्णन करते हुए लेखक जीवन के सागर में आकण्ठ डूब जाता है तो कहीं संकेत मात्र करके आगे बढ़ जाता है। इससे यह आभास होता है कि आत्मकथा लेखन एक जटिल प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में लेखक हर जटिलता का सामना करता है। आत्मालोचन की इस संवेदनशील और निर्मम प्रक्रिया में लेखक जीवन से जुड़े कई प्राणवान् मूल्यों को पाठकों के बीच रखता है, जिसमें मानवता और जिजीविषा के तत्त्व अन्तर्निहित हैं। वस्तुतः भारतीय इतिहास का यह काल बेहद रचनात्मक, आन्दोलनधर्मी एवं स्वाधीनता-आकांक्षी था, इसलिए इस रचना में अपने जीवन का वर्णन करते हुए इन प्रसंगों का आ जाना अपेक्षित था। यद्यपि लेखक ने उस काल के वृहदाकार राष्ट्रीय फलक को ज्यादा नहीं उकेरा है, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड, तिलक, गाँधी, नेहरू आदि के प्रसंगों में लेखक ने अपनी देशसेवा की भावना को ज़रूर पाठकों के समक्ष रखा है। इसमें से कुछ का वर्णन लोक-प्रतिक्रिया के रूप में भी हुई है। अपनी आत्मकथा की प्रस्तुति में बच्चनजी ने वर्णन शैली के साथ व्याख्यात्मक-शैली, चित्र-शैली, सम्बोधन-शैली, अभिधेयात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली, सूत्र-शैली, शृंखला-शैली, तुलनात्मक शैली, निष्कर्ष-शैली आदि का भी उपयोग किया है।

## 2.1.08. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का रचनात्मक महत्त्व

आत्मकथा एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें रचनाकार अपने सम्पूर्ण जीवन, बहुलांश या किसी अंश का क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत करता है। आत्मकथा में अपने जीवन से सम्बन्धित प्रसंगों को दुनिया के समझ साझा करने की सामान्य पद्धति अपने आसपास के परिवेश, व्यक्तियों और घटित होनेवाली घटनाओं का सजीव चित्रण ही है। आत्मकथा में रागपरक वैयक्तिक अनुभूति का प्राधान्य होता है। हिन्दी साहित्य के देदीप्यमान आत्मकथाकार डॉ॰ हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा हिन्दी-साहित्य की एक कालजयी कृति है। उन्होंने अपने जीवन के करुण एवं रससिक्त भाव-बोध को 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बड़े मनोयोग से रूपान्तरित किया है। यह बहुप्रशंसित आत्मकथा है जो उनके जीवन और साहित्य का वृत्तान्त ही नहीं कहती अपितु उत्तर छायावादी युग के साहित्यिक परिदृश्य को भी प्रस्तुत करती है।

बच्चनजी ने काल के अनुरूप तथा विभिन्न परिस्थितियों में रहते हुए और विभिन्न मानसिकताओं के दौर से गुज़रते हुए अपने आत्मविवरण को सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत किया है। बच्चनजी ने अपनी बचपन के अबोधपन, किशोर जीवन के संवेदनशील स्पन्दनों, यौवन के आकर्षण, किन्तु प्रतिबद्ध चेतना, प्रेमानुभूति, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, पारिवारिक सम्बन्धों, कर्मठता तथा स्वानुभूतियों से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण बड़ी सहजता और तन्मयता के साथ किया गया है। बच्चन ने अपने उम्र के विभिन्न पड़ावों में अलग-अलग प्रकार के जीवनानुभव को पूर्ण कुशलता से रखा है। उनकी आत्मकथा में बारी-बारी से उनके जीवन के सुख-दुःख से सम्बद्ध मनोसंवेग विविध रूप धारण कर जीवन की सच्चाई बयां करते हैं और जीवन का बहुस्तरीय खुरदरापन प्रकट हो जाता है। वस्तुतः उनका सारा जीवन साधना एवं श्रम का जीवन रहा है। अपने बाहरी व्यक्तित्व के सन्दर्भ में वे स्वयं लिखते है – "मैं कविता लिखता ही नहीं, मैं कवि दिखता भी हूँ।" जैसी मधुशाला थी, वैसा ही मधुशाला के कवि का स्वभाव भी था। वे आत्मकथा को जीवन की तस्वीर मानते थे और इस तस्वीर में उन्होंने न केवल अपने गुणों का अपितु अपने स्वभावगत दुर्गुणों को भी बड़े साहस के साथ उजागर किया। बच्चनजी हिन्दी साहित्य में उन आत्मकथाकारों में से एक हैं जिनकी आत्मकथा का फलक अत्यन्त व्यापक है। उनकी आत्मकथा के प्रकाशन के बाद उस समय के अनेक लेखकों ने इस आत्मकथा को हिन्दी इतिहास की ऐसी पहली घटना बताया जब अपने बारे में इतनी बेबाकी से सब कुछ कह देने का हौसला किसी ने दिखाया। बच्चन ने अनुभूति और तन्मयता के अनुरूप रचनात्मक भाषा को अपनाया और आत्मीयतापूर्ण शैली में आत्मकथा लिखी, जिसे पढ़कर साधारण व्यक्ति भी कथा-रस से सरोबार हो जाता है। जीवन एवं सृजन का एकपूर्ण चित्र इसमें साकार हो गया है। निःसन्देह यह आत्मकथा हिन्दी साहित्य की यात्रा का मील का पत्थर है। इसमें दो राय नहीं कि इस आत्मकथा की गणना कालजयी रचनाओं में की जाती है। बाद में बच्चनजी को इस कृति के लिए भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ पुरस्कार 'सरस्वती सम्मान' से सम्मानित भी किया जा चुका है। प्रसिद्ध लेखक धर्मवीर भारती ने इसे हिन्दी के हज़ार वर्षों के इतिहास में ऐसी पहली घटना बताया, जब अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह दिया गया हो। वहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इसमें केवल बच्चनजी का परिवार और व्यक्तित्व ही नहीं उभरा है, बल्कि उनके साथ समूचे काल और क्षेत्र भी अधिक

गहरे रंगों में उभारा है।" रामधारी सिंह 'दिनकर' हिन्दी प्रकाशनों में इस आत्मकथा का अत्यन्त ऊँचा स्थान मानते हैं। शिवमंगल सिंह सुमन की राय में "ऐसी अभिव्यक्तियाँ नयी पीढ़ी के लिए पाथेय बन सकेंगी, इसी में उनकी सार्थकता भी है।" नरेन्द्र शर्मा के लिए यह हिन्दी के आत्मकथा साहित्य की चरम परिणति है। प्रस्तुत 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' खण्ड प्रकाशित होते ही अपनी स्पष्टवादिता के कारण चर्चा का विषय बन गया था। निश्चित ही इस कृति ने गद्य-लेखन के क्षेत्र में नया मानक स्थापित किया है।

## 2.1.09. पाठ-सार

इस इकाई में हमने हरिवंशराय बच्चन द्वारा लिखित आत्मकथा के पहले भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के विविध पक्षों को जानने-समझने का प्रयास किया। इसके पहले भाग में लेखक ने अपने पूर्वजों के इलाहाबाद में आकर जीवन का आसरा ढूँढ़ने एवं कड़े परिश्रम के पश्चात् स्थापित हो जाने, उसी वंश की सातवीं पीढ़ी में अपने जन्म लेने, विद्या-अध्ययन के तिकड़म, किशोर जीवन की दुर्बलताओं से लेकर विवाह होने और अगाध प्रेम करने वाली पहली पत्नी श्यामा की क्षय रोग से असमय मृत्यु तक की घटनाओं का यथार्थ चित्रण किया है। किसी लेखक के लिए आत्मकथा लिखना सबसे बड़ी चुनौती माना जाता है, क्योंकि अपने जीवन और परिवार के गुण-दोषों को सबके सामने रखने के लिए बहुत हौसले की आवश्यकता होती है। साहित्य की अन्य विधाओं में ज़रूरत पड़ने पर वह कल्पना और कलात्मकता के आवरण का सहारा लेकर काम चला लेता है, जबकि आत्मकथा में किसी भी प्रसंग को लिखने से पहले पूरी छान-बीन करनी पड़ती है। इस आत्मकथा को पढ़ते हुए यह सहज ही आभास हो जाता है कि बच्चन बार-बार अपने जीवन के उतार-चढ़ाव के खुरदरे अनुभवों को बड़ी बारीकी और तन्मयता से पाठकों के सम्मुख रखते हैं। वे अपने परिवार और सगे-सम्बन्धियों के बीच उलझे सूत्रों के एक-एक सिरे को तलाशते हैं और उनमें विद्यमान अनुभवगत सच से टकराते हैं, फिर अभिव्यक्ति-योग्य अनुभवों को साधते हैं। तत्पश्चात् उसे कथा की कड़ियों में निबद्धकर परोसते हैं, ताकि साहित्य अध्येता तादात्म्य स्थापित कर सकें।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बच्चनजी ने अपने और अपने वृहदाकार कुटुम्ब के जीवन से जुड़े प्रसंगों और घटनाओं को तो सम्मिलित किया ही है, साथ ही साथ बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर चौथे दशक तक के भारत की सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों का भी कहीं-कहीं गम्भीर विश्लेषण किया है। इसके शुरुआती पृष्ठों में समाज में प्रचलित वर्ण और जाति सम्बन्धी मान्यताओं, देवी-देवताओं से सम्बन्धित अन्धमान्यताओं, मनौतियों, स्थानीय रीति-रिवाज के साथ-साथ कुरीतियों आदि से जुड़े विस्तृत एवं सरस वृत्तान्त हैं। इनके वर्णन के क्रम में लेखक अपना मंतव्य भी जोड़ता चला जाता है, जिससे जीवन के लिए ज़रूरी कर्मों और अनावश्यक जड़-मान्यताओं के बीच की भिन्नता को समझा जा सके। वस्तुतः इस आत्मकथा में आजादी से पहले के भारत में विद्यमान पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि से सम्बन्धित बुनियादी व्यवस्थाओं को बड़ी सूक्ष्मता से छानबीन करने और उनकी प्रासंगिकता को लेखक थाहने की कोशिश करता है।

बच्चन की आत्मकथा का पहला खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' एक तरफ जहाँ उनके परिवार के गाँव की बदहाल और नारकीय जीवन से संघर्ष करते हुए इलाहाबाद में बसने की कथा है, वहीं दूसरी तरफ बच्चन के महान् रचनाकार बनने की कथा भी है। इस कथा को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में अनवरत संघर्ष का क्या महत्त्व होता है। जीवन के निर्माण के लिए सकारात्मक सोच के साथ किया गया अथक परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता और कर्मफल का असली सुख धैर्यवान् ही प्राप्त करते हैं। बच्चन सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों के सन्दर्भ में घोर विरोध दर्ज करने के साथ-साथ साहित्य जगत् गति-दुर्गति की भी चर्चा करते हैं। इस खण्ड में बच्चनजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय की महत्त्वपूर्ण घटना जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया में बालगंगाधर तिलक के भाषण और गाँधी आन्दोलन से जुड़े इलाहाबाद में होने वाले कार्यक्रमों के प्रभाव आदि का सम्यक् विश्लेषण भी किया है। एक अच्छी आत्मकथा की यही पहचान होती है कि उसमें लेखक के जीवन के साथ-साथ मानवमात्र के लिए आवश्यक जीवन-मूल्यों, विचारों, दर्शनों आदि को भी कथा में पिरोकर प्रस्तुत किया जाए। इस दृष्टि से विचार करने पर 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' एक सार्थक आत्मकथा है।

## 2.1.10. बोध प्रश्न

1. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की अन्तर्वस्तु को स्पष्ट कीजिए।
2. आत्मकथा के रूप में 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का मूल्यांकन कीजिए।
3. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के आधार पर बच्चन के अभिव्यक्ति-कौशल की समीक्षा कीजिए।

## 2.1.11. व्यवहार

1. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के अतिरिक्त हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा के शेष तीनों भागों का भी अध्ययन कीजिए और प्रत्येक अंश का पृथक्-पृथक् सारगर्भित आलेख तैयार कीजिए।
2. बच्चन के काव्य-संकलनों (मधुशाला, मधुकलश, निशा निमन्त्रण आदि), निबन्धों, डायरी (प्रवास की डायरी) को पढ़िए और उनमें से किसी एक की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. बच्चन की आत्मकथा तथा अन्य चर्चित आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

## 2.1.12. कठिन शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| न्याय-परायण | : | न्याय में पूर्ण निष्ठा का भाव, पारिवारिक-सामाजिक नियमों में विश्वास। |
| परित्राण | : | दुःख, कष्ट आदि से रक्षा करने का प्रयास, बचाव करना, पनाह या आश्रय देना |
| यज्ञोपवीत | : | ब्रह्मसूत्र, जनेऊ। यह एक विशिष्ट अथवा पवित्र सूत्र है, जिसे विशेष विधि से बनाया जाता है। इसमें सात ग्रन्थियाँ लगायी जाती हैं। |
| लिपिक | : | लिखने या दर्ज करने का कार्य करने वाला कर्मचारी, मुंशी, क्लर्क, नकलनवीस। |
| बुद्धि-कुशाग्रता | : | तीव्र समायोजन क्षमता, तीक्ष्ण बुद्धिमता, विवेकशीलता, अक्लमंदी। |

निरात्म : जिसके अंदर सोचने, समझने, महसूस करने की क्षमता शेष नहीं रह जाती।

## 2.1.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. कुमार, अजित, (2006) बच्चन रचनावली, खण्ड 7-8, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, ISBN 81-267-1181-7
2. भारती पुष्पा, (सं.) (2007), हरिवंश राय बच्चन की साहित्य साधना, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, ISBN 978-81-8143-616-0
3. पटेल, डॉ॰ सुधा बहन, (1980) बच्चन : जीवन और साहित्य, मथुरा, जवाहर पुस्तकालय
4. कदम, डॉ॰ के. जी., (1988) कवि श्री बच्चन : व्यक्तित्व और दर्शन, इलाहाबाद, साहित्य भवन
5. सिंहल, डॉ॰ बैजनाथ, (1988) हिन्दी साहित्य विधाएँ : स्वरूपात्मक अध्ययन, चंडीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी
6. चौबे, डॉ॰ देवेन्द्र, (2000) MHD-4, पाठ-सामग्री, पुस्तिका-5, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मानविकी विद्यापीठ, ISBN 81-7605-844-0
7. कुमार, अजित, (2005), बच्चन की आत्मकथा (संक्षेपण), दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, ISBN 81-237-8883-2


## 2.1.14. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची


1. सिंहल, डॉ॰ बैजनाथ, (1988) हिन्दी साहित्य विधाएँ : स्वरूपात्मक अध्ययन, चंडीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी, पृष्ठ 185
2. कुमार, अजित, (2006) बच्चन रचनावली, खण्ड-7, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 81-267-1181-7, पृष्ठ 71
3. कुमार, अजित, (2006) बच्चन रचनावली, खण्ड-6, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 450
4. वही, पृष्ठ 452
5. वही, पृष्ठ 452
6. वही, पृष्ठ 454
7. कुमार, अजित, (2006) बच्चन रचनावली, खण्ड-7, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 15
8. वही, पृष्ठ 87
9. वही, पृष्ठ 141
10. वही, पृष्ठ 24
11. वही, पृष्ठ 260
12. वही, पृष्ठ 220
13. वही, पृष्ठ 220
14. वही, पृष्ठ 261

15. वही, पृष्ठ 270
16. वही, पृष्ठ 207
17. वही, पृष्ठ 21-22

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 2 : विविध गद्य-रूप – 1

## इकाई – 2 : जीवनी-साहित्य : आवारा मसीहा – विष्णु प्रभाकर

**इकाई की रूपरेखा**


2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. जीवनी-साहित्य का उद्भव एवं विकास
  2.2.2.1. जीवनी-साहित्य का स्वरूप
  2.2.2.2. जीवनी-लेखन की परम्परा
  2.2.2.3. अन्य साहित्यिक विधाओं से जीवनी-साहित्य का सम्बन्ध
2.2.3. 'आवारा मसीहा' : जीवनी-साहित्य के नये आयाम
  2.2.3.1. वस्तु और संवेदना
  2.2.3.2. साहित्य और जीवन के अन्तःसूत्र का अन्वेषण
  2.2.3.3. शिल्प-विधान
2.2.4. बहुचर्चित हिन्दी जीवनियों के सापेक्ष 'आवारा मसीहा'
2.2.5. पाठ-सार
2.2.6. कठिन शब्दावली
2.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.2.8. बोध प्रश्न


### 2.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई प्रसिद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित महान् साहित्यकार शरच्चन्द्र की जीवनी 'आवारा मसीहा' पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी जीवनी-साहित्य के उद्भव एवं विकास से परिचित हो सकेंगे।
ii. जीवनी-साहित्य के रूप में 'आवारा मसीहा' की विवेचना कर सकेंगे।
iii. बहुचर्चित हिन्दी जीवनियों के सापेक्ष 'आवारा मसीहा' का अनुशीलन कर सकेंगे।

### 2.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी गद्य साहित्य के अन्तर्गत प्रायः उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि का सृजन, मूल्यांकन एवं पठन-पाठन होता रहा है लेकिन इसके इतर एवं अपेक्षाकृत नवीन गद्य विधाएँ प्रायः उपेक्षित रही हैं। उदाहरणार्थ कथा-साहित्य की अपेक्षा जीवनियाँ बहुत कम मात्रा में लिखी गई हैं। इसका एक कारण सम्भवतया यह रहा है कि कई बार जीवनीकार स्वयं को सीमाबद्ध महसूस करता है। सम्बन्धित व्यक्ति के उजले पक्षों को उजागर करने में

जितनी सरलता है, इतर पक्ष को उद्घाटित करना उतना ही कठिन। यही वजह है कि अनेक जीवनियों में सम्बन्धित व्यक्ति के अवास्तविक, अति मानवीय, शुभ्र और देव-तुल्य स्वरूप के दर्शन होते हैं जो चर्चित व्यक्ति के जीवन-यथार्थ और वास्तविक वक्तव्यों से सामंजस्य नहीं रख पाते हैं।

जीवनी-लेखन एक तरह से परकाय प्रवेश है। इसलिए जीवनीकार जिस व्यक्ति के जीवन का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है, उसे वह तभी प्रभावी रूप दे सकता है, जब वह उस व्यक्ति के जीवन के अन्तर्विरोधों और मर्म को समझ सके और उसके द्वारा किए गए कार्यों की उपयोगिता एवं महत्त्व की पहचान कर सके।

महान् रचनाकार भी अन्ततः मनुष्य ही होता है। उसमें भी मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियाँ, इच्छाएँ और सीमाएँ होती हैं। लेकिन वह मानवीय स्थितियों से संघर्ष करता हुआ समाज को कुछ ऐसा दे जाता है जो अपने समय के लिए ही नहीं, अपितु आगे आने वाली कई पीढ़ियों के लिए मूल्यवान् निधि होता है। उसकी इस कालजयी देन के वास्तविक महत्त्व को हम तभी जान सकते हैं जब हम उस रचनाकार के जीवन-संघर्ष के सन्दर्भ को समझने का सार्थक प्रयास करें। रचनाकारों के जीवनानुभवों, उनके सामाजिक सरोकारों और उनकी कालजयी कृतियों के मर्म को समझने में उनकी जीवनी परवर्ती अध्येताओं के लिए लाभप्रद होती हैं। यशस्वी साहित्यकार विष्णु प्रभाकर ऐसे ही कुशल जीवनीकार हैं जिन्होंने बांग्ला के मूर्धन्य साहित्यकार शरच्चन्द्र की जीवनी 'आवारा मसीहा' लिखी है। 'आवारा मसीहा' जैसा साहसिक प्रयास किसी भी भारतीय भाषा में दुर्लभ है। जिस संचेतना, श्रम, अध्यवसाय और निष्ठा से जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने अपने लेखकीय दायित्वों का निर्वहन किया है, वह अन्य जीवनीकारों के लिए अभिप्रेरणा हो सकती है।

### 2.2.2. जीवनी-साहित्य का उद्भव एवं विकास

अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में एक सफल जीवनी लिखना किसी भी रचनाकार के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। सत्य और तथ्यों की पूर्णता के कारण जीवनी साहित्य का अध्ययन एवं विश्लेषण पाठक के मानस-पटल पर प्रबल और स्थायी प्रभाव डालता है। पाश्चात्य साहित्य की अपेक्षा हिन्दी साहित्य में जीवनी-लेखन का क्षेत्र लगभग उपेक्षित ही रहा है। हिन्दी में आत्मकथा तथा जीवनी-लेखन की शुरुआत भारतेन्दु युग से भी पूर्व सिद्ध की जा सकती है, परन्तु सही अर्थों में जीवनी की संज्ञा के अधिकारी कुछ गिने-चुने ग्रन्थ ही हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जीवनी के लिए जीवन-चरित तथा मध्यकाल में 'जीवन-चरित्र' शब्द प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। इस संशयात्मक स्थिति की ओर सबसे पहले प्रगतिशील साहित्यिकार प्रेमचंद का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने 1932 ई. में 'हंस' का आत्मकथा विशेषांक प्रकाशित किया।

विद्वानों ने जीवनी-साहित्य का आरम्भ आधुनिक युग की अन्य गद्य विधाओं की भाँति भी भारतेन्दु युग से ही स्वीकार किया है। स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विक्रम, कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य, मुगल बादशाहों, लार्ड मेयो, लार्ड रिपन आदि ब्रिटिश अधिकारियों से सम्बद्ध अनेक जीवनियाँ लिखी हैं।

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख जीवनीकारों में कार्तिकप्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, रमाशंकर व्यास, देवीप्रसाद मुंशिफ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

## 2.2.2.1. जीवनी-साहित्य का स्वरूप

साहित्य और जीवन दोनों का केन्द्रबिन्दु मनुष्य है। जीवनी उसके जीवन और व्यक्तित्व को समेकित रूप में अभिव्यक्त करने वाली सशक्त साहित्यिक विधा है। जीवनी का आशय व स्वरूप स्पष्ट करते हुए मुंशी प्रेमचंद ने कहा है कि "जीवनी साहित्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। मगर हिन्दी में उच्च कोटि के 'जीवन-चरित' को कौन पूछे – साधारण जीवनियाँ भी नहीं लिखी जातीं।" जीवनी-साहित्य को पारिभाषिक तौर पर स्पष्ट करते हुए हिन्दी साहित्यकोश में कहा गया है कि "किसी व्यक्ति विशेष के जीवन-वृत्तान्त को जीवनी कहते हैं।" जीवनी में व्यक्ति-विशेष के जीवन को उसकी सम्पूर्णता एवं व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। जीवन का यह विवरण 'स्वरचित' न होकर किसी अन्य द्वारा तटस्थ तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण के आधार पर रचा जाता है। जीवनी-साहित्य को परिभाषित करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार बाबू गुलाबराय ने कहा है कि– "जीवनी-लेखक अपने चरित्र नायक के अन्तर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता, स्वतन्त्रता और निष्पपक्षता के साथ अपने चरित्रनायक के गुण दोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।" सारांशतः जीवनी 'आत्मकथा' के विपरीत 'परकथा' है। जीवनी-साहित्य की स्वरूपगत विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) जीवनी व्यक्ति-केन्द्रित विधा होते हुए भी समूचे युग और उसकी पृष्ठभूमि को प्रतिध्वनित करने वाली विधा है। इस विधा के केन्द्र में चरितनायक और उसका कृतित्व रहता है।

(ii) जीवनी चरितनायक के जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। जीवनीकार अपने चरितनायक की जीवन-यात्रा का सहयात्री बनता है।

(iii) जीवनी-लेखन चरितनायक के जीवन-तथ्यों पर आधारित होता है। उसमें अनुभूति और कल्पना प्राण संचार करने वाले तत्त्व हैं। जीवनी साहित्य में कल्पना का प्रयोग केवल कलात्मक विन्यास के सहायक तत्त्व के रूप में ही किया जाता है। व्यक्ति-विशेष के भावलोक एवं विचार क्षेत्र के साथ-साथ उसका बहिर्जगत भी जीवनीकार के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(iv) जीवनी लेखन में जहाँ लेखकीय व्यक्तित्व का हस्तक्षेप अनुचित होता है, वहीं रचनाकार की आत्म-स्वाधीनता अभिव्यक्ति मात्र के लिए अनिवार्य है।

(v) जीवनी की भाषा में व्यापकता और गहराई, आकुंचन और प्रसार, संयोजनशीलता और उद्भावन-क्षमता अपेक्षित है।

(vi) जीवनी की महत्ता मनुष्य को मनुष्य के रूप में सम्मान देने में है। मनुष्य, साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा, जीवनी में कहीं अधिक विशद् और पूर्ण रूप में प्रकट होता है।

## 2.2.2.2. जीवनी-लेखन की परम्परा

आधुनिक गद्य विधा 'जीवनी' भारतेन्दु युग की देन है। परम्परागत दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो साहित्य के आरम्भिक युग यानी आदिकाल से ही जीवनचरितों के सृजन की परम्परा उपलब्ध रही है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भी भक्तों के जीवनादर्शों की प्रस्तुति के लिए चरित लेखन की प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला। सन्तों के जीवन-चरित पर आधारित 'परचई साहित्य' (कबीरदासजी की परचई, नामदेवजी की परचई, रैदासजी की परचई, मलूकदासजी की परचई आदि); भक्तमाल (नाभादास); चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखा की वार्ता (स्वामी गोकुलनाथ) आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

भारतेन्दुयुगीन जीवनी-साहित्य का पूर्व में हम संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर चुके हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु युग में स्वयं बाबू भारतेन्दु ने जीवनी-लेखन के क्षेत्र में अपने समकालीन रचनाकारों का मार्गदर्शन किया था, उसी प्रकार द्विवेदी युग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी जीवनी-साहित्य लेखन को काफी बढ़ावा दिया। 'प्राचीन पण्डित', 'सुकवि-संकीर्तन', 'चरित-चर्चा' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

द्विवेदी युग राष्ट्रीय चेतना का युग है। तत्युगीन रचनाकारों ने उन महापुरुषों की जीवनियाँ भी लिखीं जो तत्कालीन विचारधारा का नेतृत्व कर रहे थे। महापुरुषों पर आधारित जीवनियों में महादेव भट्ट-कृत 'लाजपत महिमा', पारसनाथ त्रिपाठी-कृत 'तपोनिष्ठ महात्मा अरविन्द घोष', बद्रीप्रसाद गुप्त-कृत 'दादाभाई नौरोजी', शीतलाचरण वाजपेयी-कृत 'रमेशचन्द्र दत्त', माता सेवक-कृत 'लोकमान्य तिलक का चरित्र'; ऐतिहासिक व्यक्तियों पर आधारित जीवनियों में कार्तिक प्रसाद-कृत 'छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र', देवीप्रसाद-कृत 'महाराणा प्रतापसिंह', लक्ष्मीधर वाजपेयी-कृत 'छत्रपति शिवाजी'; महान् महिलाओं पर आधारित जीवनियों में गंगाप्रसाद गुप्तकृत 'रानी भवानी', हनुमन्त सिंहकृत 'रमणीय रत्नमाला', यशोदा देवी-कृत 'आदर्श महिलाएँ', रामानन्द द्विवेदी-कृत 'नूरजहाँ' महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

जीवनी-लेखन परम्परा के अन्तर्गत छायावादी युग का अवदान भी उल्लेखनीय है। इस कालखण्ड की रचनाओं पर तत्युगीन राष्ट्रीय आन्दोलन का काफी प्रभाव पड़ा। स्वभावतः लेखकों की अभिरुचि राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ लिखने में रही। राष्ट्रप्रेम और जनसेवा के लिए जीवन समर्पित करने वाले राष्ट्रीय नेताओं के जीवनीकारों में नवजादिकलाल श्रीवास्तव, रामदयाल तिवारी, जगपति चतुर्वेदी आदि; भारतीय इतिहास के महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनीकारों में रामनरेश त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द, चन्द्रशेखर पाठक, रामवृक्ष शर्मा, गंगाप्रसाद मेहता, प्रेमचंद आदि तथा देश और समाज के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में निष्ठावान् महिलाओं पर आधारित जीवनीकारों में शिवव्रतलाल वर्मन, मनोरमाबाई, जटाधरप्रसाद विमल आदि ने रचनात्मक प्रणयन कर एतद्विषयक साहित्य में पर्याप्त अभिवृद्धि की।

आधुनिककाल में जहाँ जीवनी-लेखन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। इस दौर में अपने समय के प्रसिद्ध साहित्यकारों पर रची गई जीवनियाँ लेखक के व्यक्तित्व तथा उसकी रचना-प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने में सफल

रही हैं। पत्रकार जैमिनी कौशिक बरूआ द्वारा लिखित 'माखनलाल चतुर्वेदी की जीवनी'; प्रेमचंद के जीवन पर आधारित उनके पुत्र अमृतराय द्वारा रचित 'कलम का सिपाही'; डॉ॰ रामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' तथा सुप्रसिद्ध बांग्ला साहित्यकार शरच्चन्द्र के जीवन पर आधारित विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखित जीवनी 'आवारा मसीहा' महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ हैं।

इस प्रकार जीवनी-लेखन के जो बीज हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में दिखाई पड़े थे, वे आधुनिक युग की रचनात्मक उर्वरता पाकर पूर्णतः पल्लवित एवं विकसित हुए। आधुनिक काल में जीवनी गद्य साहित्य की एक सशक्त विधा बनकर उभरी। न केवल परिमाणात्मक दृष्टि से अपितु गुण व वैविध्य की दृष्टि से भी जीवनी-साहित्य का विकास निरन्तर जारी है।

### 2.2.2.3. अन्य साहित्यिक विधाओं से जीवनी-साहित्य का सम्बन्ध

जीवन का प्रतिबिम्बन करने के साथ-साथ जीवनी-साहित्य निजी जिजीविषा को उद्बुद्ध और संपुष्ट भी करता है। जीवन के कटु यथार्थ से संघर्ष करते समय जिस आस्था और विश्वास को व्यक्ति गवां चुका होता है, यह विधा उसका पुनर्जागरण करती है। मानव जीवन और उसकी यात्रा के प्रति ईमानदारी एवं निष्ठा का भाव ही जीवनी-साहित्य के स्वरूप की मौलिकता है। एक स्वतन्त्र रचनात्मक विधा होने के बावजूद जीवनी-साहित्य केवल इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भूगोल, राजनीतिशास्त्र और आलोचना न होकर सब-कुछ है। कथा साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, जबकि जीवनी खुद जीवन। आलोचना की प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक होती है, जबकि जीवनी-लेखन में विश्लेषण के उपरान्त संश्लेषणात्मकता अपरिहार्य होती है। इतिहास में मात्र घटनाओं का स्थूल विवरण होता है, जबकि जीवनी में घटनाओं के पीछे जो व्यक्ति है उसके समग्र का वस्तुनिष्ठ व मनोवैज्ञानिक अध्ययन सन्निहित है। दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, मनोविज्ञान आदि से विशिष्ट और कलात्मक होते हुए भी जीवनी-साहित्य अपने स्वरूप में अन्तरानुशासनिक है। संरचनात्मक परस्परता के सूत्र में गुँथे 'जीवनी-साहित्य' तथा अन्य विधाओं के अन्तर को आत्यन्तिक भी नहीं कहा जा सकता है।

## 2.2.3. 'आवारा मसीहा' : जीवनी-साहित्य के नये आयाम

भारतीय समाज में ऐतिहासिक तथ्यों और सामग्री के प्रति प्रायः एक गहरी उदासीनता का भाव रहा है। किसी भी ऐतिहासिक व्यक्ति के अवसान के उपरान्त उसका जीवन चरित्र किंवदन्तियों, प्रवादों और संस्मरणात्मक चुटकुलों के कुहासे में कुछ इस तरह लपेट दिया जाता है कि कुछ ही दिनों में सही पहचान असम्भव हो जाती है। शरच्चन्द्र की मृत्यु के इक्कीस वर्ष के उपरान्त जब विष्णु प्रभाकर उनकी जीवनी के लिए प्रवृत्त हुए तब तक इस विषय से सम्बन्धित जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, उनके प्रायः अधूरे, अविश्वसनीय और परस्पर विरोधी तथ्यों से शरच्चन्द्र की जीवन-कथा रहस्यमय हो चुकी थी और वास्तविक छवि दुर्लभप्राय बन गई थी। दूसरी ओर अपने जीवनकाल में शरच्चन्द्र ने भी अपनी सच्चाई को छिपाने और अपने बारे में गलत तथ्यों को बढ़ावा देने में कम सहयोग नहीं दिया था। यही कारण है कि 'आवारा मसीहा' की शुरुआत में जीवनीकार के समक्ष झूठे तथ्यों का

अंबार लग गया और उससे इतनी चुनौतियाँ उपजीं कि उनका सामना करने में विष्णु प्रभाकर को लगभग चौदह वर्ष लग गए। विष्णु प्रभाकर द्वारा किए गए प्रयत्नों की एक लम्बी शृंखला 'आवारा मसीहा' की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करती है।

## 2.2.3.1. वस्तु और संवेदना

'आवारा मसीहा' जीवनी बांग्ला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शरच्चन्द्र के जीवन-संघर्ष और उनकी विचारधारा को प्रस्तुत करती है। विषयवस्तु और अभिव्यक्ति, दोनों ही दृष्टि से यह कृति सृजनात्मक विकास की नूतन संभावनाएँ प्रस्तुत करती है। यहाँ जीवनीकार की प्रवृत्ति संक्षिप्त जीवन-चरित के सृजन की अपेक्षा व्यक्ति को उसके व्यापक युग-सन्दर्भों से जोड़कर देखने की रही है।

रचनाकार विष्णु प्रभाकर मूलतः कथाकार और नाटककार हैं। 'आवारा मसीहा' के सृजन की अभिप्रेरणा के विषय में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि जीवनी लेखन की ओर विशेष अभिरुचि नहीं होने के बावजूद मैंने श्री नाथूराम प्रेमी और यशपाल जैन के आग्रह पर शरच्चन्द्र की जीवनी को लिखना आरम्भ किया। साथ ही साथ मेरे मन में शरत-साहित्य के प्रति विशेष अनुरक्ति और उनके साहित्य को पढ़कर उनके जीवन के बारे में जानने की उत्कट जिज्ञासा भी अत्यन्त क्रियाशील रही। अस्तु, रचनाकार के लिए 'आवारा मसीहा' के लेखन की प्रेरणा अन्तर्बाह्य दोनों स्तरों पर रही।

प्रायः जीवनीकार से ऐसी विशिष्टताओं की अपेक्षा की जाती है जो परस्पर टकराती हैं। किसी सृजनशील व्यक्तित्व का अन्वेषण, उसकी परिस्थितियों से साक्षात्कार और फिर उसकी पुनःसृष्टि चुनौतीपूर्ण कार्य है। ऐसे में वह व्यक्ति यदि शरच्चन्द्र जैसा विरला साहित्यकार हो जो अपने व्यक्तित्व और लेखन, दोनों से आजीवन और मरणोपरान्त अतिवादी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने में सक्षम हो तो जीवनीकार के लिए दायित्व निर्वहन और भी कठिन हो जाता है। विष्णु प्रभाकर अपनी सूक्ष्मचिन्तनचातुरी, गहन गवेषणाप्रवण दृष्टि तथा अद्भुत निर्णयशक्ति प्रदर्शित करते हुए शरच्चन्द्र के जीवन का सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत कर सके हैं।

तीन पर्वों – 'दिशाहारा', 'दिशा की खोज' तथा 'दिशान्त' में सुविभक्त 'आवारा मसीहा' उद्दिष्ट विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से परिपूर्ण है। प्रथम पर्व 'दिशाहारा' में शरच्चन्द्र के जीवन के आर्थिक और पारिवारिक परिवेश के साथ ही उनकी रचनाधर्मिता का प्रतिपाद्य स्पष्ट किया गया है। श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्मे शरच्चन्द्र का बचपन अपनी नानी के घर व्यतीत हुआ। उनके पिता मोतीलाल स्वप्नदर्शी व्यक्ति थे, उनका गृहस्थ-जीवन सफल नहीं रहा। शरत का जीवन भी अभावों के दौर में गुजरा। उनके जीवन पर एक ओर जहाँ पिता के स्वाभिमान, सौन्दर्यवृत्ति, अपूर्ण चित्रांकन और कथा-लेखन का प्रभाव पड़ा वहीं आर्थिक अभाव से उपजी दरिद्रता, शर्मीलापन और हीनता का भाव भी सदैव उनका पीछा करता रहा। जीवनानुभवों को अनुभूति में परिवर्तित करने वाला दर्द उन्हें विरासत में मिला। अर्थाभाव के कारण उनकी शिक्षा कभी व्यवस्थित नहीं रही। फिर भी परिवेश ने शरत के व्यक्तित्व को और पुष्ट किया तथा सूक्ष्म अवलोकन की प्रवृत्ति ने उसे धार दी। दया, करुणा, साहस, निर्भीकता,

घुमक्कड़ी, परोपकार जैसे गुण उनके व्यक्तित्व में आजीवन मौजूद रहे। साहित्य-सभा की स्थापना, नाटकों की रिहर्सलें, संगीत का अभ्यास, बाँसुरी-वादन आदि के माध्यम से उन्होंने अपनी रचनात्मकता को कुशलतापूर्वक सँजोए रखा। पिता की अकस्मात् मृत्यु की वजह से उनकी रचनात्मक निरन्तरता बाधित हुई और वे रंगून चले गये।

द्वितीय पर्व 'दिशा की खोज' के अनुसार रंगून में शरच्चन्द्र अपने वकील मौसा अघोरनाथ के पास पहुँचे। उनकी इच्छा से उन्होंने बर्मी भाषा का अध्ययन किया, लेकिन उत्तीर्ण नहीं हो सके। इस प्रकार शरत वकील भी नहीं बन सके। आजीवका हेतु थोड़े समय के लिए उन्होंने रेलवे के ऑडिट ऑफिस में भी काम किया। बाद में अनेक छोटी-छोटी नौकरियाँ करते हुए उन्होंने सेवाभाव से निम्न वर्ग के लोगों के बीच आना-जाना आरम्भ किया। यहीं उनका पहला विवाह शान्ति के साथ हुआ और वे पिता बने। लेकिन विवाह के दो वर्ष व्यतीत होने से पूर्व ही प्लेग की चपेट में उनकी पत्नी और संतान जीवित नहीं बच सके। असीम पीड़ा से गुजरते हुए भी उन्होंने साहित्य-रचना-कर्म जारी रखा। इसी समय उनकी रचना 'बड़ी दीदी' का प्रकाशन 'भारती' में हुआ जिसने बांग्ला साहित्य में हलचल मचा दी। इस अनुक्रम में उनकी 'चरित्रहीन', 'नारी का मूल्य' आदि कृतियाँ प्रकाशित हुईं। आगे चलकर बंगाल के कृष्णदास अधिकारी की कन्या मोक्षदा से उनका विवाह हुआ और आजीवन सम्मानपूर्वक उनका दाम्पत्य जीवन चलता रहा। 'बड़ी दीदी' के बाद 'यमुना' में उनकी एक और पुरानी कहानी 'बोझा' प्रकाशित हुई। उसके उपरान्त 'रामेर सुमति', 'बालस्मृति', 'हरिचरण', 'काशीनाथ', 'अनुपमा का प्रेम', 'चन्द्रनाथ', 'प्रकाश और छाया', 'चरित्रहीन', 'विराज बहू', 'पल्ली समाज' इत्यादि रचनाएँ प्रकाशित हुईं। शरत के तत्युगीन पत्रों से यह स्पष्ट होता है कि उत्कृष्ट रचनाओं से एक ओर जहाँ साहित्य जगत् में शरत की लोकप्रसिद्धि हुई, वहीं दूसरी ओर निजी जीवन में वे लगातार अवसाद और बीमारियों में उलझे रहे। अन्ततः शरच्चन्द्र बंगाल लौट आने के लिए व्याकुल हो उठे। वर्ष 1936 ई. में अपनी नौकरी से इस्तीफा देकर वे कलकत्ता लौट आये।

तृतीय पर्व 'दिशान्त' एक प्रतिष्ठित साहित्यकार के जीवन की कथा है जो अपने पाठकों के बीच बेहद लोकप्रिय है, परन्तु जिसे बंगाल का तथाकथित भद्र समाज खुले मन से स्वीकृति नहीं दे पाता है। इसमें शरच्चन्द्र की विभिन्न कृतियों में उनकी छवि, उनसे सम्बन्धित साहित्यिक विवाद, उनकी राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य विषयक मान्यताएँ, उनकी रचना-प्रक्रिया, पशु-पक्षियों से उनका प्रेम, उनकी सुधरी हुई आर्थिक स्थिति, किन्तु बिगड़ता जा रहा स्वास्थ्य, सभी कुछ चित्रित है।

इस पर्व में शरच्चन्द्र अपने पूर्ण विकसित रूप में सामने आते हैं। यहाँ उनका गाँधी के प्रति ममता, सुभाष के प्रति चैतन्य दृष्टि, देशबन्धु चितरंजन दास के प्रति सख्य भाव स्पष्ट होता है। रवीन्द्र सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन भी इसी पर्व में मिलता है। वैसे तो शरत ने टैगोर को अपना गुरु माना है और रवीन्द्रनाथ ने भी शरत की प्रतिभा को स्वीकार किया है, किन्तु दोनों के बीच आत्मीयता स्थापित नहीं हो पायी थी। शरच्चन्द्र कांग्रेसी थे लेकिन उनका झुकाव उग्र दल की ओर था। क्रान्तिकारियों के अभिनन्दन और सहयोग के लिए वे सदैव आगे रहते थे। अपने

भाई-बहनों के प्रति जिस उत्तरदायित्व का निर्वाह वे प्रारम्भ में नहीं कर पाए, इस समय उसका निर्वाह करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। कुछ लोगों ने जहाँ शरत को नास्तिक कहा तो कुछ लोगों ने परम आस्तिक भी माना है।

बार-बार जाति-धर्म, धर्म-भेद से जर्जर व पीड़ित समाज के प्रति क्षुब्ध होकर भी मूल धार्मिक स्थापनाओं का विरोध शरच्चन्द्र ने कभी नहीं किया। उनका कहना था कि "हिन्दू धर्म पर मैंने कभी कटाक्ष नहीं किया। केवल उसकी अनुदारता पर आक्रमण किया है।" उन्होंने विवाह को नहीं, अपितु विवाह के प्रचलित आधार को अस्वीकार किया। मातृत्व को निर्वैयक्तिक रूप देते हुए उन्होंने उस माँ को महिमान्वित किया जो दूसरे के बच्चे को प्यार दे सके। शरच्चन्द्र कुत्सित गंदगी के बीच से मानवता को खोज निकालने पर बल देते हैं तथा नारी को 'मनुष्य' की मर्यादा प्रदान करते हैं।

'आवारा मसीहा' के रचनाकार ने शरच्चन्द्र को 'अपराजेय कथाशिल्पी' कहकर बार-बार उनके अद्वितीय रूप का स्मरण किया है, किन्तु उनके चरित्र को मूलतः अद्वितीय मानकर कहीं भी चित्रित नहीं किया है। वस्तुतः महान् चरित्रों की निर्माण-प्रक्रिया में भी चरित्र-गठन सम्बन्धी साधारण नियम ही कार्य करते हैं। प्रतिभावान् विष्णु प्रभाकर ने अनितरसाधारण शेमुषी के सम्बल से 'अपराजेय कथाशिल्पी' शरच्चन्द्र का चरित्र-चित्रण सर्वथा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर दिखाया है। जीवनीकार के रचनात्मक दृष्टिकोण के कारण 'आवारा मसीहा' की वस्तु व संवेदना काफी प्रभावशाली बन गई है। शरच्चन्द्र के अटपटे व्यवहारों के सम्बन्ध में रचनाकार का मनोवैज्ञानिक विवेचन द्रष्टव्य है – "ऐसा लगता है समाज से बदला लेने की भावना अनायास ही उनके अन्तस् में कुण्डली मारकर बैठ गई थी। ... उन्होंने शराब पी और फिर छोड़ दी, परन्तु उसके बाद भी वे एक खाली बोतल ऐसे स्थान पर रखते थे कि हर आने वाले के दृष्टिपथ में आ सके। अफ़ीम खाने के बाद प्रदर्शन करने का अवसर वे नहीं चूकते थे। कुत्ता भी उन्होंने ऐसा पाला था जो न केवल देखने में अशोभनीय था, अपितु हर प्रकार की संस्कारिता से सौ योजन दूर था, और उससे वह इतना और ऐसा प्यार जताते थे जैसे उनका इकलौता पुत्र है। भद्र समाज को नीचा दिखाने में उन्हें सचमुच मजा आता था।" इस मायने में जीवनीकार ने शरच्चन्द्र के बाह्य व्यवहारों और उनकी आन्तरिक स्थिति के बीच सम्बन्ध सूत्रों का ही अन्वेषण नहीं किया, बल्कि उनकी पूरी-अधूरी इच्छाओं के प्रति भी उनकी निरन्तर जिज्ञासा रही है।

'आवारा मसीहा' में जीवनीकार ने शरच्चन्द्र की सही तथा अधिकाधिक विश्वसनीय प्रतिमा पुनर्निर्मित करने के उद्देश्य से मनुष्य शरत को केवल मनुष्य होने के नाते उनकी सारी दुर्बलताओं के साथ अपनाया है, समझा है और पाठकों तक सम्प्रेषित करने का सफल प्रयास किया है। युगीन शक्तियों ने जिस सीमा तक शरच्चन्द्र के अन्तर्बाह्य को जोड़ने-तोड़ने, उभारने-दबाने का कार्य किया है, उस सीमा तक उन्हें उपादेय मानकर जीवनीकार ने उनका परिशीलन किया है। जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने सरलीकरण का मार्ग अपनाते हुए न तो शरत को सन्त के रूप में चित्रित किया है और न ही व्यभिचार बोध कथाओं से लदा हुआ पतित पुरुष, बल्कि उनके जीवन के सारे विरोधाभासों के भीतर बैठते हुए उनकी सम्यक् सम्पूर्ण मानवीय मूर्ति को उद्घाटित किया है।

## 2.2.3.2. साहित्य और जीवन के अन्तःसूत्र का अन्वेषण

'आवारा मसीहा' के रूप में शरच्चन्द्र को केन्द्र में रखकर जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने साहित्य और जीवन के अन्तःसूत्रों का सफल अन्वेषण किया है। स्वयं शरच्चन्द्र भी यह स्वीकार करते हैं कि "मानव क्या है, यह मानवता को देखे बिना नहीं समझा जा सकता ... साहित्यकार यदि मानव को न देखे तो साहित्य नहीं होता ... घर बैठकर आरामकुर्सी पर पड़े रहकर साहित्य की सृष्टि नहीं होती, हाँ ! नकल की जा सकती है।" मानव को देखने की इसी प्रवृत्ति के कारण लोगों ने शरत के जीवन की कटु आलोचना की, लेकिन उनके इसी प्रयास व प्रवृत्ति के चलते उनका साहित्य लोकप्रिय एवं प्रामाणिक सिद्ध हुआ। उनकी स्पष्ट धारणा है कि "साहित्यकार साहित्य-सृजन के समय न तो हिन्दू होता है न मुसलमान। साहित्य में उपदेष्टा नहीं, सृष्टा और दृष्टा का स्थान ऊँचा होता है।" इस प्रकार उन्होंने सामाजिक मर्यादा से अधिक मानविक मर्यादा को महत्त्व प्रदान किया है। वे नैतिकता से बढ़कर समग्र नैतिकता में अपनी घोर आस्था प्रकट करते हैं।

'आवारा मसीहा' जीवनी को पढ़कर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि स्वयं को छिपाने की कला में दक्ष होने पर भी शरच्चन्द्र अपने साहित्य में कभी अव्यक्त नहीं रहे हैं। नाम, घटनाएँ या स्थान में आंशिक परिर्वन हो सकता है, लेकिन उनका भाव-सत्य शरत के जीवनानुभव से पूरी तरह छनकर आया है। स्वानुभूत और साक्षात्कृत सत्य को ही उन्होंने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। उदाहरणार्थ घर-जमाई 'काशीनाथ' में उनके पिता मोतीलाल का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। उनके साहित्य में विधवाओं के पुनर्विवाह का उल्लेख न पाये जाने के मूल में उनके निजी जीवन की त्रासदी ही है जहाँ वे सामाजिक मर्यादा और हिन्दू संस्कारों की रूढ़ियों की बाधा के फलस्वरूप बहुत चाहकर भी निरूपमा देवी को प्राप्त नहीं कर सके।

'आवारा मसीहा' की आस्था और वस्तुपरकता के सम्बन्ध में स्वयं जीवनीकार का यह विचार द्रष्टव्य है – "एक बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैंने कला को भले ही खोया हो, लेकिन आस्था को नहीं खोया है। क्योंकि, बिना आस्था के प्रवादों और अनेकमुखी कथनों से घिरे हुए शरच्चन्द्र के जीवन मर्म के उद्घाटन की अन्तर्दृष्टि मेरे लिए सम्भव नहीं थी।" लेकिन आस्था की घनीभूतता में रचना की वस्तुपरकता क्षीण नहीं होनी चाहिए और 'आवारा मसीहा' में जीवनीकार ने इसका पूरा ध्यान रखा है। चाहे हिरण्यमयी देवी का प्रसंग हो या निरूपमा देवी का, जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने प्रत्येक प्रसंग के पर्याप्त साक्ष्य संकलित किए हैं। आज भी ऐसे बहुत लोग हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि शरत का विवाह नहीं हुआ था। उनकी मान्यता का आधार खोज लेना आसान नहीं है। क्योंकि, शरच्चन्द्र समाज के व्यक्ति बनकर नहीं रहे, उससे कटकर रहे। पहले विवाह के तो कुछ प्रमाण मिले थे, लेकिन दूसरे विवाह के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन था। इस सन्दर्भ में लोगों ने कल्पनाएँ कीं, गलत बयान प्रस्तुत किए। ऐसे में विष्णु प्रभाकर ने प्रचलित किंवदन्तियों में सर्वाधिक प्रामाणिक लगने वाली घटना को स्वीकार किया है। हालाँकि उन्होंने स्पष्ट किया है कि "शायद यह घटना इसी तरह राई रत्ती नहीं घटी। कैसे घटी कोई नहीं जानता। पर यह सच है कि यह विवाह समाज और कानून सभी प्रकार के विवाह से किसी प्रकार कम नहीं हुआ। ... उस दिन से हिरण्यमयी ने कानूनसम्मत पत्नी न होते हुए भी पत्नीत्व के दायित्व को पूर्ण रूप से ओढ़ लिया।" अपने कथन की संपुष्टि में जीवनीकार शरच्चन्द्र के मित्र और वकील श्री

उमाप्रसाद मुखर्जी से प्राप्त शरत के वसीयतनामे की प्रतिलिपि ज्यों कि त्यों प्रस्तुत करते हैं जिसमें शरत ने हिरण्मयी देवी को पत्नी की संज्ञा देते हुए उन्हें अपनी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी घोषित किया है।

विष्णु प्रभाकर ने जीवनी-विश्लेषण में समाज विश्लेषण को भी अनिवार्य माना है। वे केवल ऊपरी बातों पर ही गौर नहीं करते, अपितु बहुत गहरे उतरकर वास्तविकता की गहरी छान-बीन करते हैं। उदाहरणार्थ शरच्चन्द्र की रचनाओं की बिक्री और उनकी लोकप्रियता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि "एक खण्ड की पाँच-पाँच हजार प्रतियाँ छपती थीं और कुछ महीनों में बिक जाती थीं।" विष्णु प्रभाकर की बजाय कोई अन्य सामान्य रचनाकार इतना ही लिखकर रह जाता। परन्तु विष्णु प्रभाकर आगे लिखते हैं – "उन दिनों देश में काफी धन था। क्योंकि, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पटसन का दाम बढ़ गया था। बंगाल पटसन के लिए प्रसिद्ध है। अधिक धन के कारण लोगों का जीवन स्तर ऊपर उठ रहा था। काँच की कुप्पी की जगह हरीकेन लालटेन आ गई थी और सिर के ऊपर फूस के छप्पर का स्थान टीन की चादरों ने ले लिया था, इसलिए लोग पुस्तकें भी खरीदने लगे थे।" कहना गलत न होगा कि यह प्रसंग पठनाभिरुचि को प्रभावित करने वाली जिन स्थितियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, वह जीवनीकार के लिए बहुत आवश्यक प्रतीत नहीं होता, लेकिन यदि ऐसा किया जाता है तो इससे तत्युगीन सामाजिक स्थितियों के विश्लेषण में प्रामाणिकता का ही समावेश होता है। अतः यह एक प्रकार से अप्रासंगिक होकर भी दूसरे ढंग से ज्या दा प्रासंगिक है।

युगीन शक्तियों ने जिस सीमा तक शरच्चन्द्र के अन्तर्बाह्य को जोड़ने-तोड़ने, उभारने-दबाने का कार्य किया, उन्हें उस सीमा तक उपादेय मानकर, जीवनीकार ने उनका पर्याप्त परिशीलन किया है। साथ ही, शरच्चन्द्र ने स्वयं अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से सामाजिक जीवन को कितना आन्दोलित किया, इस प्रभाव का मूल्यांकन उनका परम लक्ष्य रहा है। शरच्चन्द्र की बाल्यावस्था का समय प्रबल प्रतापी ज़मींदारों का युग था। ज़मींदार लोग अपने निजी स्वार्थों के लिए गरीब तथा अनपढ़ जनता का हर प्रकार से शोषण करते थे। उदाहरणस्वरूप शरच्चन्द्र के दादा बैकुण्ठनाथ चट्टोपाध्याय को मादूमपुर के ज़मींदार की आज्ञानुसार एक मुकदमे में झूठी गवाही न देने के अपराध में मौत का शिकार होना पड़ा था। इस घटना का उल्लेख करते हुए जीवनीकार ने लिखा है – "ज़मींदार का इतना आतंक था कि वह (शरत की दादी) चिल्लाकर रो भी नहीं सकती थी। उसका अर्थ होता, पुत्र से भी हाथ धो बैठना। गाँव के बड़े-बूढ़ों की सलाह के अनुसार उसने अपने पति की अन्तिम क्रिया जल्दी-जल्दी समाप्त की और रातों-रात देवानन्दपुर अपने भाई के पास चली गयी।" शरत की प्रौढ़ावस्था में नवीन सामाजिक तथा राजनैतिक चेतना के परिणामस्वरूप ज़मींदारी प्रथा टूटने लगी थी और उनका आतंक भी धीरे-धीरे कम होने लगा था। जनता अब ज़मींदारों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने लगी थी। गोविन्दपुर गाँव में शिव की मूर्ति की स्थापना को लेकर गाँव वालों और वहाँ के ज़मींदार के बीच हुए झगड़े से इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

'आवारा मसीहा' जीवनी को पढ़कर ज्ञात होता है कि शरच्चन्द्र के समय में नारी की स्थिति सर्वाधिक दयनीय थी। यद्यपि युगों-युगों से शोषित-पीड़ित नारी के उत्थान के लिए उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध यानी उनके जीवनकाल में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज जैसी धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं द्वारा समाज-सुधार के

लिए आन्दोलन तो बहुत हुए थे, किन्तु इन आन्दोलनों से बंगाली समाज का एक छोटा-सा भाग ही प्रभावित हो सका था। अधिकांश जनता परम्परागत रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों से घिरी हुई थी। अनेक कारणों से जिन लड़कियों का विवाह नहीं हो पाता था, कुलीन रसोइए कुछ रुपयों के बदले पाटे पर बैठकर उनको पार कर देते थे। माँग में सिन्दूर भरे वे सधवाएँ फिर सारा जीवन पति की न समाप्त होने वाली प्रतीक्षा में बिता देती थीं। तत्कालीन समाज में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था। शरच्चन्द्र और निरूपमा का प्रेम-प्रसंग इस तथ्य की पुष्टि करता है।

'आवारा मसीहा' में नयन बागदी और शरत के साथ लुटेरों द्वारा लूटपाट के प्रयास की घटना से सामाजिक लूटपाट तथा पुलिस के प्रति जनता के असंतोष के संकेत भी मिलते हैं– "बाघ के सामने पड़कर भी दैव संयोग से प्राण बच सकते हैं, लेकिन पुलिस के पल्ले पड़कर नहीं।" गोविन्दपुर गाँव के लोगों के पक्ष में शरत बाबू के साथ थानेदार की कहा-सुनी की घटना से एक ओर जहाँ पुलिस की मनमानी और रिश्वतखोरी का पर्दाफ़ाश हुआ है तो वहीं दूसरी ओर शरत बाबू के व्यक्तित्व और कृतित्व से उत्पन्न गतिशीलता भी प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित हुई है। उदाहरणार्थ, थानेदार शरत बाबू से कहता है कि "ज़मींदार से घूस लेने के अपराध में भुवनेश्वर बाबू ने मुझे निलम्बित कर दिया है। आप मुझ पर कृपा कीजिए।"

जिस समय शरच्चन्द्र साहित्यिक लोकप्रियता की चरम-सीमा पर थे, उस समय राजनैतिक क्षितिज पर देश में नयी परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं। 'जलियाँवाला बाग' हत्याकाण्ड से सारा देश काँप उठा था। इस घटना ने शरत के भावुक हृदय को छू लिया। वे देशबन्धु चितरंजनदास के साथ सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। उसके उपरान्त गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन में जी-जान से जुट गए। चौरी-चौरा काण्ड के परिणामस्वरूप गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। गाँधीजी के इस निर्णय से शरच्चन्द्र दुखी थे, क्योंकि इस अवस्था में आन्दोलन को बन्द करने का अर्थ वे उसकी अपमृत्यु मानते थे। जून 1922 में देशबन्धु के जेल से छूट जाने के पश्चात् उनके कौंसिलों में प्रवेश के प्रस्तावों का विरोध, 14 जून 1922 को शरत का कांग्रेस कमेटी के सभापति-पद से त्यागपत्र, कांग्रेस का विभाजन, स्वराज्य पार्टी की स्थापना, बारीसाल नगर में 13 मई 1923 ई. में बंगीय प्रादेशिक कमेटी की बैठक में देशबन्धु और शरत के साथ अभद्र व्यवहार और उस पर साहित्यिक प्रतिक्रिया आदि का चित्रण यह स्पष्ट करता है कि शरत वैसे नहीं थे जैसा राजनीति के लिए आदमी को बनना पड़ता है। यही वजह है कि वे साहित्य-साधना के क्षेत्र में पुनः लौट आए। शरत की 'पथेरदाबी', 'महेश', 'अभागी का स्वर्ग' तथा अपूर्ण उपन्यास 'जागरण' आदि रचनाओं में उनकी राजनैतिक अभिज्ञता और विश्वास का प्रमाण मिलता है। इन रचनाओं में गरीबी, ज़मींदारों के अत्याचार और स्वाधीनता के प्रति अदम्य आकांक्षाओं का प्रस्फुटन भी हुआ है। 'जागरण' में एक स्थान पर नायिका का ज़मींदार पिता कहता है कि "प्रजा की मनःस्थिति में भारी परिवर्तन आ गया है। अब यह चाहे शिक्षा का परिणाम हो, चाहे युगधर्म का हो, चाहे ज़मींदारों के अत्याचारों का नतीजा हो, जनता अब ज़मींदारी प्रथा का नाश चाहती है। दो रोज पहले हो या दो रोज बाद, ज़मींदारी मिटेगी ज़रूर। ज़मींदारी को विदा होना होगा। तुम किसी भी तरह इसे बचा न सकोगे।"

जीवनीकार ने शरत साहित्य के माध्यम से शरत को पहचानने का प्रयत्न किया है। विभिन्न पात्रों को प्रायः शरत के जीवन-प्रसंगों में खोजा है। रचना-सृजन की प्रक्रिया में स्वयं शरत के कथनों, उनके समकालीन व्यक्तियों के वक्तव्यों तथा अन्य जीवनीकारों के प्रयत्नों को आधार बनाया गया है। किंवदन्तियों और परस्पर विरोधी वक्तव्यों का जाल काटकर शरच्चन्द्र की गुण-दोषमयी सजीव मानवीय मूर्ति का उद्घाटन किया गया है। भ्रान्त-निर्भ्रान्त घटनाओं की पृष्ठभूमि में अन्तर्निहित तत्त्वों, रूपाकार के नियामक प्रेरणा-स्रोतों को जानना व पहचानना जीवनीकार का प्रधान लक्ष्य रहा है। कई प्रसंगों में अनुसंधानप्रक्रिया का उपयोग करते हुए प्रमाणसहित लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। शरच्चन्द्र के जीवन को तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से निरूपित करना वस्तुतः एक दुष्कर कार्य था। इस लक्ष्य की प्राप्ति में जीवनीकार की आस्था व निष्ठा सहायक रही है।

### 2.2.3.3. शिल्प-विधान

'आवारा मसीहा' एक जीवनी है। जीवनी का शिल्पविधान अति विशिष्ट होता है। यह एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की कथा होती है, लेकिन कथात्मक होते हुए भी उपन्यास की भाँति इसके पात्र कल्पना निर्मित नहीं होते। तथ्यात्मकता तथा सत्य घटनाओं का निर्वाह जीवनी विधा के लिए परमावश्यक है। यहाँ रचनाकार तथ्यों से बँधा रहता है। वैसे तो जीवनी तथा उसके विभिन्न भागों का नामकरण जीवनी शिल्प-विधान की दृष्टि से विवेचन का विषय नहीं है, किन्तु यदि किसी जीवनी के नाम को लेकर की गई प्रतिक्रियाएँ दो अलग-अलग बिन्दुओं पर केन्द्रित हों तो उनका अनुशीलन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस आलोक में किसी ने ईसा मसीह से शरच्चन्द्र की समानता सिद्ध करते हुए 'आवार मसीहा' नामकरण को सर्वाधिक उपयुक्त ठहराया है तो किसी ने उन्हें 'आवारों का मसीहा' ही कह दिया। इसका संभावित कारण शरत के विरुद्ध वह आरोप बताया गया है जिसके अनुसार समाज के निक्कमों, आवारों, अतृप्त आकांक्षा वाले लोगों को शरत की पर्याप्त सहानुभूति प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त विवादास्पद प्रतिक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में स्वयं जीवनीकार ने 'आवारा मसीहा' के तीसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है कि "आवारा मसीहा नाम को लेकर काफी ऊहापोह मची है। वे-वे अर्थ किये गए जिनकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं तो इस नाम के माध्यम से यही बताना चाहता था कि कैसे एक आवारा लड़का अन्त में पीड़ित मानवता का मसीहा बन गया। 'आवारा' और 'मसीहा' दो शब्द हैं। दोनों में एक ही अन्तर है। आवारा के सामने दिशा नहीं होती। जिस दिन उसे दिशा मिल जाती है वह मसीहा बन जाता है।" किन्तु जीवनीकार के इस कथन से भी पूर्ण सहमति आवश्यक प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति के जीवन की दिशा एकदम प्रारम्भ से ही सुनिश्चित नहीं हो जाती। शरत की तथाकथित आवारगी के बीच ही उनकी साहित्य-साधना भी चल रही थी, इसलिए उनके जीवन का प्रथम पर्व 'दिशाहारा' नहीं कहा जा सकता।

'आवारा मसीहा' के नामकरण की सार्थकता पर विचार करने के लिए 'आवारा' और 'मसीहा', दोनों शब्दों के अर्थ पर विचार करना भी तर्कसंगत है। 'आवारा' शब्द के कोशार्थ के अनुसार शरत को इधर-उधर भटकने वाला, निकम्मा ओर व्यर्थ घूमने वाला नहीं कहा जा सकता। तत्युगीन समाज की दृष्टि में निषिद्ध कर्म करने और वांछित कर्म न करने के कारण वे निकम्मे भले ही कहे गए हों, परन्तु वे जो कर रहे थे, वह न तो भटकाव

था और न ही निरर्थक। इस तथ्य को स्वयं जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने भी स्वीकार किया है। वस्तुतः उनकी आवारगी ही उनके साहित्य की पीठिका बनी। दूसरे शब्द 'मसीहा' पर विचार करें। मसीहा का कोशार्थ है – 'मुर्दों को जिला देने की शक्ति रखने वाला', 'हजरत ईसा', 'मित्र', 'दूसरे देशों का भ्रमण करने वाला'। बाद में हताश जनसमूह के जीवन में आत्मविश्वास जगाने वाले समर्थ पुरुष को भी मसीहा कहा जाने लगा। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो तत्युगीन समस्त विरोधों को झेलते हुए समाज से तिरस्कृता-पतिता नारियों के भीतर सम्पूर्ण नारीत्व व मानवत्व को खोजकर उसे प्रकाश में लाने का दायित्व शरत बाबू ने निष्ठापूर्वक निभाया है।

जीवनीकार विष्णु प्रभाकर ने शरच्चन्द्र से तादात्म्य स्थापित करके उन्हें प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। उनका भाषिक-विधान इस तादात्म्य का मुख्य अंग रहा है। यही वजह है कि 'आवारा मसीहा' जीवनी को पढ़ना नहीं पड़ता, बल्कि शरत के उपन्यासों की तरह ही यह स्वयं को पढ़वाती है। किसी भी बात को सरल बनाकर कहने की जो कला शरत में थी, हालाँकि जिसे कुछ आलोचकों ने वैदिग्ध्यहीन और निम्न स्तर की कला माना था, वही बुद्धि के दाँव-पेंच वाले शब्दों और क्लिष्ट वाक्य-विन्यास से रहित, सहज-सरल, निश्चित अर्थ और संवेदनधर्मी भाषा की क्षमता 'आवारा मसीहा' में द्रष्टव्य है। इस ग्रन्थ की भाषा आद्योपान्त प्रांजल, परिष्कृत तथा सहज प्रवाहमयी है। 'आवारा मसीहा' कृति में रचनाकार की अपनी भाषा के अनेक बन्धन लगभग शिथिल पड़ चुके हैं तथा एक रचनाकार के प्रति दूसरे रचनाकार की सहधर्मिता स्पष्ट हो उठी है। 'आवारा मसीहा' जीवनी में तत्सम, तद्भव, देशज, उर्दू और अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ गल्प, दिशाहारा, भद्रलोक, माढ़ढ आदि बांग्ला शब्दों का भी सहजता से उपयोग किया गया है। समतुकान्त सहयोगी शब्द, आवृत्तिमूलक शब्द, लोकोक्ति, मुहावरे आदि भी अवसरानुकूल प्रयुक्त किए गए हैं। कतिपय आलोचकों की दृष्टि में 'आवारा मसीहा' के शिल्प-विधान में कहीं-कहीं क्रमबद्धता और पुनरुक्ति दोष मौजूद है परन्तु सच तो यह है कि रचना की सहजता, पूर्ण और स्वतन्त्र से दिखते अध्यायों व सन्दर्भों के बीच एक गहरी एकसूत्रता इन आरोपों को सिरे से खारिज कर देती है।

## 2.2.4. बहुचर्चित हिन्दी जीवनियों के सापेक्ष 'आवारा मसीहा'

हिन्दी का जीवनी साहित्य परिमाण के साथ-साथ गुणवत्ता और कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से निरन्तर समृद्ध हुआ है। इनमें तीन जीवनियाँ सर्वाधिक चर्चित हुईं – अमृत राय-कृत 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही', रामविलास शर्मा द्वारा रचित 'निराला की साहित्य साधना' तथा विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित 'आवारा मसीहा'। तीनों जीवनीकारों ने अपने चरितनायकों के उत्तरदायित्वपूर्ण गृहस्थ-रूप, रचना-प्रक्रिया और नये लेखकों के साथ उनके सहयोग पर प्रकाश डाला है। अन्याय का प्रतिकार तीनों करते हैं। हालाँकि तीनों जीवनियों को पढ़ने से ज्ञात होता है शरच्चन्द्र ने अपने चरित्र और जीवन पर सर्वाधिक व्यक्तिगत आक्षेप झेला। शरत का साहित्य से पहला परिचय आँसुओं के माध्यम से हुआ तो प्रेमचंद ने साहित्य या कलम की ताकत पहचानी जबकि निराला संगीत और साहित्य पर मुग्ध हो इसी क्षेत्र में आगे बढ़ने को प्रवृत्त हुए।

विष्णु प्रभाकर, रामविलास शर्मा और अमृत राय, तीनों के पास कहने के लिए अपना बहुत कुछ है और उसे अभिव्यक्त करने के लिए तीनों ने निजी पद्धति की खोज की है। विष्णु प्रभाकर का वैशिष्ट्य औपन्यासिक

शैली की कलात्मकता और अन्वेषक की गवेषणात्मकता का संतुलित समायोजन है। रामविलास शर्मा की शैली में उनका आलोचक और इतिहासकार रूप अधिक झलकता है। यद्यपि निराला के चरित्र की नाटकीयता के कारण प्रारम्भिक अंशों में औपन्यासिक शैली का भी सफल निर्वहन हुआ है जबकि अमृत राय मुख्यतः किस्सागोई की शैली अपनाते हैं। निराला की कथा अवध, बैसबाड़ा, गढ़ाकोला गाँव और चरितनायक के वंश परिचय से शुरू होती है। 'कलम का सिपाही' भी चरितनायक के क्षेत्र और वंश परिचय से आरम्भ होती है जबकि शरत की जीवनी उनके नाना के घर से बालक शरत के 'विदा होने के दर्द' से शुरू होती है, वंश परिचय चौथे अध्याय में वर्णित है। सर्वाधिक रोचकता 'आवारा मसीहा' के प्रारम्भ में है जहाँ रोचकता का सन्निवेश कल्पनाजन्य नहीं, अपितु प्रमाणों पर आधारित है। यही वजह है कि 'आवारा मसीहा' उपन्यास की तरह रोचक, परन्तु उससे उलट कोरा सत्य है। रामविलास शर्मा ने कहीं कथात्मक, कहीं विशुद्ध वर्णनात्मक, कहीं व्यंग्य और वाद-विवाद की तो कहीं शुद्ध निबन्ध की शैली अपनायी है। विषय-वैशिष्ट्य के आधार पर प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की जीवनी में भी शैली वर्णनपरक, चित्रणात्मक, विवेचनात्मक, व्याख्याधर्मी और भावात्मक हो गई है। इतिवृतात्मकता का समावेश तीनों जीवनियों में निषिद्ध रहा है। प्रेमचंद की जीवनी में प्रायः उत्तम पुरुष की प्रधानता है। रामविलास शर्मा ने प्रायः लघु वाक्य-रचना का आश्रय लिया है। विष्णु प्रभाकर कहीं समाहार का आग्रह प्रकट करते हैं तो कहीं व्यास का। मर्यादा के अनुसार कहीं-कहीं संक्षिप्त संकेत में भी अपनी पूरी बात कह जाने का कौशल उनमें है। निरुपमा के सौन्दर्य और कालिदास से शरच्चन्द्र के सम्बन्धों में उनकी यह विशेषता परिलक्षित होती है।

अमृतराय का साम्रगी-संयोजन कहीं-कहीं कृति के प्रभाव की समग्रता को खण्डित करता है। किन्तु विष्णु प्रभाकर ने सामग्री का संयोजन इस कुशलता से किया है कि उसमें कहीं भी पैबन्द नहीं दिखते बल्कि एक सतत आत्मीय प्रवाह उसे समग्रता में समेटे रहता है। गुण-दोषमयी सजीव मानवीय मूर्ति के उद्घाटन में विष्णु प्रभाकर ने आस्था, सहृदयता और निष्पक्षता तथा वस्तुपरकता का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से वे अमृत राय के अधिक निकट जान पड़ते हैं। भ्रान्त घटनाओं के पीछे के सत्य को पहचानना और सामने लाना ही उनका अभीष्ट रहा है।

## 2.2.5. पाठ-सार

जीवनी व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व को समग्रता में अभिव्यक्त करने वाली महत्त्वपूर्ण विधा है। जीवनी के केन्द्र में चरितनायक का जीवन एवं चरित्र, युग और पृष्ठभूमि सबका विशिष्ट कलात्मक सन्निवेश रहता है। तथ्यपरकता तथा जीवनगत सत्य जीवनी के लिए जितने आवश्यक हैं, उतनी ही अनिवार्यता उन अन्तःप्रेरणाओं की भी होती है जिनसे चरित-नायक का खास व्यक्तित्व उभरता है। जीवनी लेखन की परम्परा आदिकाल से रही है। आदिकालीन वीरकाव्य, भक्तिकाल में 'परचई साहित्य' एवं 'वार्ता साहित्य' क्रमशः राजा-महाराजाओं एवं भक्तों के जीवन-चरित पर ही आधारित हैं। विष्णु प्रभाकर विरचित 'आवारा मसीहा' जीवनी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि मानी जा सकती है। शरच्चन्द्र जैसे युगप्रवर्तक साहित्य-सर्जक के वैचारिक भावात्मक विकास को जीवनीकार ने रचनात्मक सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया है। स्वयं विष्णु प्रभाकर के लिए 'आवारा मसीहा' का योगदान, उन्हीं के शब्दों में " 'आवारा मसीहा' लिखने के बाद मेरे लेखन में गाम्भीर्य आया है। मैं भी स्वीकार

करूँगा कि मेरी दृष्टि ज्यादा व्यापक हुई। शायद बहुत घूमने, बहुत कुछ देखने के कारण भी। शरत के विचित्र चरित्र ने भी मुझे बहुत कुछ दिया।" 'आवारा मसीहा' में शरत की रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, क्षमताएँ, मान्यताएँ, दुर्बलताएँ, रचना-प्रक्रिया, परिवेश का दबाव, शरच्चन्द्र का अन्तर्बाह्य स्वरूप समग्रता में वर्णित किया गया है। शरच्चन्द्र के जीवन को सम्पूर्णता में अन्वेषित तथा विश्लेषित करने के उद्यम के सुदीर्घकालानुभूत अभाव की परिपूर्ति की दृष्टि से प्रणीत 'आवारा मसीहा' अतिविलक्षण ग्रन्थ है। इस वैदुष्यमयी कृति की रचना विष्णु प्रभाकर के लिये 'यशस्वी' विशेषण को सर्वथा सार्थक सिद्ध करती है।

## 2.2.6. कठिन शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| अवसाद | : | विषाद, थकावट |
| प्रतिकार | : | बदला चुकाना |
| इतिवृत | : | कथा, कहानी |
| सन्निवेश | : | गहरी पैठ |
| अभीष्ट | : | वांछित, मनोरथ |

## 2.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. प्रभाकर विष्णु, आवारा मसीहा, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली.
2. असद, माजदा, गद्य की नई विधाओं का विकास, ग्रन्थ अकादमी, नयी दिल्ली.
3. तिवारी, रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी का गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. राजे, सुमन, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.


## 2.2.8. बोध प्रश्न

**संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –**

1. जीवनी साहित्य का उद्भव एवं विकास।
2. जीवनी विधा का स्वरूप।
3. 'आवारा मसीहा' का नामकरण।
4. 'आवारा मसीहा' का शिल्प-विधान।
5. बहुचर्चित हिन्दी जीवनियों के सापेक्ष 'आवारा मसीहा'।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. "हिन्दी जीवनी साहित्य में 'आवारा मसीहा' एक अन्यतम उपलब्धि है।" उक्त कथन की युक्तियुक्त पुष्टि कीजिए।
2. " 'आवारा मसीहा' में व्यक्ति और परिवेश का अभूतपूर्व संयोजन हुआ है।" इस कथन की सप्रमाण समीक्षा कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. 'आवारा मसीहा' के रचयिता हैं –
   (क) अमृतराय
   (ख) रामविलास शर्मा
   (ग) विष्णु प्रभाकर
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. 'आवारा मसीहा' किस विधा की रचना है ?
   (क) जीवनी
   (ख) संस्मरण
   (ग) कविता
   (घ) उपन्यास

3. 'निराला की साहित्य साधना' के रचयिता हैं –
   (क) रामविलास शर्मा
   (ख) अमृतराय
   (ग) विद्यानिवास मिश्र
   (घ) विष्णु प्रभाकर

4. 'आवारा मसीहा' का प्रकाशन कब हुआ ?
   (क) 1972 ई. में
   (ख) 1973 ई. में
   (ग) 1974 ई. में
   (घ) 1975 ई. में

5. 'आवारा मसीहा' कितने पर्वों में नियोजित है ?

(क) तीन
(ख) चार
(ग) पाँच
(घ) सात

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 2 : विविध गद्य-रूप – 1

## इकाई – 3 : यात्रा-साहित्य : किन्नर देश की ओर – राहुल सांकृत्यायन

**इकाई की रूपरेखा**

2.3.0. उद्देश्य कथन
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. यात्रा-साहित्य : एक परिचय
2.3.3. राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व, कृतित्व और यात्रा-दृष्टि
2.3.4. 'किन्नर देश की ओर' यात्रा-वृत्तान्त का रचनात्मक वैशिष्ट्य
2.3.5. पाठ-सार
2.3.6. बोध प्रश्न
2.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

### 2.3.0. उद्देश्य कथन

राहुल सांकृत्यायन का साहित्य बहुआयामी है, किन्तु वे अपने यात्रा-साहित्य के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। 'घुमक्कड़ शास्त्र' और हिमालयी अंचल से सम्बद्ध ग्रन्थों ने उन्हें हिन्दी-क्षेत्र में एक पहचान दी है। वे एक अक्लान्त यात्री थे। आत्मकथा-लेखन के क्रम में भी उन्होंने वस्तुतः अपनी उस जीवन-यात्रा को ही लिपिबद्ध किया है जो भौतिक ही नहीं, मानसिक और वैचारिक भी है।

यात्रा व्यक्ति को अनुभव समृद्ध बनाती है। उससे देश-काल का बहुविध ज्ञान प्राप्त होता है। यात्री बहते जल की तरह निरन्तर तरोताजा बना रहता है। राहुलजी ने अपनी घुमक्कड़ी के माध्यम से न केवल स्वयं को शिक्षित किया है, बल्कि साहित्य को भी अभिनव समृद्धि दी है। उनका यात्रा-साहित्य लेखकीय अनुभवों और विभिन्न क्षेत्रों के अज्ञात तथ्यों का परिदर्शक भी है। 'किन्नर देश की ओर' उन्मुख इस वृत्तान्तकार की पर्यवेक्षण-शक्ति और विवरणगत प्रस्तुति की क्षमता सहजतः उजागर हुई है। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. हिन्दी गद्य की प्रमुख विधा 'यात्रा-साहित्य' के वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
ii. यात्रा-साहित्य परम्परा से परिचित हो सकेंगे।
iii. राहुल सांकत्यायन के व्यक्तित्व और रचना संसार से परिचित हो सकेंगे।
iv. राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-वृतान्त-लेखन की विशिष्ट कला से परिचित हो सकेंगे।
v. पाठ्यक्रम में निर्धारित 'किन्नर देश की ओर' यात्रा-साहित्य का रचनात्मक वैशिष्ट्य समझ सकेंगे।

## 2.3.1. प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में यात्रा-वृत्तान्त लेखन की पुरानी परम्परा रही है। संस्कृत की 'दशकुमारचरितम्', 'भूपरिक्रमा' आदि और प्राकृत की 'वसुदेव हिन्दी' में यात्रा-साहित्य के लक्षणों की परख की जा सकती है। राहुल सांकृत्यायन के पहले हिन्दी में भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी युग तक पर्यटन का प्रचुर साहित्य लिखा गया था। ऐसा समझा जाता है कि यात्रा-वर्णन वस्तुनिष्ठ साहित्य के अन्तर्गत आता है जिसमें लेखकीय संवेदनाओं के लिए स्थान नहीं होता है। राहुलजी ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में भौगोलिक तथ्यों, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों और निजी भावनाओं को एक साथ गूँथा है। उन्होंने हिमालय के अनेक क्षेत्रों और एशिया के कई दुर्गम भागों की यात्राएँ की थीं। उन्होंने अपने अवलोकन के द्वारा देशकाल को भलीभाँति साकार किया है। उनके यात्रा-साहित्य में कई अनजान सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। घुमक्कड़ी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, अतः साधनहीनता और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उन्होंने दुष्कर यात्राएँ सम्पन्न कीं। अनेक संकटों को झेलते हुए वे उन स्थानों तक गए जिनके बारे में इतिहास और भूगोल चुप हैं। इसी क्रम में किन्नर देश की उनकी यात्रा के महत्त्व को समझा जा सकता है।

## 2.3.2. यात्रा-साहित्य : एक परिचय

मनुष्य ने भ्रमण और पर्यटन के सुन्दर अनुभवों और उल्लासपूर्ण क्षणों को शब्दों में उतारने का प्रयास किया है। इसी प्रवृत्ति से यात्रा-साहित्य का विकास हुआ है। हिन्दी-साहित्य में यह नवीन विधा पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से आई है।

'यात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति 'या' में 'ष्टन्' धातु के जोड़ने से हुई है। यात्रा का अर्थ होता है – एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। किसी यात्रा, जीवन-विवरण और लेखक की उससे जुड़ी हुई संवेदनाएँ मिलकर यात्रा साहित्य का निर्माण करती हैं। यात्रा-वृत्तान्त में किसी ऐतिहासिक, भौगोलिक या धार्मिक महत्त्व से जुड़े विशिष्ट स्थान का वर्णन किया जाता है। अर्थात् यात्रा-वृत्तान्त का वर्णन इस तरह से किया जाता है कि उसका चित्र पाठक के सम्मुख पूर्ण रूप से उभर जाए। यही यात्रा-साहित्य के लेखक की मुख्य सफलता है। यात्रावृत्त लिखने वाले लेखक को वहाँ की स्थानीयता, रीति-रिवाजों, धार्मिक प्रवृत्तियों एवम् उसकी ऐतिहासिकता का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। यात्रा-वृत्तान्त सामान्यतः वर्णनात्मक शैली के अतिरिक्त डायरी, पत्र और रिपोर्ताज शैली में भी लिखे जाते हैं। यही कारण है कि यात्रावृत्त लिखने वाला लेखक, पत्रकार या इतिहासकार से अधिक चित्रकार होता है। डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में – "यात्रा-वृत्तान्त में देश-विदेश के प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता, नर-नारियों के विविध जीवन-सन्दर्भ, प्राचीन एवं नवीन सौन्दर्य-चेतना की प्रतीक कलाकृतियों की भव्यता तथा मानवीय सभ्यता के विकास के द्योतक अनेक वस्तु-चित्र यायावर लेखक के मानस में रूपायित होकर वैयक्तिक रागात्मक ऊष्मा से दीप्त हो जाते हैं। लेखक अपनी बिम्ब-विधायिनी कल्पना-शक्ति से उन्हें पुनः मूर्त करके पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति की तुष्टि कर देता है।"

यात्रा-साहित्य का विकास निबन्ध-शैली से हुआ है। यायावर अनेक सुन्दर दृश्यों या प्रदेशों से प्रभावित होता है। इसमें वह पाठकों को भी समेट लेता है। इस प्रकार यात्रा-विवरण व्यक्तिपरक निबन्धों के बहुत समीप पहुँच जाते हैं। लारेंस ने यात्रा-साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है – "यात्राएँ हमें केवल स्पेस (स्थान) में ही नहीं ले जातीं, वे उन अज्ञात स्थानों की ओर ले जाती हैं, जो हमारे भीतर हैं।"

पाश्चात्य साहित्य में कुछ उत्कृष्ट यात्रा-विवरण लिखे गये, जिनसे प्रभावित होकर कहा गया कि उनमें एक साथ महाकाव्य और उपन्यास का विराट् तत्त्व, कहानी का आकर्षण, गीतिकाव्य की मोहक भाव-शीलता, संस्मरणों की आत्मीयता और निबन्धों की मुक्ति दिखाई पड़ती है।

कहानी या उपन्यास की रोचकता यात्रा-वृत्तान्त का आवश्यक तत्त्व है। रोचकता के उद्देश्य से कुछ यात्रा-वृत्तान्त कल्पना के सहारे भी लिखे जाते हैं। इन्हें 'ट्रेवलर्स टेल' अथवा भ्रमण-कहानी कहते हैं। आज के युग में काल्पनिक वर्णन में विश्वसनीयता नहीं रह गई है। यात्रा के विषय और वर्णन-शैली इतनी व्यापक है कि उसमें कल्पना के लिए अवकाश नहीं रहता।

प्रकृति में बिखरे सौन्दर्य को यायावर सूक्ष्मता से ग्रहण करता है। वह अपनी दृष्टि से प्रकृति के सूक्ष्म रंगों, सुन्दर वातावरण आदि का वर्णन करता है। प्राकृतिक सौन्दर्य को सूक्ष्म दृष्टि से परखने वाला यात्रा-साहित्य-लेखक प्रकृति-वर्णन में निमग्न हो जाता है। कभी-कभी यात्रा-साहित्य के लेखक को प्रकृति मुखरित दिखाई पडती है। वह प्रकृति-प्राप्त दार्शनिक वृत्ति और गहरी अनुभूतियों को यात्रा-विवरण में प्रस्तुत करता है। लेखक का गम्भीर चिन्तन भी यात्रा साहित्य को गरिमा प्रदान करता है। यात्रा में मनोरंजन का तत्त्व भी रहता है। जो यात्राएँ साहित्य, धर्म आदि की खोज की दृष्टि से की जाती हैं, उनमें मनोरंजन भी होता है। यह मनोरंजन का तत्त्व ही यात्रा-साहित्य में उल्लास एवं सहजता का वातावरण प्रस्तुत करता है।

यात्रा-साहित्य की अधिकतर रचना गद्य में हुई। कहीं-कहीं गद्य-पद्य मिश्रित शैली भी मिल जाती है। यात्रा-साहित्य में शैली की रोचकता का गुण रहना अनिवार्य है। यात्रा-साहित्य यात्रा का यथातथ्य वर्णन-मात्र नहीं है, उसमें लेखक की प्रतिक्रियाओं एवं संवेगों का समन्वय भी रहता है।

हिन्दी में यात्रा-वृत्तान्तों का प्रारम्भ अन्य आधुनिक गद्य-विधाओं की तरह भारतेन्दु-युग से ही हुआ है, किन्तु उससे पूर्व भी कुछ यात्रा-वृत्तान्तों के उल्लेख मिलते हैं। ये सभी हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुए हैं। भारतेन्दु-काल में लिखे अधिकांश यात्रा-वृत्तान्त उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। स्वयं भारतेन्दु ने पाँच यात्रा-सम्बन्धी निबन्ध लिखे हैं – 'सरयू पार की यात्रा', 'मेहदावल की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'हरिद्वार की यात्रा' और 'वैद्यनाथ की यात्रा'। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' पत्रिका में 'कतिकी नहान' तथा 'गया यात्रा' का वर्णन किया है।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी में यात्रा-साहित्य की एक अखण्ड परम्परा देखने को मिलती है। इन यात्रा-वृत्तान्तों में हिन्दी-प्रदेश में निवास करने वाले विशाल मानव-समुदाय के मानसिक क्षितिज की सूचना मिलती है। इन

रचनाओं में पण्डित दामोदर शास्त्री-कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (1805), तोताराम वर्मा की 'केदारनाथ यात्रा' (1890), देवीप्रसाद खत्री-कृत 'रामेश्वर यात्रा' और 'बदरिकाश्रम यात्रा', शिवप्रसाद गुप्त-कृत 'पृथिवी प्रदक्षिणा', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक-कृत 'मेरी कैलाश यात्रा', 'मेरी जर्मन यात्रा' और पण्डित रामनारायण मिश्र-कृत 'यूरोप यात्रा में छह मास' आदि विशेष रूप से स्मरणीय है। महादेवी वर्मा ने भी 1883 ई. में 'लंदन यात्रा' नाम से एक यात्रा-साहित्य लिखा था जो ओरिएंटल प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुआ था।

यात्रा-साहित्य को समृद्ध करने में जितना योगदान महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का है उतना किसी अन्य का नहीं। उनकी रचनाओं में 'तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'राहुल यात्रावली', 'यात्रा के पन्ने', 'रूस में पच्चीस मास', 'एशिया में दुर्गम खण्डों में' आदि प्रमुख हैं। इन सभी रचनाओं में सर्वोपरि इनका 'घुमक्कड़ शास्त्र' है जिसमें इन्होंने घुमक्कड़ों के मार्ग-दर्शन के लिए अपने यायावरी जीवन का पूरा निचोड़ ही सामने रख दिया है। यात्रा-वृत्त लिखने वाले में एक अन्य नाम सेठ गोविन्ददास का है। उन्होंने 'हमारे प्रधान उपनिवेश', 'सुदूर दक्षिण पूर्व' और 'पृथ्वी परिक्रमा' आदि महत्त्वपूर्ण यात्रावृत्त लिखे हैं जिनमें उन्होंने पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका की जहाजी यात्रा, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, यूनान, इटली, चीन, जापान आदि देशों का बड़ा ही मार्मिक और यथार्थवादी चित्रण किया है। कर्नल सज्जन सिंह ने 'लद्दाख यात्रा की डायरी' में 1800 फुट की ऊँचाई पर की गई शिकार-यात्रा का बड़ा ही मनोरम शैली में वर्णन किया है। सूर्यनारायण व्यास ने भी 'सागर प्रवास' में यूरोप के प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोरम चित्रांकन कियाहै।

यात्रावृत्त लेखकों में यशपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' में सोवियत संघ और पूँजीवादी देशों की व्यवस्था का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। 'राहबीती' में उन्होंने पूर्वी योरोप के देशों का चित्रण किया है। हिन्दी-यात्रा-साहित्य को समृद्ध करनेवालों में अज्ञेयजी का नाम भी आदरणीय है। इन्होंने 'अरे यायावर रहेगा याद ?' तथा 'एक बूँद सहसा उछली' नामक यात्रा-वृत्त लिखा है जिनमें प्राकृतिक सौन्दर्य के मनोरम शब्द चित्रों, घटनाओं आदि का वर्णन किया है।

हिन्दी साहित्य में यात्रा-साहित्य पर और भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमें से कुछ रचनाओं के नाम उल्लेखनीय हैं – डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय (कलकत्ता से पीकिंग, सागर की लहरों पर), रामधारी सिंह दिनकर (देश-विदेश), प्रभाकर माचवे (गोरी नजरों में हम), रामवृक्ष बेनीपुरी (पैरों में पंख बाँधकर, उड़ते चलो-उड़ते चलो), मोहन राकेश (आखिरी चट्टान तक), ब्रजकिशोर नारायण (नन्दन से लन्दन), प्रभाकर द्विवेदी (पारि उतरि कहँ जइहौं), डॉ॰ रघुवंश (हरी घाटी), धर्मवीर भारती (यादें यूरप की), यशपाल जैन (जय अमरनाथ, उत्तराखण्ड के पथ पर), भुवनेश्वर प्रसाद 'भुवन' (आँखों देखा यूरोप), डॉ॰ नगेन्द्र (तंत्रालोक से यंत्रालोक तक, अप्रवासी की यात्राएँ) आदि।

निष्कर्ष रूप में डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में कह सकते हैं कि "यायावरों की साहित्यिक यात्राएँ मानव की जिजीविषा का उद्घाटन करती हैं। जिजीविषा हर जीवधारी की मूलभूत वृत्ति है। यात्रा-वृत्तान्तों को पढ़ने से इस वृत्ति की तुष्टि होती है। इसीलिए यात्रा-साहित्य के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। यात्रा-वृत्तान्त सामान्यतः

वर्णनात्मक शैली की अतिरिक्त डायरी, पत्र और रिपोर्ताज शैली में लिखे जाते हैं। इसीलिए इसमें निबन्ध, कथा, संस्मरण आदि कई गद्य-रूपों का आनन्द एक साथ मिलता है। हिन्दी में यात्रा-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

### 2.3.3. राहुल सांकृत्यायन: व्यक्तित्व, कृतित्व और यात्रा-दृष्टि

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का जन्म 9 अप्रैल सन् 1893 ई. को पंदाहा ग्राम, जिला आजमगढ़, उत्तरप्रदेश में हुआ था। पंदाहा उनकी ननिहाल थी और उनका पैतृक स्थान पंदाहा से दस मील दूर कनैला नामक गाँव था। उनके पिता का नाम गोबर्द्धन पाण्डेय और माता का नाम कुलवन्ति था। चार भाई और एक बहन में राहुलजी ज्येष्ठ थे। उनके बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। राहुल नाम तो बाद में जब वे बौद्ध हुए तब पड़ा। राहुल नाम के आगे सांकृत्यायन उनके सांकृत्य गोत्रीय होने के कारण लगा।

**सैर कर दुनिया की ग़ाफ़िल ज़िंदगानी फिर कहाँ**
**ज़िंदगी गर कुछ रही तो ये जवानी फिर कहाँ**

ख़्वाजा मीर दर्द का यह शेर राहुलजी को देश-विदेश यात्रा के लिए प्रेरित करता रहा है। राहुलजी की प्रारम्भिक यात्राओं का ध्येय प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों का अध्ययन तथा देश-देशान्तरों की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करना था। सनातन धर्म से आर्य समाज, आर्य समाज से बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्म से साम्यवाद और अन्ततः मानव-धर्म यह राहुलजी की विकास-यात्रा का क्रम है।

राहुलजी की आत्मकथा का शीर्षक है 'मेरी जीवन यात्रा'। उनका पूरा जीवन मानसिक और भौतिक यात्राओं का पर्याय है। उन्होंने 'घुमक्कड़ शास्त्र' में यायावरी को एक जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। 'परसामठ' से सोवियत संघ तक की उनकी यात्रा अनेक बदलावों को उदाहृत करती है।

राहुलजी केवल देश-दर्शन के लिए ही यात्राएँ नहीं करते थे। उनकी अनेक यात्राओं का लक्ष्य ज्ञानार्जन था। इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्य के अनेक बिखरे सन्दर्भों को स्वायत्त करने के लिए उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों की यात्राएँ की थीं। यों तो वे कई देशों में पहुँचे थे, किन्तु हिमालयी क्षेत्र में उनका परिभ्रमण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हिमालय के अनेक क्षेत्रों में जाकर उन्होंने नृवंशशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास की विकीर्ण सूचनाओं को एकत्र किया था। किन्नौर या किन्नर देश, गढ़वाल, नेपाल, दार्जिलिंग और तिब्बत के भ्रमण-क्रम में उन्होंने अनेक जातियों, रीतियों, नीतियों और लोक-संस्कृति के उपादानों का संकलन किया था। उन्होंने चार बार तिब्बत की यात्राएँ की थीं और लुप्त सामग्री का अन्वेषण किया था। अपनी प्रखर शोध-दृष्टि के कारण उन्होंने भारत और तिब्बत के सन्दर्भों की गहरी पड़ताल की थी। इन यात्राओं का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म के विलुप्त पक्षों को सामने लाना था।

सनातन हिन्दू धर्म और आर्य समाज के पड़ावों को पार करते हुए जब वे बौद्ध धर्म से सम्पृक्त हुए तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि हिमालय के दुर्गम क्षेत्रों में ऐसी अनेक चीजें बिखरी हुई हैं जिनका समाकलन आवश्यक है।

श्रीलंका के परिवेण के परिसर में उन्हें इस बात की प्रेरणा हुई कि बौद्ध धर्म के सम्यक् अध्ययन के लिए तिब्बत जाना आवश्यक है। अनेक आर्थिक और बौद्धिक बाधाओं को झेलते हुए वे तिब्बत पहुँचे थे। उन्होंने वहाँ 'कंजूर और तंजूर' का पर्यालोचन किया था तथा धर्म, नीति, वसुबन्धु और असंग की रचनाओं की खोज की थी। बौद्ध न्याय के अनुपलब्ध ग्रन्थ 'प्रमाण वार्तिक' का उद्धार उन्होंने तिब्बत से ही किया था। उनकी यह खोज बौद्ध साहित्य के सन्दर्भ में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। तिब्बत से वे बहुसंख्यक 'टंका' या 'थंका' चित्र ले आए थे। बौद्ध संस्कृति के परिशीलन की दृष्टि से ये चित्र आज भी अध्येताओं की बाट जोह रहे हैं। बौद्ध साहित्य के सहजयान को जानने के लिए उन्होंने तिब्बत से कई सिद्धाचार्यों की रचनाओं को प्रकाशित किया था। इस सन्दर्भ में सरहपा का 'दोहाकोश' स्मरणीय है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित 'दोहाकोश' में मूल तिब्बती पाठ के साथ तद्गत अनुवाद भी मिलते हैं।

तिब्बत की अपनी यात्राओं में राहुलजी ने जिन रचनाओं को खच्चरों पर लादकर भारत ले आने का काम किया था उन पर आज भी गहन अनुसंधान की अपेक्षा है। नागरी प्रचारिणी सभा, के.पी. जायसवाल इंस्टीट्यूट में उक्त सामग्री रखी हुई है। एक साहसी शोधक के जीवट की देन उक्त सामग्री के विधिवत अध्ययन का अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है।

राहुलजी लंका, नेपाल, तिब्बत, जापान, कोरिया और चीन आदि बौद्ध देशों में गए थे। उनकी दृष्टि इन देशों की साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा पर केन्द्रित थी। उनकी दैनन्दिनी, आत्मकथा आदि से एतत्सम्बन्धी उनके अध्यवसाय का पता चलता है। उनके यात्रा-वृत्तान्त निरुद्देश्य नहीं हैं। उनमें अनेक देशों की बौद्ध परम्पराओं की खोज सन्निहित है। अपने इन्हीं कार्यों के बल पर वे सिंहल के परिवेण विश्वविद्यालय और सोवियत रूस के मास्को विश्वविद्यालय में बौद्ध-दर्शन के प्राध्यापक के रूप में बुलाए गए थे। 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखकर तो उन्होंने पूरे बौद्ध साहित्य से हिन्दी को अवगत कराया। 'मज्झिम निकाय', 'बुद्धचर्चा' आदि की प्रस्तुति के द्वारा उन्होंने हिन्दी में बौद्ध-साहित्य के कई उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया। 'दर्शन दिग्दर्शन' नामक पुस्तक में उन्होंने बौद्ध धर्म की भी बुद्धिसंगत व्याख्या की है।

राहुलजी बौद्ध धर्म के समतामूलक सिद्धान्तों के कारण उसकी ओर आकृष्ट हुए थे। बौद्ध मतवाद से मार्क्सवाद की ओर उनका आगमन प्रकारान्तर से समता के सिद्धान्तों के प्रति उनके आग्रह का ही परिचायक है। अपनी यात्राओं के द्वारा उन्होंने मानव-जीवन के बुनियादी दुखों का साक्षात्कार किया था। वे अपने साहित्य के माध्यम से बुद्ध की तरह ही दुखों से मुक्ति का मार्ग खोजना चाहते थे। यात्राओं ने उन्हें विश्व-मानव बनने में सहायता की थी। वे शोध को बोध से जोड़कर देखते थे। यही कारण है कि एक अनुसंधाता के रूप में केवल तथ्यों के संकलनकर्त्ता ही नहीं, मानवीय भविष्य के चिन्तक और द्रष्टा के रूप में वे सामने आते हैं। बौद्ध साहित्य के अतीत को उन्होंने वर्तमान के प्रश्नों से जोड़ने का काम किया था। इस अर्थ में वे गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले विद्वान् नहीं थे। वे इतिहास को भी एक यात्रा मानते थे। 'वोल्गा से गंगा' इतिहास की इसी यात्रा का ललित लेखन है। इतिहास उनके लिए केवल शोध का विषय नहीं है, बल्कि मनुष्यता के परिवर्तनशील स्वरूप का दिग्दर्शन है।

राहुलजी द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या 140 के आस-पास है। जिनमें 20 पुस्तकें तो उनकी यात्राओं के बारे में है। उनका जो विपुल साहित्य है उसका एक बड़ा कारण यायावरी से मिलने वाली ऊर्जा है। राहुलजी द्वारा लिखित एक पुस्तक का नाम ही 'घुमक्कड़ शास्त्र' है। पाँच भागों में प्रकाशित उनकी आत्मकथा का नाम 'मेरी जीवन यात्रा' ही है। उन्होंने समूचे एशिया की लगभग पैदल यात्रा की थी। 70 साल की जीवन-अवधि में इतना विपुल साहित्य तथा इतनी वैचारिक और भौतिक यात्राएँ करनेवाला शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति हिन्दी-साहित्य में हुआ हो।

## 2.3.4. 'किन्नर देश की ओर' यात्रा-वृत्तान्त का रचनात्मक वैशिष्ट्य

पौराणिक साहित्य में किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर आदि कई जातियों के उल्लेख मिलते हैं। ये जातियाँ देव योनि की मानी जाती रही है। उनके क्षेत्र में पर्यटन वस्तुतः देवलोक की यात्रा है। राहुलजी की टिप्पणी है कि किन्नर या किंपुरुष उस लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं यहाँ कभी देवता रहते थे किन्तु अब यह पिछड़े जनसमूह का इलाका रह गया है। उनकी कामना है कि यह पुनः देवलोक की गरिमा प्राप्त करे।

सन् 1948 के मई से लेकर अगस्त महीने तक राहुलजी 'किन्नर लोक' का परिभ्रमण करते रहे थे। उन्होंने इस प्रसंग में जो यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है उसे हम हिमालय के एक उपेक्षित भाग का परिचयात्मक वृत्तान्त कह सकते हैं। यह किन्नर देश आज का किन्नौर जिला ही है जहाँ के लोग 'कनोर' कहे जाते हैं। हिमालय का यह भूभाग तिब्बत की सीमा पर अवस्थित है। सतलुज नदी की उपत्यका में 70 मील लम्बा और 70 मील चौड़ा यह क्षेत्र ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ के ऊपरी भाग में पानी के अभाव की समस्या है। राहुलजी ने प्रसंगवश इस भूभाग के एक सुंडा नामक गाँव को बाणासुर के बच्चों की प्रसव-भूमि बतलाया है। उन्होंने राजा केहर सिंह का जिक्र करते हुए कहा है कि उसने सराहन से अपनी राजधानी रामपुर में स्थानान्तरित कर दी थी। वे इस क्षेत्र के देवी-मन्दिर का भी उल्लेख करते हैं। उन्होंने बतलाया है कि द्वापर काल का शोणितपुर ही आज का सराहन है जो कभी बाणासुर की राजधानी था। वे उषा और अनिरुद्ध या 'अनुरुद्ध' की कथा को इस क्षेत्र से जोड़ते हैं।

किन्नर क्षेत्र के कनोर ब्राह्मणों के धर्मसंस्कारगत जाल में फँसे हुए हैं, किन्तु वे लामाओं के मंत्रों और उनके सिद्धत्व से भी प्रभावित हैं। इस दृष्टि से यह अंचल ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध धर्म की छाया में समानतः जी रहा है। यहाँ की स्त्रियाँ ऊर्ण अर्थात् 'ऊन' का परिधान धारण करती हैं। वे पतले कम्बल का भी प्रयोग करती हैं। सिर पर रूमाल रखनेवाली ये कोची स्त्रियाँ पुरुषों की तरह टोपियाँ भी पहनती हैं।

राहुलजी ने बुशहर की देवी भीमाकाली का लोक सांस्कृतिक प्रसंग वर्णित किया है। देवी माँ का द्वार बाहरी लोगों के लिए नहीं खुलता है। कहा जाता है कि देवी के खजाने में राजा राम के रुपये सुरक्षित हैं। इस इलाके में खम्पा जाति के लोग भी रहते हैं। उनमें एक व्यक्ति की पत्नी परिवार के सभी लोगों की पत्नी के रूप में मान्य है। खम्पा एक खानाबदोश जाति है। यहाँ कोली नाम की एक ऐसी जाति भी है जो मेहतर का काम करती है। उस इलाके में छुआछूत की भी समस्या है। यहाँ अन्य जातियों की चिलमों से कोलियों की चिलम अलग है।

खच्चर और घोड़े यहाँ के लोगों के वाहन हैं। राहुलजी ने अपनी यात्रा के क्रम में बनिए से प्राप्त एक साईस का उल्लेख किया है जो स्वयं को राजा के साईस से कम नहीं समझता है।

यहाँ का सामुदायिक जीवन भारत के शेष भूभागों से भिन्न है। यहाँ शक्तिशाली देवताओं से सम्बद्ध मेले लगते हैं जिनमें शराब और नृत्य से कोई परहेज नहीं है। यहाँ 'शिबू' नामक लाल मदिरा भीमा काली को पसन्द है। यह सुरा बड़ी तीखी है जो किन्नरियों को अच्छी लगती है। यह शैम्पेन एवं बरांडी को भी मात करने वाली शराब है। पद्मसिंह नाम के राजा ने ऐसी मदिरा पर रोक लगा दी थी। लेकिन लोग इसे चुपचाप बनाते और पीते रहे। उन्होंने देवाज्ञा पर राजाज्ञा को कभी तरजीह नहीं दी। अन्ततः राजा को झुकना पड़ा और शराब बन्द नहीं हुई। बोआदी नाम की जगह में द्राक्षा की जो लता मिलती है वही इस मदिरा का स्रोत है।

राहुलजी ने यहाँ के पहाड़ियों के स्वभाव का सूक्ष्म अवलोकन किया था। उन्होंने कहा है कि ये पहाड़ीजन कभी किसी चीज को नकारते नहीं हैं। वे हर बात में सहमति व्यक्त करते हैं। उनका जीवन सहजता और स्वच्छन्दता का बोध कराता है। वे विविध बाधाओं के बीच भी जीने के अभ्यस्त हैं।

यहाँ फल बहुत मिलते हैं, किन्तु बागों में अँगूर जाते हैं। फलतः उसके बाग नहीं लगाए जाते हैं। यहाँ आलू और छाछ का प्रचलन है। यात्रा-क्रम में राहुलजी ने अनुभव किया है कि यहाँ महँगाई की भी स्थिति है। वे सवा रुपये सेर में आटा के बिकने की बात करते हैं। उन्होंने जनजातियों के संकटापन्न जीवन को बहुत नजदीक से देखा है। वे यात्रा में बंदूक वाले दस्युओं के भय की चर्चा करते हैं। इस क्रम में वे कई नदियों और उनके पुलों का उल्लेख करते हैं जिनसे यात्रा बाधित होती है क्योंकि नदियों के सेतु सुरक्षित नहीं हैं। कहीं-कहीं हिमपात के कारण भी घूमने वालों को असुविधा होती है। खड्डों और बिगड़ी सड़कों के कारण भी यात्रियों को कष्ट सहना पड़ता है। भौगोलिक दृष्टि से राहुलजी ने जिन सन्दर्भों का विवरण दिया है उनसे अगम्य भूभाग का हमें पहली बार साक्षात्कार होता है। सौ वर्ष पहले यह क्षेत्र लद्दाख का भाग था जहाँ भोट भाषा प्रचलित थी। आज लद्दाख जम्मू कश्मीर का भाग है। यह इलाका कांगड़ा से सटा हुआ है। यह अभी लाहुल स्पिती के नाम से जाना जाता है। यहाँ तिब्बती भाषा-भाषी लोग मिलते हैं। आवागमन की असुविधाओं के कारण सैलानी यहाँ के सौन्दर्य का सम्यक् आनन्द नहीं उठा पाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से राहुलजी ने नोनोवंश का जो जिक्र किया है उससे स्पिती के लद्दाखी प्रशासन की जानकारी प्राप्त होती है।

अपने यात्रा-क्रम में राहुलजी खच्चरों और घोड़ों का उपयोग करते हैं जो बहुत कारगर नहीं हैं। वे किसी सराय या दुकान में टिकते है जहाँ सुविधाओं का अभाव है। उन्होंने बताया है कि डाक बँगले में ठहरने के लिए आज्ञा-पत्र की अपेक्षा होती है जिससे यात्रियों का उत्साह भंग होता है।

राहुलजी का यह यात्रा-वर्णन क्षेत्रीय जीवन के कई अनजाने शब्दों से भी अवगत करता है। खानादार, टाँघन, कांची, मेसो, गिलास, चुली, टापड़ी, मनेत, खुंज न्योजा आदि अनेक आंचलिक शब्द किन्नर देश की जीवन पद्धति को व्यंजित करते हैं। स्थान विशेष के हाकिम को खानादार कहते हैं। टांघण घोडे के लिए प्रयुक्त

होता है। राहुलजी ने टिप्पणी की है कि यह चंगेज खां के घोड़े का वंशज है। नीचे रहने वाले लोगों को कोची कहा जाता है और अधिकारी को मेशु या मेश कहते हैं। चेरी के लिए गिलास शब्द का प्रयोग होता है और 'चुली' खुबाणी का नाम है। कुटिया के लिए 'टापरी' शब्द का इस्तेमाल होता है और यहाँ राजपत को 'मनेत' कहते हैं। 'खुंद' शब्द इलाके का बोधक है और 'न्योजा' चिलगोजे का नाम है।

किन्नर देश के वर्णन-क्रम में राहुलजी ने कई अज्ञात स्थानों की चर्चा की है। खम्भू, वाङ्तु सुण्ड्रा, पोआडी, रावी, सोलडिंग, भावा, चगाँव, छोल्टू, उड़नी, पग्रामङ् आदि नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

यों तो यह एक विवरणमूलक यात्रा-वृत्त है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं राहुलजी की परिहास-वृत्ति के भी दर्शन होते हैं। उन्हें यात्रा के लिए जो घोड़ा मिलता है वह कद-काठी और उपयोगिता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। उन्होंने चुटकी लेते हुए बताया है कि यह 'कादम्बरी' का 'इन्द्रायुध' नामक घोड़ा है। बाण के अश्व की विडम्बना करनेवाला यह जीव लेखक द्वारा व्यंग्यात्मक शैली में वर्णित हुआ है। यह प्रसंग राहुलजी के यात्रा-वृत को शुष्क नहीं रहने देता है। यों तो यात्रा-साहित्य की प्रकृति सूचनात्मक एवं वर्णनात्मक होती है, किन्तु किन्नर देश की यात्रा के इस वृत्तान्त में लेखकीय पर्यवेक्षण और भाषिक सरलता के कारण साहित्यिकता का अभाव नहीं है।

प्रस्तावित पाठ्यांश कहीं-कहीं दैनन्दिनी की शैली की प्रतीति कराता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता स्वानुभूत अनुभवों की विश्वसनीय प्रस्तुति में दिखाई देती है। राहुलजी ने पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर यहाँ कुछ नहीं लिखा है। उन्होंने जनजीवन के अवलोकन-द्वारा जो ज्ञानार्जन किया है उसे यथावत् उपस्थापित कर दिया है। वे यथार्थ की अपनी पकड़ और लोक-जीवन की समझ के कारण पाठक की आत्मीयता सम्प्राप्त करते हैं। संस्कृत-साहित्य में किन्नरों के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी है उनसे अलग हटकर राहुलजी ने देखे हुए सत्य को यथारूप रख देने का काम किया है। कालिदास ने किन्नरों की विलासप्रियता और मदिरा के प्रति उन्मुखता का जो वर्णन किया है वह देखा हुआ नहीं, सुना हुआ सच है। राहुलजी ने किन्नरों की सुराप्रियता और तद्गत धार्मिक आस्था के साथ-साथ उनके जीवन की विषमताओं को भी प्रकट किया है। उन्होंने इन्हें देवताओं की तरह नहीं समस्याग्रस्त मनुष्यों की तरह देखा है। ऐसा लेखन यात्रा-वर्णन को ऐसी प्रामाणिकता प्रदान करता है जो सम्वेदनशीलता से रहित नहीं है। राहुलजी ने उन जातियों के जीवन-प्रवाह को अपने अनेक ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया है। तिब्बत, दार्जिलिंग, नेपाल, जौनसार बाबर और सम्पूर्ण पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र के वैशिष्ट्य को लेखक ने अनेकत्र वर्णित किया है। उनके एतद्विषयक लेखन में किन्नरों से जुड़ा हुआ प्रस्तुत प्रसंग अपना पृथक् महत्त्व रखता है। सीधी-सपाट शैली में उपनिबद्ध यह रचना मानवशास्त्र, भूगोल, इतिहास, लोक-संस्कृति आदि के अध्येताओं के ज्ञानवर्द्धन में समर्थ है।

## 2.3.5. पाठ-सार

भारत की आजादी के पहले किन्नरों के क्षेत्र का राहुलजी ने जो वर्णन किया है वह हिमालय के एक अनजाने क्षेत्र का आँखों-देखा वृत्तान्त है। सन् 1946 ई. में उस इलाके की जो स्थिति थी उसका लेखक ने

प्रामाणिक वर्णन उपस्थापित किया है। इस क्रम में क्षेत्र-विशेष की अनुश्रुतियों, मान्यताओं एवं लोक-चर्चा का विश्वसनीय आकलन हुआ है। अनेक आंचलिक सन्दर्भ इस यात्रा-वृत्तान्त में उपलब्ध होते हैं। तिब्बत के निकटवर्ती इलाके का यह वर्णन कई भौगोलिक सच्चाइयों को व्यक्त करता है। लोक-जीवन में कई प्रसंग यहाँ पहली बार सामने आए हैं। जनजीवन के जिन पहलुओं को लेखक ने उजागर किया है उनसे उसकी वर्णन-शक्ति का पता चलता है। इस यात्रा-वृत्तान्त में लेखक की आत्मानुभूतियों और प्रतिक्रियाओं का भी समावेश हुआ है। क्षेत्र-विशेष की कई समस्याओं पर भी राहुलजी ने दृष्टिपात करते हुए व्यावहारिक सुझावों को भी प्रस्तुत किया है। जनता के लौकिक-जीवन के अंकन में लेखक कृतकार्य हुआ है।

## 2.3.6. बोध प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. किन्नर भूमि की भौगोलिक स्थिति क्या है ?
   (क) देवभूमि
   (ख) कश्मीर
   (ग) नेपाल
   (घ) किन्नौर

सही उत्तर (घ) किन्नौर

2. किन्नर क्षेत्र में वाहन के रूप में किसका प्रचलन रहा है ?
   (क) मोटर
   (ख) ऊँट
   (ग) नाव
   (घ) घोड़ा या खच्चर

सही उत्तर (घ) घोड़ा या खच्चर

3. किन्नर देश की सर्वाधिक प्रसिद्ध देवी का नाम क्या है ?
   (क) दुर्गा
   (ख) पार्वती
   (ग) भीमा काली
   (घ) सरस्वती

सही उत्तर (ग) भीमा काली

4. किन्नर जाति का सर्वाधिक प्रिय पेय पदार्थ क्या है ?
   (क) चाय
   (ख) लस्सी
   (ग) शिबू

(घ) सेव का रस

सही उत्तर (ग) शिबू

5. लाहुल स्पिती की भाषा क्या है ?
   (क) भोट
   (ख) कश्मीरी
   (ग) हिन्दी
   (घ) संस्कृत

सही उत्तर (क) भोट

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. प्राचीन मान्यता के अनुसार किन्नर किस योनि के हैं ?
2. किन्नर क्षेत्र के किस राजा ने मदिरा पर रोक लगा दी थी ?
3. भीमा काली को जो लाल मदिरा पसन्द थी उसका क्या नाम है ?
4. सतलुज नदी की उपत्यका को किस चीज की खान कहा गया है ?
5. मान्योति क्या है ?

**दीर्घउत्तरीय प्रश्न**

1. यात्रा-वृत्तान्त 'किन्नर देश की ओर' की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. 'किन्नर देश की ओर' की भाषा-शैली का विवेचन कीजिए।
3. यात्रा-वृत्तान्त की विशिष्टता के सन्दर्भ में 'किन्नर देश' का मूल्यांकनकीजिए।
4. 'किन्नर देश की ओर' के लेखकीय दृष्टिकोण का उल्लेख कीजिए।
5. एक साहित्यिक विधा के रूप में यात्रा-वृत्तान्त की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।

## 2.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. : डॉ॰ नगेन्द्र
4. हिन्दी गद्य-साहित्य, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी
5. राहुल सांकृत्यायन, विनिबन्ध, डॉ॰ प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादेमी

❖❖❖

## खण्ड – 3 : विविध गद्य-रूप – 2

## इकाई – 1 : संस्मरण : पथ के साथी : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – महादेवी वर्मा

**इकाई की रूपरेखा**

3.1.00. उद्देश्य कथन
3.1.01. प्रस्तावना
3.1.02. संस्मरण का विधागत वैशिष्ट्य
3.1.03. हिन्दी में लिखित संस्मरणों का संक्षिप्त परिचय
3.1.04. संस्मरण विधा के रूप में संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
3.1.05. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' में चित्रित जीवन प्रसंग
3.1.06. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की भाषा-शैली
3.1.07. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का उद्देश्य
3.1.08. पाठ-सार
3.1.09. बोध प्रश्न
3.1.10. व्यवहार
3.1.11. कठिन शब्दावली
3.1.12. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

### 3.1.00. उद्देश्य कथन

हिन्दी की बहुचर्चित लेखिका महादेवी वर्मा द्वारा रचित संस्मरण-संग्रह 'पथ के साथी' का प्रकाशन सन् 1956 ई. में भारती भण्डार, इलाहाबाद से हुआ। 'पथ के साथी' संस्करण में सात संस्मरणों को संकलित किया गया है, जो इस प्रकार हैं – प्रणाम (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर), रेखायें (श्री मैथिलीशरण गुप्त), स्व. सुभद्रा कुमारी चौहान, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानन्दन पन्त और श्री सियारामशरण गुप्त। इस इकाई में आप ग्रन्थ में संकलित चौथे संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का अध्ययन करेंगे। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आसानी से समझ सकेंगे –

i. 'पथ के साथी' संस्मरण-संग्रह में संकलित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' संस्मरण का क्या महत्त्व है।
ii. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' संस्मरण में महादेवी वर्मा ने महाकवि निराला के जीवन से सम्बद्ध किन प्रसंगों और घटनाओं को उद्धृत किया है।
iii. किसी रचनाकार के व्यक्तित्व के विकास में उसके निजी संघातों, संघर्षों और सहयोगियों की क्या भूमिका होती है।
iv. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के माध्यम से महादेवी वर्मा जीवन की जटिलताओं के बारे में पाठकों को क्या सन्देश देना चाहती हैं।

## 3.1.01. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक काल की 'मीरा' के रूप में चर्चित महादेवी वर्मा की प्रसिद्धि के लिए उनकी कविता के साथ-साथ उनके गद्य को भी समान रूप से महत्त्व दिया जाता है।

नये शोधों के अनुसार महादेवी वर्मा का जन्म 26 मार्च सन् 1907 ई. को होली के दिन फ़र्रूख़ाबाद, उत्तरप्रदेश के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में इंदौर के मिशन स्कूल से आरम्भ हुई थी और घर पर संस्कृत-उर्दू सहित कला-शिक्षण के लिए एक पण्डित, एक मौलवी और एक चित्रकला शिक्षक की भी व्यवस्था की गई थी। अल्प वय में विवाह के कारण कुछ समय के लिए पढ़ाई स्थगित रही, किन्तु पढ़ने की जिद और उनके स्वाभिमान का सम्मान करते हुए उनके परिवार के द्वारा सन् 1919 ई. में आगे की शिक्षा के लिए उन्हें प्रयाग के क्रॉस्थवेट कॉलेज में दाखिला दिला दिया गया। यहीं से उन्होंने आठवीं की परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास की और प्रान्त भर में प्रथम स्थान प्राप्त किया। इस बीच उन्होंने काव्यरचना शुरू कर दिया था। कहा जाता है कि मेधावी महादेवी इन्ट्रेंस, इंटर और बी.ए. की परीक्षा में सदैव अव्वल रहीं और अध्ययन-काल में ही काव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी अच्छी पहचान बना ली थी। आगे उन्होंने सन् 1935 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. किया। वे शुरू से ही बौद्ध दर्शन से प्रभावित थीं, किन्तु अध्ययन के उपरान्त ग्रीष्मावकाश में जब नैनीताल में बौद्ध महास्थविर से भी मिलीं तो काष्टपट्टिका की ओट से उसका संवाद करना उन्हें अपमानजनक लगा और उन्होंने बौद्ध भिक्षुणी बनने का विचार त्याग दिया। तदनन्तर वे महात्मा गाँधी के सम्पर्क और प्रेरणा से सामाजिक कार्यों के प्रति उन्मुख हुई और प्रयाग के आसपास के गाँवों में जाकर बच्चों को पढ़ाना और समाज में मानवीय रुचियों का परिष्कार करना उनकी नियमित दिनचर्या हो गई।

तत्पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद में प्रयाग महिला विद्यापीठ के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, जिसे महिला-शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम माना जाता है। वे इस विद्यापीठ की प्रधानाचार्या एवं कुलपति भी रहीं। नवीन शोधों के अनुसार उन्होंने सन् 1935 ई. में महिलाओं की प्रमुख पत्रिका 'चाँद' के निःशुल्क सम्पादन का कार्यभार सँभाला और पत्रिका के स्त्री स्वर को अपेक्षाकृत अधिक बुलंद एवं प्रखरकिया। उन्होंने चाँद के मंच से महिलाओं को लेखन के क्षेत्र में आगे आने के लिए भी प्रेरित किया। चाँद में ही महादेवी के वे महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे जो बाद में 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ। सन् 1955 ई.में महादेवीजी ने इलाहाबाद में साहित्यकार संसद की स्थापना की और पण्डित इलाचन्द्र जोशी के सहयोग से 'साहित्यकार' का सम्पादन सँभाला। यह इस संस्था का मुखपत्र था। उन्होंने भारत में महिला कवि सम्मेलनों की नींव रखी। इस प्रकार का पहला अखिल भारतीय कवि सम्मेलन 15 अप्रैल 1933 ई. को सुभद्रा कुमारी चौहान की अध्यक्षता में प्रयाग महिला विद्यापीठ में सम्पन्न हुआ। सन् 1936 ई. में नैनीताल से 25 किलोमीटर दूर रामगढ़ कस्बे के उमागढ़ नामक गाँव में महादेवी वर्मा ने एक बंगला बनवाया था, जिसका नाम उन्होंने 'मीरा मन्दिर' रखा था। यहाँ जितने दिन वे रहीं, इस छोटे से गाँव की शिक्षा और विकास के लिए काम करती रहीं। विशेष रूप से महिलाओं की शिक्षा और उनकी आर्थिक आत्म-निर्भरता के लिए उन्होंने बहुत काम किया। आजकल इस बंगले को महादेवी साहित्य संग्रहालय के नाम से जाना जाताहै। 'शृंखला की कड़ियाँ' में स्त्रियों की

मुक्ति और विकास के लिए उन्होंने जिस साहस व दृढ़ता से आवाज़ उठाई है और जिस प्रकार सामाजिक रूढ़ियों की निन्दा की है, उससे उन्हें महिला मुक्तिवादी भी कहा गया। महिलाओं की शिक्षा के विकास के कार्यों और जनसेवा के कारण उन्हें समाज-सुधारक भी कहा गया है। काव्य से इतर उनके सम्पूर्ण गद्य साहित्य में पीड़ा या वेदना के कहीं दर्शन नहीं होते, बल्कि अदम्य रचनात्मक रोष, समाज में बदलाव की दृढ़ आकांक्षा और विकास के प्रति सहज लगाव परिलक्षित होता है। महादेवी वर्मा के साहित्यिक अवदान को तब तक पूरी तरह रेखांकित नहीं किया जा सकता, जब तक उनके रचनात्मक गद्य की विशिष्टताओं को न आँका जाए। महादेवी के गद्य जैसा रचनात्मक गद्य हिन्दी में दुर्लभ है। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय उत्तरप्रदेश के इलाहाबाद नगर में बिताया। उनके यश और कीर्ति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्हें प्रशासनिक, अर्धप्रशासनिक और व्यक्तिगत सभी संस्थाओं से पुरस्कार व सम्मान प्राप्त हुए। सन् 1943 ई. में उन्हें 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' एवं 'भारतभारती' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सन् 1952 ई. में वे उत्तरप्रदेश विधान परिषद् की सदस्या मनोनीत की गयीं। सन् 1956 ई. में भारत सरकार ने उनकी साहित्यिक सेवा के लिये उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की। सन् 1979 ई. में साहित्य अकादेमी की सदस्यता ग्रहण करने वाली वे पहली महिला थीं। बाद में 'यामा' नामक काव्य-संकलन के लिये उन्हें भारत का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' प्राप्त हुआ। 11 सितंबर, 1987 को इलाहाबाद में रात के 9:30 बजे उनका देहान्त हो गया। मरणोपरान्त सन् 1988 ई. में भारत सरकार द्वारा उन्हें पद्म विभूषण उपाधि से सम्मानित किया गया।

महादेवी वर्मा की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

काव्य-रचनाएँ : नीहार (1930, सैंतालीस रचनाएँ), रश्मि (1932, पैंतीस रचनाएँ), नीरजा (1935, अट्ठावन रचनाएँ), सांध्यगीत (1936, पैंतालीस रचनाएँ), दीपशिखा (1942, इक्यावन रचनाएँ), सप्तपर्णा (1960, काव्यानुवाद), सन्धिनी (1965, पैंसठ रचनाएँ)।

गद्य-रचनाएँ : अतीत के चलचित्र (1941, ग्यारह संस्मरण-कथाएँ) स्मृति की रेखाएँ (1945, सात रेखाचित्र), शृंखला की कड़ियाँ (1948, ग्यारह लेख), पथ के साथी (1956, सात संस्मरण), क्षणदा (1956, बारह निबन्ध), विवेचनात्मक गद्य (1944, आलोचना), साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध (1962, आलोचना), हिमालय (1963, संस्मरण, रेखाचित्र और निबन्धों का संग्रह), संकल्पिता (1969, चुने हुए भाषणों का संकलन), सम्भाषण (1974), प्रथम आयाम (1974), अग्निरेखा (1990)।

उपर्युक्त विवरण को देखकर यह आसानी से कहा जा सकता है कि हिन्दी के आलोचकों ने महादेवी वर्माजी को छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भों में से एक ठीक ही माना है।

## 3.1.02. संस्मरण का विधागत वैशिष्ट्य

संस्मरण शब्द की व्युत्पति सम् + स्मृ + ल्युट (अण्) से हुई है, जिसका अर्थ होता है – सम्यक् अथवा भलीभाँति किया गया स्मरण। अन्य शब्दों में सहज आत्मीयता और गम्भीरतापूर्वक किसी व्यक्ति, घटना, दृश्य, वस्तु आदि का पूर्णरूपेण स्मरण करना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस विधा का मूल आधार स्मरण या स्मृति है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखित लेख या ग्रन्थ को संस्मरण कह सकते हैं।" स्मृति को केन्द्रीयता को स्वीकार करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने संस्मरण को 'वैयक्तिक अनुभव तथा स्मृति से रचा गया इतिवृत्त अथवा वर्णन' कहा है। पुनः 'हिन्दी वाङ्मय' में उन्होंने लिखा कि "साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विख्यात व्यक्ति स्वभावतः जब किसी अन्य महापुरुष अथवा विशिष्टता सम्पन्न पुरुष के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं अथवा स्वयं के जीवन के किसी अंश को प्रकाश में लाने का प्रयास करते हैं, तब संस्मरण का जन्म होता है। ये संस्मरण अतीत को सजीव करते हैं।" संस्मरण लेखक विशिष्ट व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा क्रियाकलापों के साथ अपने निजी अनुभव को संयुक्त करके विविध प्रसंगों का संयोजन करता है जिसमें उसकी अपनी अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ भी घुली-मिली रहती हैं। ऐसी स्थिति में उसकी लेखनी जब आत्मकेन्द्रित होने लगती है तब उसकी रचना आत्मकथा के निकट प्रतीत होने लगती है और यदि उसकी लेखनी रचना में चुने गए व्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख होती है तो जीवनी के निकट। इन दो प्रकार के संस्मरणों को अंग्रेजी में क्रमशः 'मेमायर्स' और 'रेमिनिसेंसेस' कहते हैं। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी के संस्मरणों में 'मेमायर्स' और 'रेमिनिसेंसेस' दोनों ही अन्तर्भुक्त हैं।

इस विचार के आलोक में कथात्मक साहित्य की श्रेणी में परिगणित संस्मरण विधा के साथ आत्मकथा और जीवनी का निकट का सम्बन्ध है, फिर भी इनके बीच के सूक्ष्म एवं जटिल अन्तर को लक्षित किया जा सकता है। हाँ, संस्मरण और रेखाचित्र में समानता के कई सूत्र इतने उलझे हैं कि दोनों विधाओं में भेद स्थापित करना बेहद कठिन प्रतीत होता है और कई बार दोनों विधाओं को संयुक्त करके संस्मरणात्मक रेखाचित्र का नाम भी दे दिया जाता है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। वस्तुतः इसी नजरिये से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य में महादेवी वर्मा की रचनाओं – 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी', 'अतीत के चलचित्र' को 'संस्मरणात्मक रेखाचित्र' कहने का प्रचालन है। डॉ॰ मनोरमा शर्मा तो यहाँ तक कहती हैं कि "न कोई संस्मरण रचना बिना रेखाचित्र के पूरी हो सकती है और न कोई रेखाचित्र बिना संस्मरण के। यही कारण है कि कुछ रेखाचित्र संस्मरणात्मकता का आभास देते हैं तो कुछ संस्मरण रेखाचित्र के समीप होने का। महादेवी वर्मा की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। पन्त के 'साठ वर्ष' के बारे में भी यही राय है।" फिर भी इस सन्दर्भ में यह अवश्य कहा जा सकता है कि संस्मरण का क्षेत्र रेखाचित्र की अपेक्षा व्यापक होता है। संस्मरण में सिर्फ कोई व्यक्ति ही लेखन के केन्द्र में नहीं होता, बल्कि उसके बहाने उस युग को भी अनायास ही चित्रित करने का प्रयास किया जाता है। 'हिन्दी का गद्य साहित्य' पुस्तक में रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि – "संस्मरण किसी स्मर्यमान् की स्मृति का शब्दांकन है। जिसका स्मरण किया जा रहा है, उसके जीवन के वे पहलू, वे सन्दर्भ और वे चारित्रिक विशेषताएँ, जो स्मरणकर्त्ता को याद रह जाते हैं, उन्हें वह अंकित करता है। स्मरण वही रह जाता है जो महत्,

विशिष्ट, विचित्र या प्रिय है। स्मर्यमान् को अंकित करते हुए लेखक स्वयं भी अंकित होता चलताहै। संस्मरण में विषय और विषयी दोनों ही रूपायित होते हैं। इसलिए इसमें स्मरणकर्त्ता पूर्णतः तटस्थ नहीं रह पाता, वह अपने स्व का पुनर्सृजन करता है।" जबकि अंग्रेजी में जिसे 'स्केच' कहा जाता वह रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण और सजीव अंकन है। इसके लिए व्यक्तिचित्र, शब्दचित्र शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक में रामचन्द्र तिवारी आगे लिखते हैं कि – "रेखाचित्र में यह अंकन पूर्णतः तटस्थ भाव से और निर्लिप्त रहकर किया जाता है। रेखाचित्र में रेखाएँ बोलती हैं। जिस प्रकार कुछ थोड़ी-सी रेखाओं का प्रयोग करके चित्रकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषताओं को उभार देता है, उसी प्रकार कुछ थोड़े से शब्दों का प्रयोग करके साहित्यकार किसी व्यक्ति या वस्तु को उसकी मूलभूत विशेषताओं के साथ सजीव कर देता है। रेखांकन करते समय वह खुद को तटस्थ रखने की चेष्टा करता है। वस्तु को ही महत्त्व देता है। जब कभी तटस्थता भंग होती है तो रंगों की चटक में रेखाएँ डूब जाती हैं।"

जाहिर है कि संस्मरणकार के द्वारा इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसीमहान् व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका पुनर्सृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्ण्य विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। एक सी दिखने वाली इन विधाओं में निहित अन्तर को महादेवी वर्मा के शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है – "संस्मरण को मैं रेखाचित्र से भिन्न साहित्यिक विधा मानती हूँ। मेरे विचार में यह अन्तर अधिक न होने पर भी इतना अवश्य है कि हम दोनों को पहचान सकें। 'रेखाचित्र' एक बार देखे हुए व्यक्ति का भी हो सकता है जिसमें व्यक्तित्व की क्षणिक झलक मात्र मिल सकती है। इसके अतिरिक्त इसमें लेखक तटस्थ भी रह सकेंगे। यह प्रकरण हमारी स्मृति में खो भी सकता है, परन्तु 'संस्मरण' हमारी स्थायी स्मृति से सम्बन्ध रखने के कारण संस्मरण के पात्र से हमारे घनिष्ठ परिचय की अपेक्षा रखता है, जिसमें हमारी अनुभूति के क्षणों का योगदान भी रहा है। इसी कारण स्मृति में ऐसे क्षणों का प्रत्यावर्तन भी सहज हो जाता है और हमारा आत्मकथ्य भी आ जाता है।" आगे उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि – "यदि हम किसी से प्रगाढ़ और आत्मीय परिचय रखते हैं, तो उस व्यक्ति को अनेक मनोवृत्तियों तथा उनके अनुसार आचरण करते देखना भी सहज हो जाता है और अपनी प्रतिक्रिया की स्मृति रखना भी स्वाभाविक हो जाता है। इन्हीं क्षणों का सुखद या दुखद प्रत्यावर्तन 'संस्मरण' कहा जा सकता है। मेरे अधिकांश रेखाचित्र कहे जाने वाले शब्दचित्र 'संस्मरण' की कोटि में ही आते हैं, क्योंकि किसी भी क्षणमात्र की झलक पाकर मैं उसके सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया प्रायः अपने लेखों में व्यक्त कर देती हूँ।"

समग्रतः कहा जा सकता है कि संस्मरण वर्णन-प्रधान कथात्मक विधा है जिसकी प्रस्तुति में स्मृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है और जिसमें विशिष्ट व्यक्ति के बाहरी रूप के साथ-साथ आन्तरिक गुण-धर्मों, स्वभावों आदि का भी वर्णन किया जाता है। इस विवेचन के आधार पर संस्मरण और रेखाचित्र के अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है –

(i) संस्मरण बहुधा परिचित और असाधारण व्यक्ति के विलक्षण व्यक्तित्व पर आधारित होते हैं, परन्तु रेखाचित्र परिचित किन्तु सामान्यतः उपेक्षित, साधारण व्यक्ति के असाधारण व्यक्तित्व पर आधारित होते हैं।

(ii) संस्मरण प्रायः आदर अथवा श्रद्धात्मक दृष्टि से लिखे जाते हैं, जबकि रेखाचित्र करुणा अथवा संवेदनात्मक दृष्टि से लिखे जाते हैं।

(iii) संस्मरण किसी श्रेष्ठ, युगनिर्माता, पथ-प्रदर्शक व्यक्ति को समाज में गरिमा, यश और प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए लिखा जाता है। वहीं रेखाचित्र समाज में सदा से उपेक्षित व्यक्तियों के लिए करुणा, दया, लगाव आदि भाव उत्पन्न करने के लिए लिखे जाते हैं।

## 3.1.03. हिन्दी में लिखित संस्मरणों का संक्षिप्त परिचय

अन्य गद्य विधाओं की तरह संस्मरण विधा के प्रारम्भिक रूप को पाठकों के बीच पहचान एवं प्रसिद्धि दिलाने का श्रेय भी हिन्दी पत्रिकाओं को दिया जाता है, जिनमें 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'हंस' पत्रिकाएँ प्रमुख हैं। वैसे बालमुकुन्द गुप्त द्वारा सन् 1907 ई. में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिन्दी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केन्द्रित गुप्तजी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्ण्य-विषय बनाकर पन्द्रह संस्मरणों की रचना की गई है। संस्मरण साहित्य को महत्त्व दिलाने में 'सरस्वती' पत्रिका की अहम् भूमिका थी। 'सरस्वती' में स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे, जैसे – 'अनुमोदन का अन्त', 'सभा की सभ्यता', 'विज्ञानाचार्य बसु का विज्ञान मन्दिर' आदि। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नयी गद्य विधाओं के लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदीजी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशीप्रसाद जायसवाल और श्यामसुन्दरदास हैं। श्यामसुन्दरदास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर संस्मरण लेखन की जो परम्परा उस समय आरम्भ हुई थी वह आज तक लगातार चल रही है।

संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्मसिंह शर्मा (1876-1932) का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबन्ध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण 'कविरत्न' और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है। तदनन्तर महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर लिखित ये संस्मरणात्मक रेखाचित्र सबसे अलग और श्रेष्ठ कोटि के हैं। बल्कि इन्हें अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखे गए सर्वश्रेष्ठ संस्मरण कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी। निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना सम्भव नहीं है लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

आगे के काल में प्रकाशचन्द गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचन्द्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। सन् 1950 ई. के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे, जिनमें बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। उनकी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर मानवीय पक्ष की प्रगाढ़ता को स्पष्ट देखा जा सकता है। इनकी शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यन्त सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' जैसी संस्मरण कृतियों के कारण उस समय के एक महत्त्वपूर्ण संस्मरण लेखक के रूप में प्रसिद्धि मिली। लगभग इसी समय उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ जिसका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचन्द्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय की महत्त्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए। संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्त्विक भेद नहीं मानने वाले अध्यापक और आलोचक डॉ॰ नगेन्द्र ने 'चेतना के बिम्ब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं। समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। फिर भी संस्मरण आजकल विपुल मात्रा में लिखे जा रहे हैं। डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नयी ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कुछ नये और कुछ पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तक 'नंगातलाई का गाँव' (2004) को स्मृति आख्यान कहा जाता है। वर्तमान संस्मरणकारों में काशीनाथसिंह, कान्तिकुमार जैन, राजेन्द्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, अखिलेश, निर्मला जैन, मैत्रेयी पुष्पा आदि का नाम सम्मान के साथ लिया सकता है।

## 3.1.04. संस्मरण विधा के रूप में संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सामान्यतः साहित्य को भाषिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से पद्य और गद्य के रूप में विभाजित किया जाता है। फिर गद्य साहित्य को निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा-वृत्तान्त, आलोचना, रिपोर्ताज आदि विधाओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यिक विधा की दृष्टि से 'पथ के साथी' महादेवी वर्मा द्वारा रचित सात संस्मरणों का संकलन है। 'पथ के साथी' में महादेवी वर्मा ने अपने समकालीन चुनिंदा रचनाकारों के जीवन-प्रसंगों का चित्रण किया है। महादेवीजी ने जिस आत्मीयता और सम्मान के साथ उन साहित्यकारों का जीवन-दर्शन और स्वभावगत महानता को स्थापित किया है, वह अपने आप में अनूठा है। इस रचना को संस्मरण विधा के रूप में पढ़ने से पूर्व यह आवश्यक है कि महादेवी वर्मा के संस्मरणों की विशिष्टताओं को समझ लिया जाए।

महादेवीजी ने अपने पालतू पशु-पक्षियों पर भी लेखनी चलायी है और वे स्वीकार करती हैं कि – "मेरे संस्मरणों के पात्र सामान्य जन तथा पशु-पक्षी ही रहते हैं और उनसे घनिष्ठ आत्मीयता का बोध मेरे स्वभाव का अंग ही कहा जा सकता है। पालित पशु-पक्षी तो जन्म से अन्त तक मेरे पास रहते ही हैं, अतः उनकी स्वभावगत

विशेषताएँ जानकर ही उन्हें संरक्षण दिया जा सकता है। नित्य देखते-ही-देखते मैं उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ जान जाती हूँ और उन पर कुछ लिखना सहज हो जाता है। रहे सामान्य जन तो उनसे सम्पर्क बनाये रखना मुझे मन की तीर्थयात्रा लगती है। उनके सम्बन्ध में जो कुछ जान सकती हूँ, उसे जानना सौहार्द की शपथ है, पर लिखना अपनी इच्छा पर निर्भर है।"

'पथ के साथी' में महान् भारतीय लेखकों के संस्मरण संकलित हैं और उन श्रेष्ठ विभूतियों के सन्दर्भ में पाठकों के सम्मुख लेखिका यह निवेदन करती हैं कि – "मेरा यह सौभाग्य रहा है कि अपने युग के विशिष्ट व्यक्तियों का मुझे साथ मिला और मैंने उन्हें निकट से देखने का अवसर पाया। उनके जीवन के तथा आचरित आदर्शों ने मुझे निरन्तर प्रभावित किया है। उन्हें आशा-निराशा, जय-पराजय, सुख-दुःख के अनेक क्षणों में मैंने देखा अवश्य, पर उनकी अडिग आस्था ने मुझ पर जीवनव्यापी प्रभाव छोड़ा है। उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना उनके अभिन्नदन से अधिक मेरा पर्व-स्नान है। हम सूर्य की पूजा सूर्य को जल का अर्घ्य देकर करते हैं। गंगाजल से गंगा को अर्घ्य देते हैं, क्योंकि यह पूजा हमारी उस कृतज्ञता की स्वीकृति है, जो उनसे प्राप्त शक्ति से उत्पन्न हुई है।"

इन संस्मरणों को पढ़ने के बाद कोई भी गम्भीर पाठक इस नतीजे पर पहुँच सकता है कि 'पथ के साथी' में संकलित विवरण संस्मरण भी हैं और महादेवीजी द्वारा पढ़े गये अपने प्रिय लेखकों के जीवन-पृष्ठ भी। उन्होंने अपने लेखन में एक ओर तो इन साहित्यकारों की निकटता, आत्मीयता और प्रभाव का कलात्मक उल्लेख किया है, तो दूसरी ओर उनके समग्र जीवन-दर्शन को परखने का प्रयत्न भी किया है। यह प्रयत्न महादेवी के चिन्तन, अनुभूति और दृष्टिकोण की विशद विशेषताओं को रेखांकित करता है। इस पुस्तक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त तथा सियारामशरण गुप्त के जीवन के उत्कृष्ट शब्दचित्र हैं। 'पथ के साथी' के चौथे अध्याय में छायावाद के श्रेष्ठ रचनाकार 'निराला' के जीवन से सम्बद्ध संस्मरण प्रस्तुत किया गया है, जो आपके पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। अतः आगे इसी संस्मरण पर विचार किया जाएगा।

### 3.1.05. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' में चित्रित जीवन प्रसंग

यह निर्विवाद विचार है कि साहित्य की कमोबेश सभी विधाओं में न्यूनाधिक मात्रा में मानव समाज के सरोकारों को गुम्फित किया जाता है। साहित्य का व्यक्ति और समाज से जुड़ाव उसमें व्यक्त भावों एवं विचारों के कारण होता है, इसलिए सचेत और प्रतिबद्ध साहित्यकार भाव या विचारशून्य रचना में कभी प्रवृत नहीं होता। इसीलिए किसी सर्जक की श्रेष्ठता का आकलन उसकी रचनाओं में व्यक्त भाव और विचारों की सामाजिक संलग्नता से किया जाता है। किसी रचना में व्यक्त भावों एवं विचारों के विश्लेषण के सम्यक् विश्लेषण के क्रम में हमें यह पता चलता है कि व्यक्ति और समाज के बारे में रचनाकार की अपनी मान्यताएँ क्या हैं ? अपने सहयोगियों, मित्रों, अग्रजों के साथ उसके कैसे सम्बन्ध हैं ? साथ ही स्थानीय और देश-विदेश में घटित होने वाले सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में वह क्या सोचता है और उनमें निजी तौर पर किस प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है ?

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' संस्मरण में चित्रित जीवन-प्रसंगों एवं अभिव्यक्त विचारोंकी पड़ताल करने से पहले लेखक का एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य ध्यातव्य है। महादेवीजी ने 'पथ के साथी' पुस्तक की भूमिका के आरम्भ में यह लिखा है कि – "अपने अग्रजों और सहयोगियों के सम्बन्ध में, अपने-आप को दूर रखकर कहना सहज नहीं होता। मैंने साहस तो किया है; पर ऐसे स्मरण के लिए आवश्यक निर्लिप्तता या असंगता मेरे लिए सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि के सीमित शीशे में वे जैसे दिखाई देते हैं, उससे वे बहुत उज्ज्वल और विशाल हैं, इसे मानकर पढ़ने वाले ही उनकी कुछ झलक पा सकेंगे।"

कोई दृश्य, कार्य या घटना को देखने के नजरिए में अन्तर के कारण उसका अनुभव भी अनुकूल या प्रतिकूल हो जाता है। महादेवी वर्मा खेल के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं कि – "खेल का एक ही कर्म जीतने वाले के लिए सुखद और हारने वाले के लिए दुखद अनुभूतियों का कारण बन जाता है।" अर्थात् किसी व्यक्ति के जीवन का मूल्यांकन उसके विजित होने या भौतिक सुख-सुविधाओं का अंबार लगा देने भर से नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके परिश्रम, संघर्ष और मानवीय व्यवहार को भी देखा जाता है। यद्यपि किसी साहित्यकार के जीवन की कसौटी उसका अपना युग ही होता है, पर यह कसौटी निर्भ्रान्त भी नहीं है, क्योंकि "देशकाल की सीमा में आबद्ध जीवन न इतना असंग होता है कि अपने परिवेश और परिवेशियों से उसका कोई संघर्ष न हो और न यह संघर्ष इतना तरल होता है कि उसके आघातों के चिह्न शेष न रहें।" तात्पर्य यह कि सत्कर्मों की ज्योति युगों तक आभासित रहती है।

वैसे तो सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' संस्मरण में महाकवि निराला के जीवन के कई करुण प्रसंगों और कठिन परिस्थितियों को उद्धृत करके उनके दुर्धर्ष, जीवट और अतिमानवीय चरित्र को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है, किन्तु अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर आगे इस इकाई में निराला के व्यक्तित्व के उन महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार किया जाएगा जिनके आधार पर महादेवी वर्मा उन्हें विचार से क्रान्तिदर्शी और आचरण से क्रान्तिकारी घोषित करती हैं। इस संस्मरण में महादेवीजी ने निराला के जीवन के निम्नलिखित प्रसंगों को उद्धृत किया है – भाई-बहन का सम्बन्ध निर्वाह, निराला की दान-वृत्ति, अतिथि का स्वागत, साहित्यिक मित्रों के प्रति उत्कट लगाव आदि।

इस संस्मरण का आरम्भ महादेवी वर्मा और निराला के भाई-बहन बनने के संवाद के साथ होता है, जो कथात्मक आस्वाद के साथ-साथ दो महान् रचनाकार के आत्मीय सम्बन्ध का द्योतक भी है। बड़े सहज ढंग से लेखिका निरालाजी से पूछती हैं – "आप के किसी ने राखी नहीं बाँधी ?" इस प्रश्न के उत्तर में निराला कहते हैं – "कौन बहिन हम ऐसे भुक्खड़ को भाई बनावेगी।" इन दो संवादों के साथ महादेवी वर्मा और निराला भाई-बहन हो जाते हैं, किन्तु महादेवी वर्मा यह व्यक्त करना भी नहीं भूलती कि "लौकिक दृष्टि से निःस्व निराला हृदय की निधियों में सबसे समृद्ध भाई हैं।" वे अपने निराला भाई के रचनाकार और कठिन परिश्रमी व्यक्तित्व को प्रकट करते हुए कहती हैं – "जान पड़ता है किसी अव्यक्त चुनौती के आभास ने ही मुझे उस हाथ के अभिषेक की प्रेरणा दी, जिसने दिव्य वर्ण-गन्ध-मधु वाले गीत सुमनों से भारती की अर्चना भी की है और बर्तन माँजने, पानी भरने जैसी कठिन श्रम-साधना से उत्पन्न स्वेद-बिन्दुओं से मिट्टी का शृंगार भी किया है।" हिन्दी के कई अन्य आलोचकों की

तरह महादेवी वर्मा ने भी यह माना है कि निराला को अनुशासन की बेड़ियाँ पसन्द नहीं थीं। वह इस बात का उल्लेख करते हुए लिखती हैं कि – "मेरा प्रयास किसी भी जीवन्त बवण्डर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम की तटों में सीमित करने के समान।" महादेवी जैसी महान् संस्मरणकार भी निराला के जीवन से जुड़े अतीत की अपनी स्मृतियों को व्यक्त करने में अक्षम पाती हैं – "आग के अक्षरों में आँसू के रंग भर-भर कर ऐसी अनेक चित्र-कथाएँ आँक डाली हैं, जिनमें इस महान् कवि और असाधारण मानव के जीवन की मार्मिक झाँकी मिल सकती है। पर उन सबको सँभाल सके ऐसा एक चित्राधार पा लेना सहज नहीं।"

इस संस्मरण के अगले हिस्से में महादेवी वर्मा ने 'निराला' के दानी स्वभाव का वर्णन किया है जिससे एक साहित्यकार के भोलेपन और सहज मानवीयता का बोध होता है। एक बार निराला को तीन सौ रुपये की प्राप्ति हुई और उनकी आर्थिक जीवन के प्रति उदासीनता को संयत करने के लिए लेखिका ने एक योजना बनाई, ताकि निराला का जीवन कुछ नियमित हो सके। उन्होंने नमक से लेकर कपड़ा, चप्पल आदि का हिसाब लगाकर अनुमान-पत्र बनाया, जिसे निरालाजी ने सहर्ष स्वीकारा और बहुत पसन्द किया। लेकिन दूसरे दिन सुबह ही उन्होंने व्यय का अनुशासन तोड़ डाला और पचास रुपये एक विद्यार्थी के परीक्षा-शुल्क के लिए और शाम को साठ रुपये एक साहित्यिक मित्र को देने की आवश्यकता पड़ गई। अगले दिन लखनऊ के किसी ताँगेवाले की माँ के लिए चालीस रुपये के मनीऑर्डर करना पड़ा और दोपहर को किसी दिवंगत मित्र की भतीजी के विवाह के लिए सौ रुपये देना अनिवार्य हो गया। सारांश यह कि तीसरे दिन उनका जमा किया गया सारा पैसा समाप्त हो गया। महादेवी वर्मा यह स्वीकार करती हैं कि "एक सप्ताह में मैंने समझ लिया कि यदि ऐसे औढर दानी को न रोका जावे तो यह मुझे भी अपनी स्थिति में पहुँचाकर दम लेंगे।" यही नहीं बड़े प्रयत्न के बाद बनवायी गई रजाई, कोट जैसी नित्य व्यवहार की वस्तुएँ भी दूसरे दिन किसी अन्य दुखियारे के कष्ट दूर करने के लिए अन्तर्धान होने लगीं। इसी प्रकार जब निराला को 'अपरा' के लिए इक्कीस सौ रुपये का पुरस्कार मिलने की सूचना मिली तो महादेवीजी से आग्रह किया कि यह संकल्पित धन है इसका उपयोग निजी हित में नहीं करूँगा। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि स्वर्गीय मुंशी नवजादिक लाल की विधवा को पचास रुपये प्रतिमाह के हिसाब भेजने का प्रबन्ध कर दिया जाए। इस संस्मरण में इन प्रसंगों को महादेवीजी ने बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। एक बार निराला ने लेखिका के सामने यह इच्छा प्रकट की कि 'हम अब संन्यास लेंगे।' इस बात पर लेखिका को यह विचार कर हँसी आ गई कि – "इस निर्मम युग ने इस महान् कलाकार के पास ऐसा क्या छोड़ा है जिसे स्वयं छोड़कर यह त्याग का आत्मतोष भी प्राप्त कर सके।" पर निराला ठहरे निराले व्यक्ति, इसलिए बाद में गेरू वस्त्र भी धारण करते हैं, क्योंकि "जिस प्रकार प्राप्ति हमारी कृतार्थता का फल है, उसी प्रकार त्याग हमारी पूर्णता का परिणाम है।" एक दिन एकादशी को सुबह वे अधोवस्त्र और उत्तरीय – दोनों मलिन वस्त्रों को गेरू में रंगकर स्नान, हवन आदि करके निकल पड़ते हैं। अंगोछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह-हाथ आदि ही नहीं, बल्कि विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था। महादेवीजी से उन्होंने बताया कि "अब ठीक है, जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गए। दो रोटियाँ माँगकर खा लीं और गीत लिखने लगे।"

इस संस्मरण का दूसरा पड़ाव है – निरालाजी के द्वारा मैथिलीशरण गुप्त का आतिथ्य स्वीकार करना और अपनी दीनता अथवा माली हालत की चिन्ता किए बिना उनके आवोभगत में तल्लीन हो जाना। महादेवीजी उनके घर की बदहाली का उल्लेख करते हुए लिखती हैं कि – "आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। ... रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।" लेकिन वह आलोकरहित, सुख-सुविधाओं से शून्य घर गृहस्वामी के विशाल आकार और उससे भी विशालतर आत्मीयता से भरा हृदय था। अपने सम्बन्ध में बेसुध रहनेवाले निरालाजी अपने अतिथि की सुविधा के लिए सतर्क प्रहरी थे। इसीलिए अपने वैष्णव अतिथि की सुविधा का विचार करके वे नया घड़ा खरीदकर उसमें गंगाजल भर लाए और धोती-चादर जो कुछ भी मिल सका सब तख़्त पर बिछाकर उन्हें प्रतिष्ठित किया। यथोचित सत्कार किया और जी भरके उनसे साहित्यिक चर्चा की और दूसरे दिन सुबह ट्रेन में बिठाकर वापस लौटे। अपने मित्रों और अतिथियों के सन्दर्भ में निराला की भावुकता का वर्णन करते हुए आगे महादेवीजी ने लिखा है कि कई बार वे उनके घर अकस्मात् आ पहुँचते और कहते – "मेरे इक्के पर कुछ लकड़ियाँ, थोड़ा घी आदि रखवा दो। अतिथि आये हैं, घर में सामान नहीं है। उनके अतिथि यहाँ भोजन करने आ जावें, सुनकर उनकी दृष्टि में बालकों जैसा विस्मय छलक आता है। जो अपना घर समझकर आए हैं, उनसे यह कैसे कहा जावे कि उन्हें भोजन के लिए दूसरे घर जाना होगा।" भोजन बनाने से लेकर जूठे बर्तन माँजने तक का सारा काम वे अपने अतिथि देवता के लिए सहर्ष करते। नौकर-चाकर के सहारे काम चलाने वाले युग में निराला में आतिथ्य की दृष्टि से वही पुरातन संस्कार थे, जो गुण देश के ग्रामीण किसानों में मिलता है।

संस्मरण का तीसरा पड़ाव वह है जहाँ पन्त की बीमारी और मृत्यु की झूठी ख़बर सुनकर निराला व्याकुल हो उठते हैं। हुआ यह कि एक बार सुमित्रानन्दन पन्त दिल्ली में टाइफाइड ज्वर से पीड़ित थे और किसी समाचार पत्र में उनके स्वर्गवास की झूठी ख़बर छपी। ख़बर सुनकर निराला महादेवीजी के पास दौड़े-भागे चले आए और सोफे पर बैठकर किसी अव्यक्त वेदना की तरंग के स्पर्श से मानो पाषाण में परिवर्तित होने लगे, फिर रोने लगे। महादेवीजी ने उन्हें समझाया कि ठीक समाचार जानने के लिए मैंने तार किया है, लेकिन वे व्यथित मुद्रा में तब तक बैठे रहे जब तक लेखिका के घर का फाटक रात में बन्द नहीं हो गया। फिर सबेरे जब चार बजे भोर में दरवाजा खट-खटाकर उन्होंने तार के उत्तर के सन्दर्भ में पूछा, तब महादेवीजी को ज्ञात हुआ कि वे रात भर पार्क के खुले आकाश के नीचे ओस से भीगी दूब पर बैठकर सबेरे की प्रतीक्षा करते रहे थे। सुबह जब उनकी पीड़ा कुछ मुखर हुई तब खुद को रोक नहीं पाए और बोले – "अब हम भी गिरते हैं। पन्त के साथ तो रास्ता कम अखरता था, पर अब सोचकर ही थकावट होती है।" महादेवीजी के शब्दों में "निरालाजी के सौहार्द और विरोध दोनों एक आत्मीयता के वृन्त पर खिले दो फूल हैं। वे खिलकर वृन्त का शृंगार करते हैं और झड़कर उसे अकेला और सूना कर देते हैं।" निरालाजी अपने स्वभाव में ऐसे विलक्षण व्यक्ति हैं कि मित्र का तो प्रश्न ही क्या, ऐसा कोई विरोधी भी नहीं जिसका अभाव उन्हें विकल न कर देता था।

संस्मरण के अन्तिम और विस्तृत हिस्से में महादेवी वर्मा ने निराला के विराट् व्यक्तित्व सम्बन्धी अपने उद्गार व्यक्त किए हैं। संस्मरण का यह हिस्सा निराला के जीवन के प्रसंगों से अधिक उन सबके समाहार से निर्मित उनके व्यक्तित्व-विश्लेषण से सम्बन्धित है। निरालाजी अपने शरीर, जीवन और साहित्य सभी में असाधारण हैं। उनमें विरोधी तत्त्वों की भी सामंजस्यपूर्ण सन्धि है। उनका विशाल डील-डौल देखने वालों के हृदय में जो आतंक उत्पन्न कर देता है, उसे उनके मुख की सरल आत्मीयता दूर करती चलती है। अविराम संघर्ष और निरन्तर विरोध का सामना करने से उनमें जो एक आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई है, उसी का परिचय हम उनकी दीप्त दृष्टि में पाते हैं। जो कलाकार हृदय के गूढ़तम भावों के विश्लेषण में समर्थ है, उसमें ऐसी सरलता लौकिक दृष्टि से चाहे विस्मय की वस्तु हो, पर कला सृष्टि के लिए स्वाभाविक साधन है। निराला कभी भी किसी से भयभीत नहीं होते थे। वहीं किसी के लिए क्रूर होना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। उनके तीखे व्यंग्य की विद्युत-रेखा के पीछे सद्भाव के जल से भरा बदल रहता था। निरालाजी अपने युग की विशिष्ट प्रतिभा थे, इसलिए उन्हें अपने युग का अभिशाप भी झेलना पड़ा और उनके सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्त-किंवदन्तियाँ भी इसी निम्न वृत्ति की सूचक हैं। महादेवी वर्मा के अनुसार – "जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बाधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचता है उसी को युग-स्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं।" निरालाजी ऐसे ही विद्रोही साहित्यकार हैं। जिन अनुभवों के दंश का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्च्छित करके उसके सारे जीवन को विषाक्त बना देता है, उसी से उन्होंने सतत जागरूकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया। निराला के जीवन पर संघर्ष के जो आघात हैं वे उनकी हार के नहीं, शक्ति के प्रमाण हैं। उनके कठोर श्रम, गम्भीर दर्शन और सजग कला की त्रिवेणी न तो घोर मरू में सूखती है और न आकुल समुद्र में अपना अस्तित्व खोती है।

### 3.1.06. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की भाषा-शैली

कोई भी साहित्यकार अपनी रचना में भाषा का चयन विषय और पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर करता है। चूँकि इस संस्मरण में हिन्दी के महान् लेखक निराला के जीवन को आधार बनाया गया है और लेखिका का लक्षित पाठक वर्ग हिन्दी के सामान्य पढ़े-लिखे समुदाय के साथ-साथ विद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्ययन-शोध आदि करने वाला विद्यार्थी, शिक्षक और साहित्यकार-आलोचक वर्ग अधिक मात्रा में है, इसलिए इस रचना की भाषा अपेक्षाकृत सधी हुई और संश्लिष्ट है। दूसरी तरफ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक साहित्यिक विधा के कलेवर और तेवर के अनुरूप ही उसकी भाषा भी विशिष्ट होती है। वहीं भाषा के निर्धारण में लेखक का अपना भाषा-ज्ञान और अनुभव भी प्रभावकारी भूमिका निभाता है। अतः किसी रचना के भाषा-शिल्प पर विचार करते हुए इन्हीं बिन्दुओं की पड़ताल की जाती है ताकि आलोचना की मान्य शर्तों पर लेखक की रचना खरी उतर सके। वैसे चर्चित रचनाओं की भाषा सामान्यतः सहज, सरल और बोधगम्य होती है, विशेषकर कथात्मक और वर्णनात्मक विधाओं की भाषा से तो इस प्रकार अपेक्षा आवश्यक रूप से की जाती है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' संस्मरण की भाषा की मुख्य विशेताओं में सरलता, सहजता, प्रवाहमयता, चित्रात्मकता, सादृश्य-विधान आदि प्रमुख हैं।

महादेवी वर्माजी ने 'पथ के साथी' में अपने समकालीन रचनाकारों का चित्रण किया है और अपने अग्रज रचनाकारों के प्रति उनकी भाषा में आदर एवं सम्मान का स्वर प्रमुख है। साथ ही उनकी भाषा में निराला और सुभद्राकुमारी चौहान के प्रति विशेष लगाव और आत्मीयता को प्रकट करने वाले शब्द अधिक हैं। एक ओर इन संस्मरणों में जीवन के सजीव चित्र हैं तो दूसरी ओर इनमें लेखिका ने अपने पथ के साथियों के जीवन-दर्शन को परखने का प्रयत्न भी किया है। इन संस्मरणों की भाषा बहुत सरल, सहज तो नहीं है, किन्तु उनकी सधी हुई भाषा में भी एक ख़ास तरह की लय, पारदर्शिता और चित्रात्मकता ज़रूर है। महादेवी वर्माजी की भाषा सम्बन्धी इस विशेषता को सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' शीर्षक संस्मरण में भी परखा जा सकता है। यथा – "उनकी दृष्टि में दर्प और विश्वास की धूपछाहीं द्वाभा है। इस दर्प का सम्बन्ध किसी हल्की मनोवृत्ति से नहीं और न उसे अहं का सस्ता प्रदर्शन ही कहा जा सकता है। अविराम संघर्ष और निरन्तर विरोध का सामना करने से उनमें जो एक आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई है उसी का परिचय हम उनकी दृप्त-दृष्टि में पाते हैं।" इस चित्रण में दर्प, द्वाभा, अहं, अविराम, आत्मनिष्ठा, दृप्त आदि संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो सरल नहीं हैं। इसके बावजूद इस वर्णन के द्वारा निराला के व्यक्तित्व के जिस धवल और जुझारू पक्ष को महादेवी वर्मा प्रकट करना चाहती हैं, वह सहज ही व्यक्त हो जाता है।

चूँकि संस्मरण की भाषिक संरचना कथा साहित्य के बहुत निकट होती है, इसलिए वर्णन की पद्धति कथा साहित्य से मिलती-जुलती-सी प्रतीत होती है। यहाँ एक भेद अवश्य है कि जब महादेवी वर्मा इस संस्मरण को चुनिंदा शब्दों की लड़ी में पिरोती हैं तो उनकी भाषा काव्य-लय में पगी प्रतीत होती है। जैसे – "प्रायः एक स्पर्धा का तार हमारे सौहार्द के फूलों को बेधकर उन्हें एकत्र रखता है। फूल के झड़ते या खिसकते ही काला तार मात्र रह जाता है। ... निरालाजी के सौहार्द और विरोध दोनों एक आत्मीयता के वृन्त पर खिले दो फूल हैं। वे खिलकर वृन्त का शृंगार करते हैं और झड़कर उसे अकेला और सूना कर देते हैं।" महादेवी वर्मा की कविताओं में जितना अमूर्तन, रहस्यात्मकता और सांकेतिकता है, उनके संस्मरणों में उतनी ही प्रत्यक्षता, सहजता और विविधता दिखाई देती है। महादेवी वर्मा के संस्मरणों में केन्द्रीय चरित्र स्वयं बहुत कम बोलते हैं, इसलिए संवादों का संयोजन विरल है, लेकिन जितने संवाद हैं वे चरित्रों के अन्तर्बाह्य को उद्घाटित करने वाले हैं। इस संस्मरण में भी स्वयं निराला के मुख से कुछ संवादों को उन्होंने व्यक्त करवाया है। जैसे – "पचास रुपये चाहिये किसी विद्यार्थी का परीक्षा शुल्क जमा करना है, अन्यथा वह परीक्षा में नहीं बैठ सकेगा।" इसी प्रकार – "अब हम भी गिरते हैं। पन्त के साथ तो रास्ता कम अखरता था, पर अब सोचकर ही थकावट होती है।" इन संवादों की भाषा में विद्यमान आडम्बरहीनता, आवेगमयता, बेबाकी, अन्तःसाक्ष्य, आत्मीयता, द्रवणशीलता, पारस्परिकता आदि का अनुभव बड़ी आसानी से किया जा सकता है।

हिन्दी आलोचना में यह स्वीकार किया गया है कि लेखक अपनी विषयवस्तु को प्रभावपूर्ण बनाने के जिस भाषिक-युक्ति और कथन-पद्धति का प्रयोग करता है उसे शैली कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वर्णन, चित्रण, विश्लेषण, सादृश्य-विधान, उद्धरण आदि की कथन-पद्धति को अपनाया जाता है। इस संस्मरण में संयोजित चाहे दुःख के प्रसंग हो या फिर सुख के, कहीं भी वर्णन की भाषा और शैली मन्द, शुष्क या कुन्द होती प्रतीत नहीं

होती। निराला के जटिल और दुःसह्य जीवन के अनुरूप ही वर्णन-शैली बहुरूपी है। जहाँ निराला के जीवन के किसी विशिष्ट प्रसंग का प्रणयन है, वहाँ लेखिका ने सादृश्य-विधान का सहारा लिया हैं। जैसे – "दूसरों की बद्धमूल धारणाओं पर आघात कर उनकी खिजलाहट पर वे ऐसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे होली के दिन कोई नटखट लड़का, जिसने किसी की तीन पैसे की कुर्सी के साथ किसी की सर्वांगपूर्ण चारपाई, किसी की टूटी तिपाई के साथ किसी की नई चौकी होलिका में स्वाहा कर डाली हो।"

इसके अतिरिक्त महादेवीजी अपने संस्मरणों में रेखाचित्र के समान अपने चरित्रों के डील-डौल, परिधान और गृह-दशा आदि का भी रेखांकन करती हैं। 'पथ के साथी' के ज्यादातर संस्मरणों में चित्रण की इस विशेष शैली के दर्शन हो जाते है। इस संस्मरण में भी वे कई स्थानों पर निराला के विशालकाय कद-काठी की चर्चा करती हैं, लेकिन निराला के आवास का चित्रण करते समय उनकी लेखनी एक चित्रकार की तूलिका बन जाती है। यथा – "आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। ... रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी मानो उपवास चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।" इस चित्रण में निराला के घर का स्पष्ट चित्र पाठक के मस्तिष्क में अंकित हो जाता है और वह गृहस्वामी के आर्थिक स्थिति से पूर्णतः परिचित हो जाता है।

महादेवीजी ने पूरे संस्मरण को अपनी स्मृतियों के योग से चार-पाँच आत्मीय प्रसंगों में विभाजित करके प्रस्तुत किया है। इन प्रसंगों को निराला के आयु-क्रम या किसी विशेष अनुक्रम में नहीं रखा गया, बल्कि स्वेच्छा से निराला के व्यक्तित्व को गरिमा और औदात्य प्रदान करने वाले रोचक प्रसंगों को संस्मरण विधा के अनुरूप विन्यस्त किया गया है। वर्णन-विश्लेषण सर्वाधिक है, फिर भी वर्णन की यह शैली इकहरी नहीं हैं। संस्मरण को पढ़ने के क्रम में यह कहीं आभास ही नहीं होता कि इनमें से कोई भी प्रसंग निराला के चरित्र को आच्छादित कर बौना कर देता है या वर्णन-क्रम में अनावश्यक संयोजित हो गया है। प्रसंगों की सूत्रबद्धता और सम्बद्धता इस संस्मरण की वर्णन-शैली की बहुत खास विशेषता है।

इस संस्मरण में यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि महादेवीजी ने किसी पूर्व-निर्धारित या बँधी-बँधायी शैली को नहीं अपनाया है, बल्कि निराला के जीवन के कठिन और रोचक प्रसंगों के अनुरूप कहीं विश्लेषण की उदात्त शैली है तो कहीं वर्णन और बातचीत की सम्बोधन-शैली, कहीं सम्बन्धों के आत्मीय और निकटता को उद्घाटित करने वाली आवेगमयी शैली है, तो कहीं दुनियावी कृत्रिमता के परतों पर वार करती ओजस्वी शैली। कहीं जीवन-दर्शन से होड़ लेती अद्भुत तर्क-शैली तो कहीं निराला के संन्यास साधना की मुँह-चिड़ाती हास-परिहास से युक्त व्यंग-विनोदपूर्ण शैली, कहीं वर्णन करती हुई लेखिका जीवन के सागर में सतह तक जा पहुँचती हैं, तो कहीं जीवन की गुरुता को एकत्रित करती हुई भाषा का पर्वताकार लोक रच देती हैं। इससे यह आभास होता है कि लेखिका के अनुभव का संसार कितना विराट् है और उसे थामनेवाली भाषा को भी उन्होंने लेखन की कठिन साधना से प्राप्त किया है। समग्रतः इस संस्मरण की प्रस्तुति में महादेवी वर्माजी ने वर्णन शैली के साथ-साथ चित्र-शैली, सम्बोधन-शैली, तुलनात्मक शैली, निष्कर्ष-शैली आदि का सफल उपयोग किया है।

## 3.1.07. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का उद्देश्य

संस्मरण एक ऐसी साहित्य विधा है जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के जीवन के चुनिंदा प्रसंगों का आत्मीय और रोचक चित्रण किया जाता है। उन चुनिंदा प्रसंगों को दुनिया के समक्ष साझा करने की सामान्य पद्धति अपने आसपास के परिवेश, व्यक्तियों और घटित होनेवाली घटनाओं का सजीव चित्रण ही है। हिन्दी साहित्य की विदुषी लेखिका का निराला के जीवन पर केन्द्रित यह संस्मरण बहुपठित कृति है। उन्होंने कर्मठ निराला के जीवन के भौतिक सुख-सुविधाओं से रहित किन्तु मानवीय व्यवहार की कसौटी पर सदा-सुभाषित प्रसंगों को बड़े मनोयोग से इस संस्मरण में रूपान्तरित किया है। यह मानवीय करुणा से दीप्त एक लेखक के जीवन का वह पक्ष है जिसे पढ़कर कठोर-पाषाण ह्रदय भी द्रवित हो उठता है। सच पूछा जाए तो किसी सत्साहित्य के प्रणयन का यही तो वास्तविक उद्देश्य है।

इस रचना में निराला के विपन्न और विकट जीवन से जुड़े कई प्रसंग एक के बाद एक पाठक के सामने चलचित्र के दृश्य की तरह दर्शित होते है और संवाद में टँके शब्द जीवन के सुख-दुःख से सम्बद्ध मनोवेगों का विविध रूप धारण कर जीवनगत सच्चाइयों की रुदित-मुदित छवि धारण कर जीवित हो उठते हैं और जीवन का बहुस्तरीय खुरदरापन स्वतः प्रकट हो जाता है। वस्तुतः निराला का सारा जीवन साधना एवं श्रम का जीवन रहा है, जिसे कुछ आलोचकों ने किसानी-फौलादी जीवन भी कहा है।

संस्मरण के अन्तिम भाग में वर्तमान भौतिक जीवन में आए सम्बन्धों के अमावस और निरन्तर गिरती साख का उल्लेख है, जिसमें निराला जैसे चरित्र बिरले बचे हैं। लेखिका को इस बात की चिन्ता है कि आनेवाले समय में निराला जैसे महामानव को बचे रहना कितना मुश्किल है। महादेवी वर्माजी के शब्दों में – "आज हम स्पर्धा, अज्ञान और भ्रान्ति की ऐसी कुहेलिका में चल रहे हैं कि स्वयं को पहचानना तक कठिन है, सहयात्रियों को यथार्थता में जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।" निरालाजी के साहित्य की शास्त्रीय विवेचना तो आगामी युगों के लिए भी सुकर रहेगी, पर उस विवेचना के लिए जीवन की जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, उसे तो उनके समकालीन ही दे सकते हैं। इस प्रकार इस संस्मरण का एक उपयोग तो आगामी वर्षों में निराला के महत्त्व को स्थापित करने के सन्दर्भ में है और इसके साथ ही यह संस्मरण हमारी उस मानवीय व्यवहार की दीनता और रुग्णता पर कठोर प्रश्न खड़ा करता है, जिसमें स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा के अतिरेक में हम मानवीय आचरण को भूलकर पशु अथवा दानव बनते जा रहे हैं। जाहिर है यह संस्मरण सन्देश के रूप में वर्तमान समाज को आपस में एक दूसरे के लिए समय, सम्मान और सहयोग के लिए प्रेरित करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इस कृति ने गद्य-लेखन के क्षेत्र में नया मानक स्थापित किया है।

## 3.1.08. पाठ-सार

महादेवी वर्मा द्वारा लिखित संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को पढ़ते हुए पाठक निराला के जीवन के कष्टों और संघर्षों के साथ-साथ उनके आचरण में विद्यमान मानवीय पक्षों से परिचित होता है। इस संस्मरण में

महादेवी वर्मा ने निराला के साहित्य के शास्त्रीय विश्लेषण का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि उनके व्यथित जीवन के अभावों को उद्घाटित किया है। निराला के अनुशासन-रहित जीवन को व्यवस्था के बन्धनों में बाँधना असम्भव था। बहुत प्रयास करने और बहन बनने के बाद भी महादेवीजी इस उद्देश्य में सफल नहीं हो पातीं। किसी को दुखी देखना उनके लिए असह्य था और किसी के कष्ट से वे सद्यः द्रवित हो जाते थे और औढर दानी बन जाते थे। स्वयं कष्ट सहकर भी दु:खतप्त प्राणियों के कष्ट-मोचन के लिए व्याकुल हो उठते थे और कोई-न कोई युक्ति करके सहायता करने के लिए प्रकट हो जाते थे। ज़रूरत पड़ने पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ भी दान करने से नहीं हिचकते थे।

निराला को अपने अतिथियों का सहर्ष स्वागत और उनके भोजन आदि का प्रबन्ध करने में बड़ा आनन्द आता था। आज के युग में निराला के समान अपनी सुविधा-असुविधा से बेसुध अपने अतिथियों का सत्कार करनेवाला शायद ही कोई बिरला होगा। इसके अतिरिक्त निरालाजी एक बेहद संवेदनशील व्यक्ति थे। उन्हें जब पन्त के निधन का झूठा समाचार मिलाता है तो व्याकुल हो उठते हैं और रात भर बिना सोये महादेवी के घर के बाहर तार से सच्ची ख़बर आने की प्रतीक्षा करते हैं। निराला के व्यक्तित्व की यह एक खास विशेषता थी कि केवल मित्र ही नहीं बल्कि अपने विरोधी का अभाव भी उन्हें कलपाने लगता है। संस्मरण के अन्तिम हिस्से में महादेवी वर्मा ने निराला के विलक्षण व्यक्तित्व का चित्रण किया है। वह व्यक्त करती हैं कि भौतिक सुख-सुविधाओं से विरत निराला विचारों की दृष्टि से क्रान्तिदर्शी थे और किसी भी प्रकार के अन्याय को सहन नहीं करते थे। उनके व्यवहार में नम्र उदारता और उग्र औदात्य एक साथ विद्यमान था। अतः निराला को समझने के लिए "जिस मात्रा में बौद्धिकता चाहिए उसी मात्रा में हृदय की संवेदनशीलता भी अपेक्षित है।"

यह संस्मरण एक ओर जहाँ निराला के जीवन से जुड़े विकट प्रसंगों से पाठक को अवगत कराता है, वहीं दूसरी ओर निराला के गैर-बनावटी मानवीय चरित्र को भी उजागर करता है। इस संस्मरण को पढ़ने के बाद यह आभास हो जाता है कि जीवन में अनवरत और कठिन साधना करने के बाद ही निराला जैसा अदम्य और जीवट व्यक्तित्व पाया जा सकता है। महादेवी वर्मा विरचित संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एक सार्थक संस्मरण है।

## 3.1.09. बोध प्रश्न

1. संस्मरण विधा की कसौटी पर संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का मूल्यांकन कीजिए।
2. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के आधार पर 'निराला' की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. संस्मरण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के आधार पर महादेवी वर्मा के अभिव्यक्ति-कौशल पर विचार कीजिए।

## 3.1.10. व्यवहार

1. महादेवी वर्मा द्वारा रचित 'पथ के साथी', 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'मेरा परिवार' आदि में संकलित सभी संस्मरणों का अध्ययन कीजिए और उनमें से किसी एक का विश्लेषण कीजिए।
2. महादेवी वर्मा के काव्य-संकलनों (नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा, सप्तपर्णा आदि) एवं निबन्धों (शृंखला की कड़ियाँ, विवेचनात्मक गद्य, साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध) का अध्ययन कीजिए और महादेवी वर्मा के साहित्यिक वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए एक सारगर्भित आलेख तैयार कीजिए।
3. महादेवी वर्मा और अन्य चर्चित साहित्यकारों द्वारा रचित संस्मरणों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

## 3.1.11. कठिन शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| औढर दानी | : | अकारण या मनमाने ढंग से उदारता, कृपा आदि दिखानेवाला व्यक्ति। |
| अव्यक्त वेदना | : | ऐसा असह्यकष्ट, पीड़ा, अनुताप आदि व्यथा जो सर्वथा प्रकट न हो। |
| निस्तब्ध पीड़ा | : | निश्चेष्ट, गतिहीन अथवा कोलाहल रहित वेदना, दारुण दुःख। |
| क्लान्त | : | शिथिल पड़ा हुआ, थका हुआ, श्रान्त, दुखी, मन से खिन्न। |
| संकल्पित अर्थ | : | संकल्प किया हुआ धन, जिसके व्यय का निश्चय पहले से किया गया हो। |
| मधुकरी | : | भिक्षाटन, साधु-संन्यासियों की वह भिक्षा जिसमें केवल पका हुआ भोजन लिया जाता है। |

## 3.1.12. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. गुर्टू शचीरानी, (1951) (सं.) महादेवी वर्मा : काव्य कला और जीवन दर्शन, दिल्ली, आत्माराम एंड संस
2. मदान, इंद्रनाथ, (1965), (सं.) महादेवी : चिन्तन व कला, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
3. पाण्डेय, गंगा प्रसाद, (1969), महीयसी महादेवी, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
4. गौतम, डॉ॰ लक्ष्मण दत्त, (1972) महादेवी वर्मा : कवि और गद्यकार, कमला नगर दिल्ली, कोणार्क प्रकाशन
5. गुप्त, डॉ॰ सुरेश चन्द्र, (1991) महादेवी की काव्य-साधना, दिल्ली-6, सत्साहित्य प्रकाशन
6. चौबे, डॉ॰ देवेन्द्र, (2000) MHD-4, गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ-II, 5, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मानविकी विद्यापीठ, 81-7605-844-0
7. सदायत, चंद्रा, (2009), (सं.) लेखिकाओं की दृष्टि में महादेवी वर्मा, दिल्ली, एन.बी.टी.


❖❖❖

## खण्ड – 3 : विविध गद्य-रूप – 2

## इकाई – 2 : रेखाचित्र : रजिया – रामवृक्ष बेनीपुरी

**इकाई की रूपरेखा**

3.2.0. उद्देश्य कथन
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. रेखाचित्र और संस्मरण के मध्य अन्तर
3.2.3. रेखाचित्र : स्वरूप-विश्लेषण
3.2.4. रेखाचित्र 'रजिया' का रचनात्मक वैशिष्ट्य
3.2.5. पाठ-सार
3.2.6. बोध प्रश्न
3.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

### 3.2.0. उद्देश्य कथन

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. रेखाचित्र विधा का आशय और स्वरूप समझ सकेंगे।
ii. रेखाचित्र और संस्मरण के मध्य के सूक्ष्म अन्तर को समझ सकेंगे।
iii. रेखाचित्र 'रजिया' का रचनात्मक वैशिष्ट्य जान सकेंगे।

### 3.2.1. प्रस्तावना

आधुनिक हिन्दी गद्य में रामवृक्ष बेनीपुरी अपनी जादुई भाषा और जोरदार शैली के कारण सदैव बहुचर्चित रहे हैं। उनकी विशिष्ट शैली से ही उनके गद्य को ताकत और गतिशीलता मिलती है। अपनी रचनाओं पर बेनीपुरीजी भी कम विस्मित नहीं थे। उन्होंने बेझिझक स्वीकार किया है कि उनकी रचनाओं में वृक्षों को उखाड़ देनेवाली हवा के झोंके और आँखों को चकाचौंध कर देनेवाली बिजली की चमक मौजूद है। बेनीपुरी सिद्धहस्त गद्यकार के रूप में सामने आये थे और उन्होंने गद्य की विविध विधाओं के साथ-साथ निबन्ध के भी नये आयाम खोजकर अपनी भरपूर सामर्थ्य का प्रदर्शन किया था।

### 3.2.2. रेखाचित्र और संस्मरण के मध्य अन्तर

रेखाचित्र और संस्मरण के बीच की विभाजक-रेखा बहुत सूक्ष्म है। प्रायः इनका रूप परस्पर अन्तर्भुक्त दिखाई देता है। यदि इन रूपों में अन्तर करना हो तो कई बातें देखी जा सकती हैं। रेखाचित्र में व्यक्ति को समग्रतः और बहुत कुछ स्थिर रूप में देखने की चेष्टा होती है; आकृति को भेद कर अन्तःप्रकृति का अंकन उसका मुख्य

उद्देश्य है। संस्मरण व्यक्ति को गत्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, व्यक्ति के अतिरिक्त बाह्य घटनाओं को भी वह महत्त्व देता है। इसीलिए सामान्यतः संस्मरण का पात्र विशिष्ट घटनाओं को भी सम्भव करने वाला कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होगा, जबकि रेखाचित्र में साधारण पात्रों का अंकन भी उतनी ही प्रभविष्णुता से होता है, जितना कि विख्यात चरित्रों का। अपनी प्रकृति में रेखाचित्र किसी सीमा तक संस्मरणात्मक होगा, पर संस्मरण में रेखाचित्र निहित हो, यह ज़रूरी नहीं। कुल मिलाकर अपनी स्थिर वृत्ति के अनुकूल रेखाचित्र की कला अपेक्षया सीमित क्षेत्र में रहती है, पर मानव-व्यक्तित्व के अन्वेषण में उसकी पहुँच स्वभावतः अधिक है। रेखाचित्र की विशिष्टता इस बात में भी है कि वह परम्परित नायक को हटाकर उसके स्थान पर सामान्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा करता है। छायावाद के युग में यह पहली बार हुआ कि कवि 'निराला' का कुकुरमुत्ता गुलाब को ललकारता है और होरी जैसा दीन किसान महाकाव्यात्मक उपन्यास का नायक बनता है। यों 'नायक' की परम्परागत धारणा ही बदल जाती है।

नायक की इस बदली हुई धारणा का एक और पुष्ट प्रमाण महादेवी वर्मा के रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं, जो इस काव्य-रूप के आरम्भिक लेखन के उदाहरण हैं। अकाल्पनिक वृत्त के लिए गद्य में सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग महादेवी वर्मा ने काफी पहले आरम्भ किया था। इस क्षेत्र में उनकी सफलता अतुलनीय है। रोचक बात यह है कि महादेवी की कविता की भाषा और गद्य की भाषा में अन्तर बहुत अधिक है। उनके रेखाचित्रों की भाषा में शब्दों का ठोस प्रयोग छायावादी कविता के सूक्ष्म-बिम्ब-विधान से अलग है। कविता और गद्य के भाषिक उद्देश्यों के बीच अन्तर यहाँ बहुत साफ देखा जा सकता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों की शैली जीवन्त और स्फूर्तिदायक है। शैली का यह वैशिष्ट्य बहुत-कुछ तत्कालीन स्वाधीनता-संग्राम की मनःस्थिति से प्रेरित हो सकता है, जो कुछ अन्य तत्त्वों के साथ मिश्रित होकर कई लेखकों में दिखाई देता है। पर भाषा की यह उद्‌बोधनपरक शैली बहुत जगह साहित्येतर, अतिरंजना से युक्त और ऊपर से आरोपित जान पड़ती है। इसीलिए अर्थ-शक्ति को वह गहरे स्तरों पर वह समृद्ध नहीं करती, वरन् सीमित कर देती है। भाषा का आधुनिक रूप उत्तरोत्तर मितकथन की ओर उन्मुख हुआ है। इस दृष्टि से बेनीपुरी की शैली एक युग-विशेष के स्मारक के रूप में हमारे सामने है। 'माटी की मूरतें' (1946), 'गेहूँ और गुलाब' (1950) बेनीपुरी के प्रसिद्ध रेखाचित्र-संकलन हैं।

### 3.2.3. रेखाचित्र : स्वरूप-विश्लेषण

रेखाचित्र मूलतः चित्रकला का पारिभाषिक शब्द है। अंग्रेजी में इसे 'Sketch' कहते हैं। हिन्दी में यही 'रेखाचित्र' के नाम से अभिहित है। चित्रकला में जब रेखाओं के द्वारा किसी व्यक्ति, वस्तु और स्थान को रूपायित करते हैं तब 'रेखाचित्र' नामक चित्रशैली सामने आती है। चित्रकार अपनी पर्यवेक्षण-शक्ति के द्वारा जब रेखाओं से आकृति-विशेष का निर्माण करता है तब वस्तुतः एक कला-दृष्टि की प्रतीति होती है। सामान्यतः किसी 'मॉडल' को सामने बैठाकर उसकी रूपाकृति को रेखाओं के द्वारा जब अभिव्यक्ति दी जाती है तब चित्रकला की इस विधा का आविर्भाव होता है। इसमें वस्तु-विशेष को एक विशिष्ट दृष्टि से चित्रकार अंकित करता है। चित्रकला के अन्य रूपों में जहाँ रंगों का वैभव दिखाई पड़ता है वहाँ रेखाचित्रों में रंगों का प्रयोग नहीं होता है।

हिन्दी-गद्य में चित्रकला से प्रेरित होकर ही रेखाचित्रों का सृजन हुआ है। उस विधा को बेनीपुरी ने 'शब्दचित्र' कहा है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि शब्दों के माध्यम से जब चित्रांकन किया जाता है तब यह विधा अपनी पहचान बनाती है। हिन्दी-गद्य में प्रायः चरित्र विशेष की भंगिमाओं को निरूपित करना ही इस गद्य-रूप का लक्षण है। कभी प्रेमचन्द ने कहा था – "भविष्य में कहानी चरित्र-प्रधान रूप ग्रहण करेगी।" जब उन्होंने 'बड़े भाईसाहब' नामक कहानी लिखी तब उन्होंने दो भाइयों के चरित्र की जीवन्त रेखाओं को साकार किया था। उसी तरह उन्होंने 'कजाकी' के व्यक्तित्व को निरूपित करने के क्रम में अनायास ही रेखाचित्र बना डाला था। कहा जाता है कि हिन्दी में पद्मसिंह शर्मा के 'पद्म-पराग' में इस विद्या के बीज मिलते हैं और श्री राम शर्मा की 'बोलती प्रतिमाएँ' में यह गद्य-रूप प्रस्फुटन पाता है। महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में अपने देखे और जान-पहचान के कई चरित्रों की प्रस्तुति की थी, किन्तु इसके सूत्रपात का श्रेय प्रेमचन्द को दिया जाना चाहिए जिन्होंने मानव-चरित्रों की सूरतों और सीरतों का हृदयावर्जक चित्रण किया है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि रेखाचित्र में कल्पना का समावेश आवश्यक है, किन्तु जिस तरह जीवनी का मूलाधार यथार्थ है उसी तरह रेखाचित्र की कल्पना में भी वास्तविकता के चित्रण की प्रवृत्ति देखी जाती है। 'रामा', 'घीसा', 'अलोपी', 'बदलू', 'ठकुरी बाबा' आदि महादेवी के कल्पना-प्रसूत चित्र नहीं हैं। उनमें लेखिका के पर्यवेक्षण और उसकी संवेदना की शक्ति दृष्टिगोचर होती है। अमृता शेरगिल ने पहाड़ के गाँवों और पंजाब के जनजीवन से चुनी हुई चीजों की रेखात्मक प्रस्तुति की थी। भारत में बस गए यूरोपीय चित्रकार रोरिक ने भी अपनी रेखाओं के माध्यम से विविध चरित्रों और स्थानों का अंकन किया था। हिन्दी-गद्य में चित्रकला की इस विशेष पद्धति को स्वीकार किया गया था। 'निराला' ने 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में चरित्रमूलक रेखाचित्रों का अवतरण किया था। बेनीपुरी के रेखाचित्रों को उक्त सन्दर्भ में ही विवेचित किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य राजा-महाराजाओं और सम्पन्न वर्ग की अपेक्षा उपेक्षितों और उपेक्षिताओं के प्रति उन्मुख और संवेदनशील रहा है। लोकजीवन के नगण्य पात्रों को रेखाचित्रकारों ने अहमियत दी है। बेनीपुरी ने 'मंगरा', 'बलदेव सिंह', 'सुभान खाँ' और 'रजिया' के रूप के ग्रामीण-जीवन के अकिंचन पात्रों को रूपायित किया है। उनके रेखाचित्रों का संकलन 'माटी की मूरतें' इसी दिशा की ओर इंगित करता है। सामान्य पात्रों में निहित चारित्रिक गुणों के रेखांकन में बेनीपुरी कृतकार्य हुए हैं। रेखाचित्र की विधा को हम कहानी की तरह काल्पनिक नहीं कह सकते हैं। इसमें अकाल्पनिक गद्य की अनुगूँज श्रवणगत होती है। संवेदना का यह वितान इस विधा को साहित्यिक सौष्ठव प्रदान करता है।

रेखाचित्र विधा में संस्मरणात्मक सन्दर्भ स्वतः आ जाते हैं, किन्तु लेखक की दृष्टि चरित्र के मर्म के उद्घाटन में ही निरत रहती है। वह न कथा कहता है और न अपने सम्बन्ध में ज्यादा बोलता है, अपितु वर्णित चरित्रों के रंग-रूप और व्यक्तित्व को शाब्दिक कलेवर प्रदान करता है। बेनीपुरी की 'रजिया' में कालगत दीर्घता मिलती है, किन्तु चारित्रिक दृष्टि से इसमें एक अन्विति दिखाई पड़ती है। रजिया के बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक के चारित्रिक विकास पर लेखक की निगाह रही है। रेखाचित्र के अन्त में रजिया की मूर्ति के रूप में उसके रूप

का पुनरावतार बीज के वृक्ष, पुनः वृक्ष के बीज में रूपान्तरण को उदाहृत करता है। पोती दादी के बचपन के रंग-रूप की रेखाओं को भलीभाँति प्रत्यावर्तित करती है। मानवीय करुणा के कण इस रेखाचित्र को रसार्द्र बना देते हैं। यहाँ संस्मरण की प्रविधि में रेखा-चित्रण का कौशल समाविष्ट है।

हिन्दी में प्रगतिवाद के प्रारम्भ के साथ रेखाचित्र की विधा का विकास दिखाई पड़ता है। पन्त ने एक पान वाले को रेखाचित्र का विषय बनाया था और उनकी 'ग्राम्या' में कई पद्यात्मक रेखाचित्र मिलते हैं। निराला ने 'अणिमा' में 'सड़क के किनारे वो दूकान थी' शीर्षक कविता के द्वारा वस्तुतः रेखाचित्र ही खींचा था। अपने जमाने में 'हंस' का रेखाचित्र-विषेशांक बहुत प्रशंसित हुआ था और प्रगतिवादी लेखक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'पेट्रोल पंप', 'रानीखेत की रात' आदि में इस विधा के नये आयामों का अवतरण किया था। सियाराम शरण गुप्त ने 'मुंशी अजमेरी' का एक उत्कृष्ट रेखाचित्र प्रस्तुत किया था। प्रगतिवादी कवि त्रिलोचन ने कविता में 'नगई मेहरा' के चरित्र की रेखाओं को उपस्थित किया था। आजादी के बाद लोकतन्त्रात्मक आग्रह के कारण मिट्टी और उससे जुड़े हुए प्राणी रेखाचित्र की विषय-वस्तु के रूप में महत्त्व पाते हैं।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि रेखाचित्र पाश्चात्य साहित्य और विजातीय चित्र-शैली से प्रभावित है, किन्तु प्राचीन वाङ्मय में इस कला के पुराने नमूने उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में चाण्डाल कन्या का चित्रण मिलता है तथा विन्ध्यावटी के दृश्य-चित्रों की यथार्थता मुग्ध कर देती है। कालिदास के 'मेघदूतम्' में प्रकृति के कई रूपों के रेखाचित्र पहचाने जा सकते हैं। शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में माथुर, शर्विलक, शकार आदि के चरित्र रेखाचित्रण की कला के नायाब नमूने है। यों तो भारतीय चित्रकला में रंगों की छटा मिलती है, किन्तु भीम बैटका के चित्रों में रेखाओं का संसार दिखाई पड़ता है। प्रागैतिहासिक चित्र-कला का प्रस्फुटन प्रथमतः रेखाओं में ही हुआ था। अजंता, एलोरा और महाबलीपुरम् की चित्रकला में भित्ति-चित्रों का विस्तार मिलता है तथा काव्य-साहित्य में विद्यापति, सूर, तुलसीदास, बिहारी और पद्माकर दृश्य-चित्रण की रेखाओं के मर्मज्ञ जान पड़ते हैं। कुल मिलकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा रूप और रंग के साथ-साथ रेखाओं में भी रुचि लेती रही है। हिन्दी के रेखाचित्र इस दृष्टि से भारतीय साहित्य से विच्छिन्न नहीं हैं।

### 3.2.4. रेखाचित्र 'रजिया' का रचनात्मक वैशिष्ट्य

रजिया चूड़िहारिन सामाजिक दृष्टि से अकिंचन है, किन्तु उसके चरित्र में प्रेम की तरंग उठती है। वह बेनीपुरी के साथ-साथ अपने पति हसन के प्रति भी समानतः लगाव दर्शित करती है। बेनीपुरी की पत्नी रानी उसी के हाथों चूड़ियाँ पहनना चाहती है और गाँव की नवोढ़ाएँ उसकी शक्ल-सूरत एवं गुणवता पर रीझ जाती हैं। उसके शील में स्नेह की अन्तर्धारा प्रवाहित है। इसकी रेखाएँ जीवन के बहुत सारे उतार-चढ़ावों को वर्णित करती है। इस दृष्टि से यह एक सफल रचना है जो यथार्थ के धरातल पर मानवीय चरित्र के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है।

रेखाचित्र या शब्दचित्र का मूलाधार चरित्र-विशेष होता है। डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने लिखा है – "शब्दचित्र में किसी व्यक्ति की यथार्थ या वास्तविक चारित्रिक विशेषताओं के उभारने का प्रयत्न होता है।" इसमें प्रायः हम

पहचान जाते हैं कि अमुक शब्दचित्र हमारे अनुभव से टकराए हुए अमुक व्यक्ति का-सा है, यही इसकी सजीवता और विशेषता होती है। शब्दचित्र का प्रेरक कोई एक वास्तविक व्यक्ति होता है। इसके व्यक्तित्व और चारित्र्य का विश्लेषक शब्दचित्रकार होता है। बेनीपुरी ने रजिया को केन्द्र में रखकर जो शाब्दिक चित्रांकन किया है उससे एक खास बात उभरती है। रजिया के बचपन को चित्रित करते हुए बेनीपुरी ने जो रेखाएँ खींची हैं उनसे एक विशेष स्वरूप प्रत्यक्षीकृत होता है – "कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों में चाँदी के कंगन और पैरों में चाँदी की गोड़ाँई-भरबाँह की बूटेदार कमीज पहने, काली साड़ी के छोर को गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को सम्हालने में परेशान, वह छोटी-सी लड़की, जो उस दिन मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी थी – अपने बचपन की उस रजिया की स्मृति ताजा हो उठी।"

इसी चित्र की पुनरावृत्ति तब दृष्टिगत होती है। जब वृद्धा रजिया से मिलने बेनीपुरी उसके गाँव पहुँचते हैं और उसकी पोती को देखते है। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद वे इस लड़की को देखते है। वह हू-ब-हू अपनी दादी के बचपन की प्रतिकृति जान पड़ती है। बेनीपुरी ने इस चित्र को यों दुहराया है – "कि अचानक, लो, क्या ? वह रजिया चली आ रही है। रजिया ! वह बच्ची ! अरे, रजिया फिर बच्ची हो गयी ? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भरबाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें, जिन्हें सम्हालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालीस साल का व्यवधान।"

बेनीपुरी ने रजिया के व्यक्तित्व में यौवन के प्रादुर्भाव का भी बड़ा जीवन्त चित्रण किया है – "रजिया बढ़ती गयी। जब-जब भेंट होती, मैं पाता उसके शरीर में नये-नये विकास हो रहे हैं। शरीर में और स्वभाव में भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गयी है – मुझे देखते ही दौड़कर निकट आ जाती, प्रश्न-पर-प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न ! देखिए तो, यह नयी बालियाँ, आपको पसन्द हैं ? क्या शहर में ऐसी ही बालियाँ पहनी जाती हैं ? मेरी माँ शहर से चूड़ियाँ लाती है, मैंने कहा है, वह इस बार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते हैं वहाँ ? क्या भेंट हो सकेगी ? – वह बके जाती, मैं सुनता जाता ! शायद जवाब की ज़रूरत वह भी नहीं महसूस करती।"

प्रस्तुत शब्दचित्र में 'रजिया' के व्यक्तित्व की मौलिकता और अस्मिता को बेनीपुरी ने भलीभाँति रेखांकित किया है – "रजिया बढ़ती गयी, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही है; किन्तु पहले वह माँ की एक छायामात्र लगती थी, अब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनों के दिलों में कसमसाहट है। जब वह बहनों को चूड़ियाँ पिन्हाती होती है, भाई तमाशा देखने को वहाँ एकत्र हो जाते हैं। क्यों ? बहनों के प्रति भ्रातृभाव या रजिया के प्रति अज्ञात आकर्षण उन्हें खींच लाता है ? जब बहुओं के हाथों में चूड़ियाँ ठेलती होती हैं, पतिदेव दूर खड़े कनखियों से देखते होते हैं – क्या ? अपनी नवोढ़ा की कोमल कलाइयों को – या इन कलाइयों पर क्रीड़ा करती हुई रजिया की पतली उँगलियों को ! और, जैसे रजिया को इसमें रस मिलता है। पतियों से चुहलें करने से भी वह बाज नहीं आती – बाबू, यहीं महीन चूड़ियाँ हैं ! जरा देखिएगा, कहीं चनक न जाएँ ! पतिदेव भागते हैं, बहुएँ खिलखिलाती हैं। रजिया ठट्ठा लगाती है। अब वह अपने पेशे में निपुण होती जाती है।"

अपने पति हसन के साथ आती हुई रजिया का बड़ा ही सहज निरूपण बेनीपुरी ने किया है। यहाँ विवाहिता रजिया के स्वभाव का अन्तरंग चित्रण अत्यन्त प्रभावी ढंग से सम्पन्न हुआ है – "ज्यों-ज्यों शहर में रहना बढ़ता गया, रजिया से भेंट भी दुर्लभ होती गयी ! और, एक दिन वह भी आया, जब बहुत दिनों पर उसे अपने गाँव में देखा, पाया उसके पीछे एक नौजवान चूड़ियों की खाँची सिर पर लिए है ! मुझे देखते ही वह सहमी, सिकुड़ी और मैंने मान लिया, यह उसका पति है ! किन्तु तो भी अनजान-सा पूछ ही दिया – इस मजूरे को कहाँ से उठा लायी है रे ? इसी से पूछिए, साथ लग गया, तो क्या करूँ ! नौजवान मुस्कुराया, रजिया बिहँसी, बोली – यह मेरा खाबिंद है मालिक !"

रजिया परिहासप्रिय है। उसके व्यक्तित्व में एक प्रकार की बेबाकी और आत्मीयता है। बेनीपुरी ने सहज ढंग से उसकी इस प्रकृति को रेखाओं में बाँधा है – "और, न एक दिन वह भी आया, कि मैं भी खाबिंद बना ! मेरी रानी को सुहाग की चूड़ियाँ पहनाने उस दिन यही रजिया आयी और उस दिन मेरे आँगन में कितनी धूम मचाई इस नटखट ने। यह लूँगी, वह लूँगी और ये मुँहमाँगी चीजें नहीं मिलीं, तो वह लूँगी कि दुलहन टापती रह जाएँगी ! हट-हट, तू बबुआजी को ले जाएगी, तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा – भौजी ने कहा ! यह भी टापता रहेगा, बहुरिया, कहकर रजिया ठट्ठा मारकर हँसी और दौड़कर हसन से लिपट गई – ओहो मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना। हसन भी हँस पड़ा, रजिया अपनी प्रेम-कथा सुनाने लगी। किस तरह यह उसके पीछे पड़ा, किस तरह झंझटें आईं, फिर किस तरह शादी हुई और वह आज भी किस तरह छाया-सा उसके पीछे घूमता है – न जाने कौन-सा डर लगा रहता है इसे ? और फिर, मेरी रानी की कलाई पकड़कर बोली – मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहें दुलहन ! सारा आँगन हँसी से भर गया था ! और, उस हँसी में रजिया के कानों की बालियों ने अजीब चमक भर दी थी – मुझे ऐसा ही लगा था।"

इस शब्दचित्र में विशिष्ट शैली के दर्शन होते हैं। 'चाँदी की बालियों की चमक' का यह वर्णन हिन्दी में रुपहले गद्य का अद्वितीय उदाहरण है। बेनीपुरी ने स्वच्छ गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रजिया के रूप और स्वभाव का अद्वितीय अंकन किया है। रजिया का व्यक्तित्व रूखा नहीं है, रसात्मक है। जब वह बेनीपुरी से अपनी पत्नी को चूड़ियाँ पहनाने का इसरार करती है और अपने पति की कारगुजारी का हँसते हुए वर्णन करती है तब उसकी शख्सियत तरंगिणी की तरह चपल हो उठती है। उसके चरित्र के चुलबुलेपन को झाँकने में बेनीपुरी ने अपनी ही चपलता को उदाहृत किया है – " 'मालिक, ये चूड़ियाँ रानी के लिए।' कहकर मेरे हाथों में चूड़ियाँ रख दीं। मैंने कहा, 'तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वहीं दे देना !' 'नहीं मालिक, एक बार अपने हाथ पिन्हाकर देखिए !' वह खिलखिला पड़ी। और, जब मैंने कहा, 'अब इस उम्र में ?' तो वह हसन की ओर देखकर बोली, 'पूछिए इससे, आज तक मुझे यही चूड़ियाँ पिन्हाता है या नहीं ?' और, जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली, 'घाघ है मालिक, घाघ ! कैसा मुँह बना रहा है इस समय ! लेकिन जब हाथ-में-हाथ लेता है ...' ठठाकर हँस पड़ी, इतने जोर से कि मैं चौंककर चारों तरफ देखने लगा।"

बेनीपुरी ने बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की जीवन-यात्रा काटने वाली रजिया के वार्धक्य का जो चित्र खींचा है वह यथार्थ-चित्रण का अच्छा नमूना है। बुढ़ापे में भी एक सुन्दरता होती है, इसका लेखक ने बड़े अच्छे

ढंग से साक्षात्कार कराया है। निम्नलिखित सन्दर्भ बेनीपुरी की रेखा-चित्रण-कला की सफलता का अपूर्व दृष्टान्त है – "उसकी दोनों पतोहुएँ उसे सहारा देकर आँगन में ले आईं। रजिया – हाँ, मेरे सामने रजिया खड़ी थी। दुबली-पतली, रूखी-सूखी। किन्तु, जब नजदीक आकर उसने 'मालिक, सलाम' कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गयीं, जिन्होंने उसके चेहरे को मकड़जाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और चमक उठीं वे नीली आँखें, जो कोटरों में धँस गयी थीं ! और, अरे चमक उठी हैं आज फिर वे चाँदी की बालियाँ और देखो, अपने को पवित्र कर लो ! उसके चेहरे पर फिर अचानक लटककर चमक रही हैं वे लटें, जिन्हें समय ने धो-पोंछकर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।"

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है – "रेखाचित्र में व्यक्ति को समग्रतः और बहुत कुछ स्थिर रूप से देखने की चेष्टा होती है, असृष्टि को भेदकर अन्तःप्रकृति का अंकन उसका मुख्य उद्देश्य है।" बेनीपुरी ने रजिया के चित्रण-क्रम में उसकी बाहरी छवि और अन्तर्वृत्ति को भलीभाँति उजागर किया है। एक साधारण चरित्र को बड़ी आत्मीयता के साथ प्रस्तुत करने में लेखक कृतकार्य हुआ है। रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि कुल मिलाकर अपनी स्थिर वृति के अनुरूप रेखाचित्र की कला अपेक्षया सीमित क्षेत्र में रहती है, पर मानव-व्यक्तित्व के अन्वेषण में उसकी पहुँच स्वभावतः अधिक है। बेनीपुरी एक मामूली चूड़िहारिन के माध्यम से मानवीयता की खोज में सफल रहे है। रजिया में कुलीन और सम्पन्न वर्ग की स्त्री की जड़ता नहीं, मानवीयता की विस्तृति लक्षित होती है। वह नायिका की परम्परागत धारणा का अतिक्रमण करती है। 'माटी की मूरतें' अकाल्पनिक गद्य विधा को एक ऊँचाई तक ले जाती है। उस पर देशकाल के यथार्थ और युगीन विचारों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। रजिया ग्रामीण परिवेश में हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के बीच के अलगाव को निर्दिष्ट करती है, किन्तु वह बतलाती है कि बेनीपुरी की रानी मुसलमान चूड़िहारिन से ही चूड़ी पहनना चाहती है। ग्रामीण जीवन में सौमनस्य नष्ट नहीं हुआ है। चतुर्वेदीजी इस तथ्य को यों विवेचित करते हैं – "शैली का विशेष रूप बहुत कुछ तत्कालीन स्वाधीनता-संग्राम की मनःस्थिति से प्रेरित हो सकता है। नये मूल्यों के प्रकाश में बेनीपुरी ने जो शब्दचित्र आँके हैं वे भाषा ही नहीं, कथ्य के नयेपन का भी द्योतन करते हैं।" निश्चय ही बेनीपुरी की शैली युग-विशेष के स्मारक के रूप में हमारे सामने आती है। रजिया गाँव से पटना तक का भ्रमण करती है, किन्तु वह बदले हुए परिवेश में भी मानवीयता को संरक्षित रखती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने बेनीपुरी की गद्य-शैली पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि उसमें खंजन पक्षी की चंचलता और चपलता मिलती है। खंजन पक्षी आँगन में भी एक जगह और एक दिशा में स्थिर नहीं रहता है। बेनीपुरी ने रजिया के चित्रण में उस चंचलता का सन्निवेश नहीं किया है। यह रेखाचित्र अपने केन्द्रीय चरित्र से भटकता नहीं है। इसमें फुदकने के साथ-साथ टिकने की भी शैली दिखाई पडती है। रजिया का चरित्र दीर्घकाल-व्यापी है बेनीपुरी ने पर्याप्त एकाग्रता के साथ उसके वैविध्य को क्रमिक रूप से प्रकट किया है। यहाँ उनके गद्य का साफल्य चापल्य नहीं, स्थिरता की देन है।

## 3.2.5. पाठ-सार

रेखाचित्र की अंकन-प्रणाली 'फोटोग्राफी' से भिन्न है। इसमें जीवनी की शुष्कता नहीं देखी जाती। 'रिपोर्ताज' का वर्णन-प्राचुर्य इसमें नहीं मिलता है। इसकी कला कहानी की तरह नाटकीय नहीं है। इसमें संस्मरण की आत्मनिष्ठता का अतिरेक भी नहीं दिखाई पड़ता है। जिस तरह चित्रकार वस्तुनिष्ठता को महत्त्व देता है उसी तरह रेखाचित्र का लेखक वैयक्तिकता की जगह तटस्थता और वस्तुचित्रण की निरपेक्षता को उदाहृत करता है। बेनीपुरी की 'रजिया' न कहानी है, न 'रिपोर्ताज' और न पात्र-विशेष की जीवनी है। इसका चित्रण-कौशल संश्लिष्ट है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक रजिया के भावों की रेखाएँ फैली हुई हैं। वर्ड्सवर्थ ने कहा था – "Child is the father of man." रजिया के लेखन में यह काव्यगत सत्य मुखरित होता है।

रेखाचित्र किसी वस्तु या व्यक्ति की पूर्ण अभिज्ञता के बिना रचा नहीं जा सकता है। इसमें सुनी नहीं, जानी और देखी हुई शख्सियत को ही आधार बनाया जाता है। बेनीपुरी रजिया को बचपन से लेकर उसकी वृद्धावस्था तक बहुत ध्यान से देखा था, अतः उनके चित्रण में कल्पना नहीं, यथार्थ की प्रतीति होती है। रजिया के पूरे जीवन को मूर्त करने में बेनीपुरी इसलिए सफल रहे हैं कि वे अपने केन्द्रीय चरित्र के बारे में सही जानकारी रखते हैं। श्रीराम शर्मा ने अपने पात्रों को 'बोलती प्रतिमाओं' के रूप में उपस्थापित किया है। बेनीपुरी ने उनकी शैली का ही अनुगमन करते हुए रजिया को एक बोलते हुए चित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। चित्र जब शब्दों के माध्यम से मुखर हो जाता है तब उसमें गद्य की शुष्कता नहीं, शैली की कलात्मकता साकार हो जाती है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने रेखाओं के बोलने की बात कही थी। बेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' के रेखाचित्रों में जीवन को स्वरों से भर दिया है। 'बलदेव सिंह', 'मंगर', 'देव', 'बैजू मामा', 'सुभान खाँ' आदि रेखाचित्र अंकन-मात्र नहीं हैं। वे जीवन की धड़कनों को मुखरित करते हैं। यहाँ लेखक ने पूर्ववर्ती परम्परा को एक विशिष्ट आयाम दिया है।

## 3.2.6. बोध प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. रजिया क्या काम करती है ?
   (क) चूड़िहारिन
   (ख) खेती
   (ग) बागवानी
   (घ) इनमें से कोई नहीं

सही उत्तर (क)

2. रजिया के पति का क्या नाम है ?
   (क) हसन
   (ख) मुर्तजा

(ग) अब्दुल

(घ) इनमें से कोई नहीं

सही उत्तर (क)

3. रामवृक्ष बेनीपुरी ने रजिया के चरित्र-चित्रण क्रम में उसकी किस अवस्था का वर्णन किया है ?

(क) बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक का

(ख) किशोरावस्था से युवावस्था तक का

(ग) युवावस्था से वृद्धावस्था तक का

(घ) बचपन से वृद्धावस्था तक का

सही उत्तर (घ)

4. रजिया के कितने बेटे थे ?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

सही उत्तर (ख)

5. रजिया की पोती की रूपाकृति में किसकी छाया बेनीपुरी को दिखाई पड़ती है ?

(क) रजिया

(ख) हसन

(ग) नवीनरूपाकृति

(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

सही उत्तर (क)

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. पहली बार बेनीपुरी ने जब रजिया को देखा तब उन पर क्या प्रभाव पड़ा ?
2. ग्रामीण जीवनचर्या में रजिया के कार्य-कलापों का क्या महत्त्व है ?
3. अपने पति के प्रति रजिया के क्या मनोभाव हैं ?
4. ग्रामीण महिलाओं के बीच रजिया की क्या स्थिति है ?
5. रजिया के माध्यम से बेनीपुरी क्या सन्देश देना चाहते हैं ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. एक विशिष्ट गद्य विद्या के रूप में रेखाचित्र की क्या विशेषताएँ हैं ?
2. रजिया के चारित्रिक वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।

3. रजिया की अंकिचनता में निहित महत्ता का विवेचन कीजिए।
4. भाषा-शैली और चित्रण-कौशल की दृष्टि से 'रजिया' का मूल्यांकन कीजिए।
5. रजिया में निरूपित क्षेत्रीय जीवन का विश्लेषण कीजिए।

### 3.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (सं.) डॉ॰ नगेन्द्र
4. हिन्दी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी
5. माटी की मूरतें, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 3 : विविध गद्य-रूप – 2

## इकाई – 3 : डायरी : मोहनराकेश की डायरी – मोहन राकेश

**इकाई की रूपरेखा**

3.3.0. उद्देश्य कथन
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. हिन्दी में डायरी-साहित्य लेखन-परम्परा
3.3.3. डायरी और आत्मकथा के मध्य अन्तर
3.3.4. डायरी-साहित्य : स्वरूप-विश्लेषण
3.3.5. मोहन राकेश की 'डायरी' : रचनात्मक वैशिष्ट्य
3.3.6. पाठ-सार
3.3.7. बोध प्रश्न
3.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

### 3.3.0. उद्देश्य कथन

इस इकाई में हिन्दी के विभिन्न गद्य-रूपों में से एक 'डायरी' का अध्ययन करेंगे। अकाल्पनिक गद्य-लेखन में निबन्ध, जीवनी, संस्मरण आदि के साथ 'डायरी' का परिगणन होता है, जो हिन्दी में एक नयी विधा के रूप में मान्य है। इस पाठ का उद्देश्य 'डायरी' की विधा के सन्दर्भ में मोहन राकेश की 'डायरी' की विशेषताओं को उपस्थापित करना है। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. हिन्दी-साहित्य में 'डायरी' विधा से परिचित हो सकेंगे।
ii. मोहन राकेश की 'डायरी' के वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
iii. मोहन राकेश की 'डायरी' के आधार पर मोहन राकेश की रचनाधर्मिता को समझ सकेंगे।
iv. मोहन राकेश की 'डायरी' के आधार उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।

### 3.3.1. प्रस्तावना

'डायरी' शब्द अंग्रेजी से हिन्दी में ले लिया गया है। वैसे इसके लिए उर्दू में 'रोजनामचा' और हिन्दी में 'दैनन्दिनी' शब्द प्रचलित हैं। यह यों तो गद्य-साहित्य की आधुनिक विधा है, किन्तु पाश्चात्य साहित्य में इसका प्रचलन मध्यकाल में ही हो गया था। अंग्रेजी में सोलहवीं शती से ही इसकी परम्परा दृष्टिगत होती है।

### 3.3.2. हिन्दी में डायरी-साहित्य लेखन-परम्परा

हिन्दी में भारतेन्दु-युग के बालमुकुन्द गुप्त ने 'डायरी' लिखी थी, किन्तु द्विवेदी युग में इस विधा का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। वैसे हिन्दी में आरम्भिक दैनन्दिनी लेखकों में घनश्याम दास बिड़ला की 'डायरी के पन्ने' नामक पुस्तक इस क्रम में स्मरणीय है। डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने 'मेरी कॉलिज डायरी' लिखी थी जिसका प्रकाशन सन् 1954 ई. में हुआ था। इस क्रम में सुन्दरलाल त्रिपाठी की 'दैनन्दिनी' का उल्लेख भी किया जा सकता है। गुजराती के नरहरि पारीख ने गाँधीजी के निजी सचिव महादेव भाई की 'डायरी' का सम्पादन किया था। सियारामशरण गुप्त की 'दैनिकी' भी इस क्रम में याद की जाती है। मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' में वैचारिक मंथन का तनाव प्रकट हुआ है। शमशेर की 'डायरी' में उनके रूमानी मिजाज की अनुभूति मिलती है। मोहन राकेश की 'डायरी' में उनके जीवन-संघर्षों और प्रेम-प्रसंगों का वर्णन मिलता है। मोहन राकेश की 'डायरी' उनकी निजी ज़िंदगी की परतों को खोलती प्रतीत होती है। यहाँ लेखक के जीवन और उसके सृजन की अन्विति क्रमिक रूप में प्रस्तुत हुई है। स्वतन्त्रता के पूर्व श्रीराम शर्मा की 'सेवाग्राम डायरी' सन् 1946 ई. में प्रकाशित हुई थी। जमनालाल बजाज जैसे गाँधीवादी की 'डायरी' सन् 1966 ई. में छपी थी। अजित कुमार, गजानन माधव मुक्तिबोध, नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, चन्द्रशेखर आदि इस विधा से सम्बद्ध रहे हैं।

### 3.3.3. डायरी और आत्मकथा के मध्य अन्तर

कई विद्वान् 'डायरी' को आत्मकथा के परिवार से जोड़ते हैं। अपने भोगे हुए क्षणों को लिपिबद्ध करनेवाला लेखक एक तरह से आत्मवृत्तान्त ही लिखता है। यदि आत्मकथा एक समूची माला है तो 'डायरी' के पन्ने इस माला के मोतियों की तरह हैं। आत्मकथा में वृत्तान्त की समग्रता और अन्विति देखी जाती है, लेकिन 'डायरी' में बिखराव की स्थिति मिलती है। इसके पृष्ठ जीवनी और आत्मकथा की तरह समन्वित नहीं होते हैं, लेकिन ये मूलतः लेखक के जीवन पर प्रकाश डालते हैं। जिस तरह संस्मरणों और आत्मकथाओं में लेखकों की जीवनचर्या पृष्ठभूमि का काम करती है उसी तरह 'डायरी' में स्मृतियों की शृंखला देखी जाती है।

### 3.3.4. डायरी-साहित्य : स्वरूप-विश्लेषण

सामान्यतः व्यक्ति-विशेष जब अपने नित्य-प्रति के जीवन में घटित बातों को प्रस्तुत करता है तब 'डायरी' के लेखन का स्वरूप सामने आता है। इस विधा में मुख्यतः व्यक्ति-विशेष की दैनिक जीवनचर्या का विवरण रहता है। गाँधीजी की 'डायरी' इस दृष्टि से प्रामाणिक और क्रमबद्ध मानी जाती है। अन्य अनेक लेखक कभी-कभी कई दिनों के अन्तराल पर 'डायरी' लिखते हैं और कुछ लोग 'डायरी' में घटनाओं से अधिक विचारों और अपनी रचना-प्रक्रिया पर बल देते हैं। अंग्रेजी में 'डायरी' के लेखन को जीवनी-लेखन का आधार माना जाता है। किसी बड़े राजनेता या लेखक के साहचर्य में रहनेवाले लोग अपने लेखन के द्वारा सम्बद्ध व्यक्तियों के जीवन का आकलन करते रहे हैं। अंग्रेजी में वासवेल की 'डायरी' इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यात्रा-क्रम में विशिष्ट अनुभवों से गुजरने वाले कई लोगों ने डायरियाँ लिखी हैं। उनमें यात्रा-वृत्तान्त के साथ-साथ निजी प्रतिक्रियाएँ भी

दर्ज मिलती हैं। स्थान-विशेष से जुड़ी उनकी प्रतिक्रियाएँ ज्ञान और अनुभूति को समृद्ध करती हैं। इस दृष्टि से बच्चन के द्वारा लिखित 'प्रवास की डायरी' एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें डब्लू.बी. यीट्स के अध्येता ने इंग्लैड और आयरलैंड में बिताए हुए अपने शैक्षिक कालखण्ड का बहुत गहन वर्णन किया है। 'डायरी' एक वैयक्तिक विधा है, किन्तु 'प्रवास की डायरी' अपनी शोधात्मक दृष्टि से आकृष्ट करती है।

चूँकि 'डायरी' में लेखक अपने आन्तरिक मनोभावों को व्यक्त करता है इसलिए इस विधा को आत्मनिष्ठ माना गया है। जिस तरह प्रगीतों और ललित निबन्धों में रचनाकारों की आत्माभिव्यंजनाएँ मिलती हैं उसी तरह 'डायरी' में लेखकों के व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति होती है। स्पष्टता और सत्यनिष्ठा 'डायरी' को विश्वसनीय बनाती है। वैयक्तिक विधा होने के कारण इसे कभी-कभी एकांगी भी माना जाता है, किन्तु इसका लेखक समाज और देशकाल से कटा हुआ नहीं होता है। उसका निजत्व बना रहता है, किन्तु बाहरी घटनाओं के आकलन के क्रम में वह एकान्ततः वस्तुनिष्ठता का पालन नहीं करता है। बाह्य वर्णनों को वह अपनी अनुभूतियों से अनुरंजित कर देता है।

'डायरी' व्यक्ति-विशेष का 'नोटबुक' है जिसमें उसकी दिनचर्या का अंकन होता है। इस दृष्टि से यह विधा वर्तमान से बँधी हुई है, जबकि संस्मरण और आत्मकथा में अतीत की स्मृतियों को पिरोया जाता है। 'डायरी' में भी अतीत की चर्चा हो सकती है, किन्तु वह मुख्यतः वर्तमान पर टिकी हुई है। अंग्रेजी में जो 'जर्नल' लिखे जाते हैं उनमें अतीत और वर्तमान दोनों के ब्यौरे देखे जा सकते हैं। कुछ डायरी लेखक इस विधा के माध्यम से केवल स्फुट चिन्तन ही करते हैं। वे घटनाओं का वर्णन नहीं करते हैं, केवल विशिष्ट विषयों पर अपने मंतव्यों को उजागर करते है। दिनकर ने 'साहित्यमुखी' में ऐसे स्फुट चिन्तन को प्रस्तुत किया है। उनके इस लेखन में विचारों की गम्भीरता, सूक्तियों के सौष्ठव और चिन्तन की उड़ान लक्षित होती है। कई विषयों को स्पर्श करनेवाली ऐसी टिप्पणियाँ स्वभावतः वैयक्तिक ही कही जा सकती हैं। दिल्ली से लेकर दुनिया के अन्य हिस्सों तक जुड़ी हुई यह 'डायरी' न केवल साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक सन्दर्भों को रेखांकित करती है, बल्कि संघर्षशील लेखक के मनोवेगों को भी उपस्थापित करती है। दिनकर का परवर्ती जीवन घटना-बहुल रहा है। वे उत्तरोत्तर टूटते गए हैं, अतः आध्यात्मिकता की ओर उनकी उन्मुखता स्वाभाविक कही जा सकती है। जिस तरह 'हारे को हरिनाम' उनके व्यक्तित्व को विम्बित करनेवाली परवर्ती काव्यकृति है उसी तरह 'डायरी' उनके मनोजगत् के विचलन और विश्वासों को व्यक्त करनेवाली रचना है। 'हारे को हरिनाम' का पर्यवसान जैसे अध्यात्म की भूमि पर होता है वैसे ही 'डायरी' अन्ततः दैहिकता से ऊपर उठकर अध्यात्म के आकाश में उड़ान भरती है। बारह वर्षों का एक युग माना जाता है। यह 'डायरी' एक पूरे युग की दास्तान है जिसमें बहिर्जगत् और लेखक के अन्तर्जगत् की प्रतिच्छायाएँ देखी जा सकती हैं। इस दृष्टि से यह कृति वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के संगुम्फन को उदाहृत करती है। दिनकर ने इसे ठीक ही 'जर्नल' की कोटि में जगह दी है। कोई भी 'डायरी' अन्तःसाक्ष्यों के कारण प्रासंगिक होती है। यह रचना दिनकर के साहित्य और समय की समझ के लिए कई ऐसे साक्ष्यों को सामने लाती है जिनके आधार पर कवि और उसके देशकाल की परख की जा सकती है। अपने व्यापक दृष्टिकोण के कारण दिनकर बाद के 'डायरी' लेखकों के लिए प्रेरक सिद्ध होते हैं। 'मलयज की डायरी' को सम्भवतः दिनकर की इस

कृति ने ही प्रेरित किया था। 'दिनकर की डायरी' के प्रकाशन के बाद बेनीपुरी की डायरी छपी थी, किन्तु उसका रचनाकाल पूर्ववर्ती है। बेनीपुरी ने अपनी घरेलू समस्याओं के साथ-साथ युग-जीवन की घटनाओं पर भी टिप्पणियाँ की हैं। हो सकता है कि दिनकर ने बेनीपुरी की 'डायरी' देखी हो, किन्तु उन्होंने बेनीपुरी की अपेक्षा निजी जीवन की कई घटनाओं को दबा दिया है। बेनीपुरी की तरह वे अपने पारिवारिक प्रश्नों को प्रकट नहीं करते हैं, किन्तु देश-दुनिया के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ बेनीपुरी जैसी ही हैं। समाजवादी बेनीपुरी में वैचारिक गहराई कम है, किन्तु 'दिनकर भी डायरी' चिन्तन के गाम्भीर्य का साक्षात्कार कराती है। इस रचना को पढ़ने के बाद हम दिनकर की कई प्रतिबद्धताओं और सीमाओं से अवगत होते हैं। जहाँ तक रोचकता, पठनीयता एवं भाषाशैली की प्रांजलता की बात है यह रचना अत्यन्त प्रभावी है। दिनकर के गद्य के सौष्ठव और वैचारिक ओज को यहाँ देखा जा सकता है। वैसे इसमें कई प्रसंग ऐसे हैं जो दिनकर की दुर्बलता और कातरता को भी प्रकट करते हैं। इस दृष्टि से यह डायरी एक विश्वसनीय कृति है जिसके दर्पण में देशकाल और लेखक का जीवन बहुत दूर तक प्रतिच्छायित हुआ है। डायरी की विधा को साहित्यिक उत्कर्ष देने में दिनकर सफल रहे हैं।

डायरी में सूचनाएँ भी दर्ज होती हैं, किन्तु उसकी शैली 'रिपोर्ताज' वाली नहीं है। 'रिपोर्ताज' का उद्भव पत्रकारिता की कोख से हुआ है, किन्तु 'डायरी' पत्रकारिता की वस्तु नहीं है। यह एक तरह से आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया-मात्र है।

'डायरी' इतिहास-लेखन के एक स्रोत के रूप में ग्रहण की जाती है। उसके आधार पर भविष्य में इतिहास लिखा जा सकता है। इस दृष्टि से इस विधा में वस्तुनिष्ठता का पालन आवश्यक होता है। कहा जाता है कि टीपू सुल्तान ने एक रोजनामचा लिखा था जिसमें उसने अपने कई सपनों का जिक्र किया था। कहीं-कहीं उसके वर्णनों में अँगरेजों और फ्रांसीसियों के सम्बध में भी टिपणियाँ मिलती हैं। मैसूर के इतिहास के लेखन-क्रम में उस सामग्री का महत्त्व असंदिग्ध है। यह ठीक है कि 'डायरी' एक पश्चिमी विधा है, किन्तु टीपू सुल्तान ने पश्चिमी साहित्य से बिना प्रेरित हुए केवल अपने उद्गारों को गुप्त रूप से अंकित किया था। उसमें अपने इस वृत्तान्त को लोगों तक पहुँचाने की कोई आकांक्षा नहीं थी, किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि उसने भारतीय साहित्य में प्रथमतः इस विधा को अनायास ही अवतरित कर दिया था। विद्वज्जन ऐसे लेखन को अन्तःक्रियाओं का संकलन मानते हैं। अंग्रेजी में 'जर्नल' का यही मूल स्वरूप है। अज्ञेय की 'भवन्ती' सन् 1972 में प्रकाशित हुई थी जो 'डायरी' की 'जर्नल' नामक शाखा का प्रतिनिधित्व करती है।

आज गाँधीजी की 'डायरी' इतिहास को आधार प्रदान करनेवाली है। इसी तरह सुभाषचन्द्र बोस की बेटी ने जो 'डायरी' लिखी है वह सुभाषचन्द्र बोस, आजाद हिन्द फौज और तत्कालीन जापान के इतिहास के लिए शोध-सामग्री की हैसियत रखती है। शंकरदयाल सिंह ने हिन्दी में 'आसासान की डायरी' के नाम से उसका प्रकाशन कराया था। नेताजी और उनकी पत्नी तथा जापान के जनजीवन को समझने के लिए यह 'डायरी' अत्यन्त उपादेय है। हिन्दी में कई अकाल्पनिक गद्य-विधाओं के साथ भी डायरियाँ संयोजित हुई हैं। इस दृष्टि सन् 1959 ई. में प्रकाशित उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की पुस्तक 'ज्यादा अपनी कम परायी' की चर्चा की जा सकती है। इसमें 'अश्क' के कतिपय निबन्धों एवं संस्मरणों के साथ डायरी के पन्ने भी मिलते हैं। हिन्दी के कुछ यात्रा-वृत्तान्तों में

भी डायरी लेखन की प्रविधि का प्रयोग हुआ है। सन् 1960 ई. में अज्ञेय ने 'एक बूँद सहसा उछली' शीर्षक यात्रा-वृत्तान्त का प्रकाशन कराया था। जिसमें उन्होंने बर्लिन की डायरी के कुछ अंशों का समावेश किया था। इस सन्दर्भ में धर्मवीर भारती का 'ठेले पर हिमालय' नामक यात्रा-वृत्तान्त भी स्मरणीय है जिसमें अन्य गद्य विधाओं के साथ डायरी के पन्ने मिलते हैं।

सन् 1971 ई. में हरिवंशराय बच्चन की 'प्रवास की डायरी' का प्रकाशन हुआ था। इसके पश्चात् 1973 ई. में 'दिनकर की डायरी' छपी थी। उनके बाद सन् 2000 ई. में साहित्यकार 'मलयज की डायरी' के चार खण्ड प्रकाशित हुए थे जिनमें सन् 1951 से 1982 ई. तक के विवरण मिलते हैं। डॉ॰ नामवर सिंह ने इस डायरी का सम्पादन किया था। यह विस्तृत 'डायरी' है जिसमें साहित्य और जीवन-जगत् की अनेक घटनाओं के साथ-साथ मलयज की निजी प्रतिक्रियाएँ दर्ज मिलती हैं। मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' की अपेक्षा इसका आधार-फलक विस्तृत और गहन है। साहित्य ही नहीं, देशकाल के पूरे परिवेश को लेखक ने अपने दृष्टिपथ में रखा है। इसके पूर्व की डायरियों में ऐसा विस्तार नहीं मिलता है।

हिन्दी के कथा-साहित्य में भी डायरी की प्रविधि का विनियोग दृष्टिगत होता है। डॉ॰ देवराज ने 'अजय की डायरी' शीर्षक अपने उपन्यास में इस शैली का अच्छा प्रयोग किया है। इस क्रम में इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ' तथा कतिपय कहानियाँ भी उल्लेख्य हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस सिलसिले में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राजकमल चौधरी और शुभा वर्मा की कहानियों की चर्चा की जाती है। हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में उक्त शैली अनेकत्र लक्षित होती है। राजेन्द्र यादव ने 'शह और मात' में इस शैली को ग्रहण किया है। जैनेन्द्र कुमार के 'जयवर्धन' और श्रीलाल शुक्ल के 'मकान' शीर्षक उपन्यासों में 'डायरी' की प्रविधि व्यवहृत हुई है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' नामक उपन्यासों में कहीं-कहीं 'डायरी' की शैली का सहारा लिया गया है।

### 3.3.5. मोहन राकेश की 'डायरी' : रचनात्मक वैशिष्ट्य

मोहन राकेश की 'डायरी' उनकी पत्नी अनिता राकेश के सम्पादन में लेखक के देहान्त के कई वर्षों के बाद छपी थी। इसमें राकेश के यौवन-काल से लेकर अन्तिम समय तक की प्रतिक्रियाएँ दर्ज हैं। वैसे 'डायरी' के प्रारम्भ में लेखक ने अपने जन्म, बचपन और परिवेश का भी वर्णन किया है। इसमें जालन्धर, दिल्ली, बम्बई, डलहौजी, कन्याकुमारी, केरल और इलाहाबाद के अनुभवों को लिपिबद्ध किया गया है। सन् 1948 से लेकर 1955 तक की कालावधि में लिखित यह डायरी 'रोजनामचा' की संज्ञा को सार्थक नहीं करती है। लेखक ने इसे प्रतिदिन नहीं लिखा है। यह अनियमित दैनन्दिनी-लेखन का एक उदाहरण है।

'डायरी' में लेखक के व्यक्तित्व का निर्बाध प्रकाशन होता है। यह सच्चाइयों का दर्पण ही नहीं, आन्तरिक जीवन का परिदर्शक भी है। इस दृष्टि से 'डायरी' लेखन की सच्ची प्रविधि की तुलना 'एम्स-रे' से की जा सकती है। कमलेश्वर ने राकेश की 'डायरी' को उनकी 'पोस्टमार्टम रिपोर्ट' बतलाया है, किन्तु यह लेखक के

जीवन के अन्तरंग का साक्षात्कार करानेवाला साहित्यिक प्रयत्न है। कमलेश्वर ने कहा है कि राकेश ने जो किया वह सर्वविदित है, किन्तु उन्होंने जो जीवन जिया उसके ज्ञाता वे स्वयं थे। इस दृष्टि से यह 'डायरी' अनेक प्रच्छन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाली रचना के रूप में देखी जा सकती है। यह दैनन्दिनी ईमानदारी से लिखी गई है। इसमें लेखक की स्वतन्त्र और निर्बन्ध प्रतिक्रियाएँ स्वभावतः आ गई हैं। इसका स्वरूप आत्मालाप जैसा है। इसमें लेखक के आत्मसंघर्ष, वैचारिक ऊहापोह और अकेलेपन के अनेक पक्ष उभरे हैं। कमलेश्वर ने इसे 'रेगिस्तान का सफर' कहा है। उन्होंने बतलाया है कि 'कच्छ के रण' में यात्रा करते हुए उन्हें सन्नाटेपन का आत्यन्तिक अनुभव हुआ था। रेगिस्तान की निर्ममता उन्हें बेधने लगी थी। उन्हें किसी ने बताया था कि रेगिस्तान में यात्रा करनेवाले लोग एक चंग जैसा बाजा मुख में रख लेते हैं जिससे सन्नाटा और अकेलापन दूर होता है। मोहन राकेश के जीवन में बाहरी क्रिया-कलापों की आपाधापी के बावजूद आन्तरिक रिक्तता विद्यमान थी। इसे दूर करने के लिए ही उन्होंने अपनी 'डायरी' से चंग की ध्वनियों की सिद्धि की है। यह एक तरह से आत्मन् (Self) की खोज है।

राकेश 'डायरी' के लेखन और प्रकाशन के लिए तत्पर नहीं थे, किन्तु ज्ञानोदय के सम्पादक शरद देवड़ा ने उन्हें इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। देवड़ा 'डायरी' के चुनिंदा और सार्थक अंशों के संयोजन के पक्ष में थे। लेखन-क्रम में राकेश ने अपने साथ-साथ अन्य लोगों की वास्तविकताओं को भी उजागर किया है। इस दृष्टि से यह कृति एक नितान्त वैयक्तिक स्वरूप रखती है। लेखक ने बिना किसी लाग-लपेट के अपने मित्रों, प्रेमिकाओं और सामाजिक दुरावों को वर्णित किया है। इस दृष्टि से यह 'डायरी' सभ्यता की समीक्षा कही जा सकती है। इसमें लोगों के चारित्रिक वैषम्य और सामाजिक भण्डाचारों को मुक्त भाव से चित्रित किया गया है।

यह डायरी केवल सैलानी राकेश को ही सामने नहीं लाती है बल्कि उनके अध्ययन क्षेत्र और साहित्यिक पृष्ठाधार को भी प्रकट करती है। प्रकृति के विभिन्न चित्रों के साथ-साथ यहाँ मानवीय व्यवहारों के अनेक प्रसंग उपनिबद्ध हुए हैं। यह डायरी राकेश के साहित्य और व्यक्तित्व के अन्तःसूत्रों को भी उद्घाटित करती है। 01.10.1955 को राकेश ने अपने बचपन को याद करते हुए लिखा है कि उनमें हर चीज को तोड़ने की इच्छा रहती थी। हर चीज को तोड़ने की प्रवृत्ति राकेश के बचपन ही नहीं, बाद के जीवन में भी परिलक्षित होती है। प्रेम-विवाह और लेखन के क्रम में राकेश बराबर तोड़-फोड़ के अभ्यासी रहे हैं। उनकी प्रेमिकाएँ कई रही हैं और पत्नी शीला से वे तलाक लेना चाहते हैं। इसी तरह कथा-साहित्य और नाटक के क्षेत्रों में वे उथल-पुथल मचाते हैं। बचपन की यह बद्धमूल प्रकृति उनके समस्त व्यक्तित्व में प्रतिच्छायित रहती है।

राकेश अपनी 'डायरी' को केवल 'लेंस' नहीं मानते हैं जिसमें औरों की आकृतियाँ बँध जाती है। वे 'डायरी' के लेखन को चित्रकला के एक शब्द से प्रकट करते हैं। उनकी दृष्टि में यह 'डायरी' 'मोंताज' नामक चित्र-शैली के समीप है जिसमें अनेक बिखरे हुए प्रसंग समाकलित हुए हैं। इस बिखराव के बावजूद इसमें लेखकीय व्यक्तित्व और निश्चित विचारों का संग्रन्थन मिलता है।

राकेश ने बतलाया है कि उनमें घूमने और लिखने की प्रवृत्तियाँ सदैव रही हैं। यात्रा-क्रम में वे कई स्थानों, वस्तुओं और व्यक्तियों को देखते हैं तथा उन पर टिप्पणियाँ लिखते हैं। वे भोपाल की सोफिया मस्जिद का

अवलोकन करते हुए उसकी आधुनिकता पर प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। इक्वेरियम की मछलियाँ भी उनके दृष्टिपथ में आती हैं। उन मछलियों के मुँह से निर्गत ध्वनि में वे 'राम' शब्द का उच्चार सुनते है। ऐसी मछलियों को वे 'भगत मछलियाँ' कहते हैं। 'डायरी' में टिड्डियों के स्वर और मनुष्य की मुस्कान का भी आकलन हुआ है। यहाँ साँपों और सपेरों की भी चर्चा मिलती है। साँपों, सपेरों, कुत्तों और मेहमानों की चर्चा इसे जीवन की सामान्यता से जोड़ती है।

राकेश की 'डायरी' चलायमान प्रकृति और लेखक की घुमक्कड़ी को ही निरूपित नहीं करती है, बल्कि कन्याकुमारी के समुद्र के सान्निध्य में घर बसाने की उनकी आकांक्षा, सांगीतिक उत्सवों की प्रियता, अध्यापकीय जीवन की विडम्बनाओं, सरकारी ठेके लेने में बाप की मदद करने वाली लड़की तथा कई तरह की दलालियों पर भी प्रतिक्रियाएँ प्रकट करती है।

डायरी में कई लड़कियों की सूरतों और विशेषताओं का वर्णन हुआ है। उन लड़कियों के नाम नहीं दिए गए हैं। 'मि' नाम की लड़की का वर्णन करते हुए राकेश ने व्यंग्यात्मक लहजे में लिखा है – "वह घुन खाए सेब सी जान पड़ती है।" उन्होंने बंसल नाम के एक ऐसे व्यक्ति का भी उल्लेख किया है जो पाठ्य-पुस्तकों के निर्धारण के क्रम में हथकंडे अपनाता है। उन्होंने आगरे के एक प्रकाशक के पोद्दार नामक एजेन्ट का भी उल्लेख किया है जो क्रेताओं से 'ऑर्डर' लेने में निपुण है। नयी कहानी के इतिहास की दृष्टि से यह 'पोद्दार' एक महत्त्वपूर्ण पात्र है जिस पर राजेन्द्र यादव की एक कहानी केन्द्रित है। राकेश की 'डायरी' में मेहमानों के निरन्तर आगमन से उत्पन्न कोफ़्त और खीझ का भी उल्लेख हुआ है। वे बतलाते हैं कि मेहमान आकर उनकी दिनचर्या में खलल ही नहीं पहुँचाते, बल्कि उधार भी माँगते हैं। शीलवश राकेश ऐसे अभ्यागतों को फटकारते नहीं हैं, बल्कि भीतर से झुँझलाते अवश्य हैं।

'डायरी' में अनेक छोटे-मोटे प्रसंग आए हैं जो राकेश की नौकरी से जुड़े हुए हैं। कॉलेज का बँधा हुआ जीवन उन्हें रास नहीं आता है। वे साथी अध्यापकों के व्यवहारों से भी असंतुष्ट हैं। कॉलेज के दोमुँहेपन की चर्चा करते हुए उन्होंने बिल्लू नाम के एक लड़के का उल्लेख किया है जो क्रिकेट खेलने में अत्यन्त निपुण है, किन्तु लड़कियों से छेड़खानी करता है। कॉलेज से उसके निकाले जाने की जब बात उठती है तो प्रशासनिक तन्त्र उसे निष्कासित नहीं करता है, सुरक्षा देता है। बिल्लू गुरुतर अपराध करने के बाद भी कॉलेज की प्रतिष्ठा बचाने के नाम पर कॉलेज में बना रहता है। यह घटना महाविद्यालय की पक्षपातवाली उस मानसिकता को प्रकट करती है जो छात्रों से डरने वाली है। राकेश ने कॉलेज में अभिनीत एक नाटक की चर्चा करते हुए अपने एक साथी शिक्षक की चुगलखोरी का जिक्र किया है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उन्हें महाविद्यालय की नौकरी पसन्द नहीं आ रही थी। वे वहाँ के जीवन को 'दलदल' से उपमित करते हैं।

राकेश के प्रेम-प्रसंग सर्वविदित हैं और पूर्व पत्नी से उनके तलाक की कथा भी लोगों को ज्ञात है। उन्होंने अपनी 'डायरी' में वैवाहिक द्वन्द्व की चर्चा करते हुए स्त्री के प्रति जो कटु उद्गार प्रकट किया है वह उनके मानसिक संघर्ष का परिचायक है। 26.01.57 की 'डायरी' (पृ. 35) में उन्होंने नारी-जाति के प्रति जो कटूक्ति की है वह

उनके जीवन-दर्शन से मेल नहीं खाती है। इसे हम उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया कह सकते हैं। 'डायरी' से पता चलता है कि राकेश की रुचि संगीत में भी थी। उन्होंने जालंधर के एक उत्सव का जिक्र करते हुए पंकज मलिक, सुबलक्ष्मी और त्यागराज का उल्लेख किया है। उस उत्सव में सम्मिलित संगीतकारों की उपस्थिति उन्हें आश्वस्ति प्रदान करती है, किन्तु शिक्षा-मंत्री को घेरे हुए चापलूस उन्हें दयनीय जान पड़ते हैं।

'डायरी' में जीवन और साहित्य के कुछ ऐसे सूत्रों की भी हमें प्राप्ति होती है जिनसे राकेश की मनोरचना की आधुनिकता का परिज्ञान होता है। वे 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' जैसे शब्दों की अवधारणा का विरोध करते हैं उन्होंने 13.06.53 की 'डायरी' में (पृ. 53) लिखा है कि पुराने के नाश के बिना नये की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। वे शाश्वत कोटि में आने वाले मूल्यों का तिरस्कार करते हैं। उन्हें यह अभीष्ट नहीं है। वे विकास के पक्षधर हैं। फूल का दृष्टान्त देते हुए उन्होंने विकास की व्याख्या की है। जिस तरह पुष्प उत्तरोत्तर विकसित होकर सौन्दर्य का प्रसार करता है उसी तरह व्यक्तित्व भी निरन्तर गतिशील रहकर सौन्दर्य की प्राप्ति करता है। उनका वह विचार साहित्य और जीवन में गतिशीलता को महत्त्व देता है।

प्रकृति और उसके रंगों के वैविध्य के प्रति राकेश का आकर्षण उनकी 'डायरी' में यत्र-तत्र लक्षित होता है। उनका कहना है कि धरती से उठा बादल आसमान से बरस कर पृथ्वी के महत्त्व को व्यक्त करता है। इसी तरह प्राकृतिक जीव-जन्तु अपने रंगों को प्रकृति से एकाकार करते हैं। यह रक्षा की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि बृहत्तर जीवन से जुड़ने की नैसर्गिक आकांक्षा है। राकेश जीवन के राग-तत्त्व के प्रति हार्दिक लगाव का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में आकर्षण जीवन का ही पर्याय है। इससे कटकर जिया नहीं जा सकता है। अपने इस राग-दर्शन को वे एक सूत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं – "जीवन का न्याय आकर्षण में है और जो आकर्षण तुम्हें खींचे उसकी ओर खिंचे चले जाओ।"

जीवन और उसकी प्राकृतिक गति के प्रति राकेश में सहज निष्ठा दिखाई पड़ती है। अध्यापकीय जीवन में घंटियों से बँधना उन्हें अप्राकृतिक जान पड़ता है। वे यदि 'नौकरी की तौक' से छुटकारा चाहते हैं तथा न्याय-संहिता में निर्धारित फाँसी की सजा का विरोध करते हैं तो यह जीवन की सहजता की ही स्वीकृति है।

'डायरी' में यत्र-तत्र कुछ सामाजिक चित्र भी मिलते हैं। उन्होंने पृष्ठ 47-48 में मालिश करनेवाले और उसके महँगे शुल्क की चर्चा की है। इसी तरह उन्होंने अछूत लड़के और जाट लड़की के विवाह से उत्पन्न सामाजिक सवाल को उठाया है। उन्होंने बतलाया है कि असहिष्णु समाज प्रेमी और प्रेमिका को मरवा डालता है। यह भारतीय लोकजीवन का कठोर यथार्थ है जिसे बैलौस होकर राकेश ने वर्णित किया है।

राकेश की 'डायरी' में कतिपय साहित्यकारों और उनकी रचनाओं के भी सन्दर्भ मिलते हैं। उन्होंने पृ. 43 पर नरेश मेहता, फणीश्वरनाथ रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, श्रीपत राय और अमृत राय की चर्चा की है। उन्होंने दुष्यन्त कुमार की मुसलमान प्रेमिका का जिक्र करते हुए एक नया रहस्योद्घाटन किया है। इलाहाबाद में उनसे अमरकान्त और शेखर जोशी की मुलाकात हुई है जिनके उचित गिले-शिकवे को उन्होंने प्रस्तुत किया है। ये दोनों प्रगतिशील

लेखक प्रयाग के 'परिमल' की परिधि से बाहर हैं, किन्तु उन्हें 'परिचय' नामक प्रगतिवादियों के साहित्यिक संगठन का भी संरक्षण प्राप्त नहीं है। कमलेश्वर, मार्कण्डेय और दुष्यन्त की सहानुभूति अमरकान्त और शेखर जोशी को सम्प्राप्त नहीं है। यह आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अंदरूनी राजनीति का लेखा-जोखा है।

कई साहित्यकार नयी कहानी पर एक ग्रन्थ की योजना बनाते हैं जिससे राकेश को मानसिक संतोष प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में वे अश्क, कमलेश्वर और मार्कण्डेय को याद करते हैं। चूँकि वे स्वयं नयी कहानी से सम्बद्ध हैं और उसके समर्थन का वातावरण बनाना चाहते है अतः ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन की योजना उन्हें अच्छी जान पड़ती है। साहित्यकारों के दोषों को दबाने में राकेश की रुचि नहीं है। वे बेपेंदे के लोटे जैसे साहित्यकारों पर पृ. 54 में व्यंग्य करते हैं। इसी तरह पृ. 55 पर वे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के पुत्र नीलाभ की निन्दा करते हैं।

कुछ साहित्यकारों की रचनाओं पर राकेश की अच्छी-बुरी टिप्पणियाँ 'डायरी' में दर्ज मिलती हैं। उन्होंने अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' नामक उपन्यास की पृ. 37 पर प्रशंसा की है, किन्तु उन्होंने सत्येन्द्र शरत की 'कुहासा और किरण' नामक पुस्तक की कहानियों की कमियों को दर्शित किया है। पृ. 50 पर उन्होंने सत्येन्द्र शरत की 'कागजी नींबू' शीर्षक एक अच्छी कहानी की तुलना में 'कुहासा और किरण' की रचनाओं को दुर्बल माना है।

यह 'डायरी' राकेश की चित्तवृति के कई पहलुओं को उद्घाटित करती है। वे पृ. 43 पर शीला के पिता अपने श्वसुर नवरत्नजी की निन्दा करते है और पृ. 59 पर स्त्री-पुरुष के शारीरिक सान्निध्य को वांछनीय बतलाते हैं। पृ. 56 और 58 पर वे बख्शी नामक व्यक्ति के 'परवर्शन' या मनोविकार की चर्चा करते हैं और पृ. 53 पर पुष्पा नाम की लड़की की पिटाई करने वाले लड़के की भर्त्सना करते हैं।

यों तो पृ. 54 पर उनकी यह टिप्पणी मिलती है कि कोई मूल्य महान् नहीं होता है, किन्तु वे अपनी माँ के शील से अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। 'आर्द्रा' शीर्षक कहानी में राकेश ने जिस माँ का चित्र खींचा है वह उनकी वास्तविक माँ ही है। डायरी के पृ. 58 पर उन्होंने अपनी माँ के शील-गुणों की प्रशंसा की है। इस तरह उनकी 'डायरी' का यह पक्ष मानवीय मूल्यों से विच्छिन्न नहीं है।

'डायरी' के लेखन में घटनाओं और वर्णनों का तारतम्य नहीं होता है। उसमें स्फुट अभिव्यक्तियाँ पाई जाती हैं। वैचारिक एकसूत्रता उसके स्थापत्य में नहीं है। इस दृष्टि से साहित्य की यह विधा फूलझड़ियों जैसी दिखाई पड़ती है किन्तु राकेश की 'डायरी' बेतरतीब होकर भी उनके व्यक्तित्व के मेरुदण्ड पर निर्भर है, अतः उसमें वैचारिक एकसूत्रता की अनुपस्थिति नहीं है।

### 3.3.6. पाठ-सार

मोहन राकेश ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत से ही डायरी-लेखन प्रारम्भ कर दिया था। अपने आस-पास की ज़िंदगी अपने मित्रों साहित्य की गतिविधियों आदि सब की चर्चा उन्होंने अपनी 'डायरी' में की है।

'मोहन राकेश की डायरी' उनकी पत्नी अनिता राकेश के सम्पादन में लेखक के देहान्त की कई वर्षों के बाद छपी थी। यह डायरी मोहन राकेश के विस्तृत अध्ययन क्षेत्र और साहित्यिक पृष्ठाधार और मानवीय व्यवहार को प्रकट करती है।

## 3.3.7. बोध प्रश्न

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. कमलेश्वर ने राकेश की 'डायरी' को क्या कहा है ?
   (क) रेगिस्तान का सफर
   (ख) जीवन का ब्योरेवार वर्णन
   (ग) अनुभव की सच्चाई
   (घ) इनमें से कोई नहीं

   सही उत्तर (क)

2. राकेश की 'डायरी' में उनकी किस बाल प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है ?
   (क) तोड़फोड़ की प्रवृत्ति
   (ख) सौन्दर्यप्रियता
   (ग) व्यंग्यवृति
   (घ) इनमें से कोई नहीं

   सही उत्तर (क)

3. 'डायरी' में किन प्रगतिशील लेखकों के प्रति 'परिचय' नाम की संस्था की उपेक्षा का वर्णन हुआ है ?
   (क) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
   (ख) अमरकान्त और शेखर जोशी
   (ग) सत्येन्द्र शरत
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

   सही उत्तर (ख)

4. परिवार के किस सदस्य के प्रति मोहन राकेश ने उत्कट आत्मीयता का उल्लेख किया है ?
   (क) पत्नी
   (ख) माँ
   (ग) पिता
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

   सही उत्तर (ख)

5. 'डायरी' में किस रचना की प्रशंसा की गई है ?
   (क) कुहासा और किरण

(ख) बूँद और समुद्र
(ग) गिरती दीवारें
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

सही उत्तर (ख)

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. क्या राकेश की 'डायरी' को दैनन्दिनी या रोजनामचा कहा जा सकता है ?
2. राकेश की 'डायरी' में किन रचनाओं की प्रशंसा की गई है ?
3. राकेश की डायरी में कॉलेज के बिल्लू नाम के लड़के पर क्या टिप्पणी की गई है ?
4. महाविद्यालय के जीवन के प्रति राकेश का क्या दृष्टिकोण है ?
5. राकेश की डायरी में शीला से उनके तलाक का क्या जिक्र हुआ है ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. 'डायरी' विधा की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. राकेश के पूर्व हिन्दी में किन लोगों ने 'डायरी' की विधा का प्रयोग किया है ?
3. साहित्य और इतिहास की दृष्टि से 'डायरी' की क्या उपयोगिता है ?
4. राकेश की 'डायरी' में शाश्वत और चिरन्तन के प्रति क्या धारणा है ?
5. राकेश के व्यक्तित्व के दर्पण के रूप में उनकी 'डायरी' का आकलन कीजिए।

## 3.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मोहन राकेश की 'डायरी', मोहन राकेश, राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
2. मोहन राकेश, प्रतिभा अग्रवाल, साहित्य अकादेमी, दिल्ली
3. हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. हिन्दी गद्य की प्रवृतियाँ, (सं.) नलिनविलोचन शर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/

❖❖❖

## खण्ड – 3 : विविध गद्य-रूप – 2

## इकाई – 4 : रिपोर्ताज : बूढ़ी बामणी – सत्यनारायण

**इकाई की रूपरेखा**

3.4.00. उद्देश्य कथन
3.4.01. प्रस्तावना
3.4.02. रिपोर्ताज का अर्थ
3.4.03. रिपोर्ताज और रिपोर्ताज लेखक की विशेषताएँ
3.4.04. विधा के रूप में रिपोर्ताज की प्रारम्भिक स्थिति
3.4.05. रिपोर्ताज का संक्षिप्त इतिहास
3.4.06. बूढ़ी बामणी : भाव सौन्दर्य
3.4.07. बूढ़ी बामणी : भाषा और शिल्प सौन्दर्य
3.4.08. बूढ़ी बामणी : मूल्यांकन
3.4.09. शब्दावली
3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.4.11. बोध प्रश्न

### 3.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप प्रसिद्ध साहित्यकार सत्यनारायण द्वारा लिखित रिपोर्ताज 'बूढ़ी बामणी' का अध्ययन करेंगे। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. रिपोर्ताज का अर्थ, रिपोर्ताज व रिपोर्ताज लेखक की विशेषताओं आदि की जानकारी प्राप्त करेंगे।
ii. रिपोर्ताज की प्रारम्भिक स्थिति और इतिहास की जानकारी हासिल करेंगे।
iii. रिपोर्ताज 'बूढ़ी बामणी' के भाव-बोध और भाषा शैली को जानेंगे।
iv. रिपोर्ताज लेखक की वैचारिक दृष्टि को समझते हुए रिपोर्ताज 'बूढ़ी बामणी' की विशेषताओं से परिचित होंगे। साथ ही उसका मूल्यांकन कर सकेंगे।
v. रिपोर्ताज, रिपोर्ट से निकलकर कब और कैसे रिपोर्ताज की श्रेणी में आ खड़ा होता है, यह समझने का प्रयास करेंगे।

### 3.4.01. प्रस्तावना

रिपोर्ताज हिन्दी गद्य साहित्य का एक रूप है। रिपोर्ताज में रिपोर्ट की विशेषताएँ तो होती ही हैं जैसे तथ्य, प्रमाण, सत्य, यथार्थ आदि। लेकिन उस रिपोर्ट को गहन संवेदना के साथ इस तरह लिखना होता है कि पाठक उसे पढ़ते हुए उसमें वर्णित पात्रों की पीड़ा और दर्द के साथ एकाकार हो जाए। आँखों के सामने वर्णित परिवेश साकार

हो उठे। यह तभी सम्भव है जब लेखक घटना-स्थल पर खुद उपस्थित हो। और उसने चीजों को बारीकी से देखा हो। रिपोर्ताज कैमरे से आगे बढ़कर काम करता है। जो दिखता है उसके साथ ही जो पृष्ठभूमि में छिपा है उसे भी दिखाता और बताता है। रिपोर्ताज की खूबी यह होती है कि जब वह पढ़ा जा रहा होता है तब एक चलचित्र-सा आँखों के सामने चल रहा होता है। उस समय पाठक के भीतर दुःख और पीड़ा की लहरें उठती हैं। वह स्तम्भित रह जाता है, सुन्न हो जाता है। वह पीड़ितों के दर्द को अपना समझकर उनके दुःख में शामिल हो जाता है। वह रोमांचित होता है और सिहरता है। अगर रिपोर्ताज पढ़कर ऐसा हो रहा है तभी रिपोर्ताज रिपोर्ताज है। वरना वह कोरी रिपोर्ट है।

रिपोर्ताज की बात करते हैं तब आँखों देखी घटना, सचाई, संवेदना, उत्साह, सजीव, सरस, सामयिक, चित्र और आत्मीयता जैसे शब्द उभरकर सामने आते हैं। रिपोर्ताज काल्पनिक नहीं सामाजिक और सोद्देश्य होता है। वह असहनीय स्थितियों से उपजी उठा-पटक से निकलता है। अतः वह लोकहृदय को प्रभावित करने में सक्षम होता है। रिपोर्ताज में पाठक की रुचि होती है क्योंकि वह उसके देखे, भोगे और जाने-पहचाने समय की बात करता है। इसीलिए वह अधिक विश्वसनीय भी होता है।

## 3.4.02. रिपोर्ताज का अर्थ

'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। इसका निकटस्थ रिश्ता अँग्रेजी शब्द 'रिपोर्ट' से है। मोटे तौर पर कहें तो किसी घटना विशेष का तटस्थ और शुष्क वर्णन 'रिपोर्ट' है। अर्थात् जैसा आँखों ने देखा वैसा हाथ ने लिख दिया।

रिपोर्ताज का जन्म विषम परिस्थितियों में हुआ है, यथा – अकाल, बाढ़, युद्ध आदि। इसी कारण रिपोर्ताज को 'सांसारिक और मानवीय संकटों का सिस्मोग्राफ' और 'यथार्थ का डोक्यूमेंटेशन' भी कहा गया है।

जब कोई रिपोर्ट अतिरिक्त समय और कलात्मकता, गहन संवेदना, साहित्यिकता लिए मानवीय मूल्यों की वाहक बनती है तब वह रिपोर्ताज कहलाती है। लेखक त्रासद घटनाओं के कारण उत्पन्न स्थितियों से जूझते-लड़ते लोगों को अपनी आँखों से देखकर करुणा की स्याही में कलम डुबाकर पन्नों पर इस तरह उतार लाए कि एक बारगी चित्रकार भी सोचे कि काश, मैं अपनी तूलिका से इसे चित्र रूप में बाँध सकता, तब 'रिपोर्ट', 'रिपोर्ताज' बन जाती है। रिपोर्ट की आँखों में जब संवेदना का जल तैरने लगता है तब शुष्क वर्णन की दीवार फाँदकर जीवन्त दुनिया का हिस्सा बनकर वह रिपोर्ट, रिपोर्ताज बन जाती है।

'रिपोर्ताज' यानी घट रही घटना या घटनाओं का सरस और सजीव चित्रण। घटनाओं के वर्णन में हल्दी जितनी आत्मीयता, नमक जितनी संवेदना, जीरे जितनी मानवता, धनिये जितनी जीवन्तता और तेल जितनी तथ्यात्मकता होती है। कोई रिपोर्ट पढ़कर पाठक को लगे जैसे वह घटनास्थल पर पहुँच गया है और वहाँ का समूचा वातावरण उसकी आँखों के सामने आ जाए, पाठक को सोचने के लिए विवश करे, भावुक करे, दिल को छू

जाए, गुस्सा दिलाए, आक्रोश या करुणा के भाव जगाए, कुछ कर गुजरने का हौसला दे, बेहतर मनुष्य बनने के लिए प्रेरित करे तो वह 'रिपोर्ट' अनायास ही 'रिपोर्ताज' बन जाती है।

बिना काल्पनिक बेल-बूटों के घटनाओं को घटित होते हुए उसी स्थिति में दिखाना जिसमें वे घटित हो रही हैं रिपोर्ताज है। जैसे नवजात शिशु अपनी प्राकृतिक अवस्था में होता है, अपनी समूची मासूमियत, भोलेपन, पवित्रता, अछूतेपन और मौलिकता के साथ। रिपोर्ताज के विषय में अरुण प्रकाश की मानें तो "एक तरह से कहा जा सकता है कि यह अन्तर्वस्तु का तात्कालिक एवं प्रथम पुरुष जैसा वक्तव्य होना चाहिए। (गद्य की पहचान, पृष्ठ 175 )

डॉ॰ हरिमोहन 'रिपोर्ताज' को परिभाषित करते हुए कहते हैं – "रिपोर्ताज कथेतर गद्य का वह विवरणात्मक घटना-प्रधान साहित्यिक रूप है, जिसमें किसी घटना का तथ्यपरक एवं मानवीय सरोकारों से युक्त प्रभावपूर्ण विवरण दिया जाता है। इस विवरण में लेखक का निजी दृष्टिकोण सक्रिय रहता है और जनता के प्रति सच्चा प्रेम भी।" (साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ.281)

हिन्दी के बड़े आलोचक मोहनकृष्ण बोहरा कहते हैं कि "रिपोर्ताज वह घटना प्रवाह है जिसका लेखक स्वयं प्रेक्षक होता है। वह उसे घटित होते हुए देख रहा होता है। यह पत्रकारी रिपोर्टिंग नहीं प्रत्युत साहित्यिक रिपोर्टिंग होती है। क्योंकि यहाँ जो आप देख रहे हैं उसके पृष्ठभूत क्या हैं और वे स्थितियाँ क्यों बनीं, यह सन्दर्भ भी साथ में जुड़ेगा। तब जो रचना बनेगी वो रिपोर्ताज कहलाएगी। रिपोर्ताज आगे के लिए रास्ता बन्द नहीं करता। इसमें यह सूचित नहीं होता कि दंगा या अकाल समाप्त हो गए। क्योंकि ये कभी समाप्त नहीं होते। यहाँ संभावित पक्ष भी संकेतित रहता है।" कहने का आशय यह है कि आँखों के सामने घट रही घटनाओं या अनवरत यातनाओं के सिलसिलों की रिपोर्ट जब तथ्यात्मक विश्लेषण के साथ विस्तृत आकार लेते हुए मार्मिक, सजीव और सार्थक वर्णन द्वारा पाठक के हृदय पर यूँ दस्तक दे कि लगे जैसे दस्तक से पहले ही दरवाजा खुल गया, तब समझो कि वह रिपोर्ताज है।

### 3.4.03. रिपोर्ताज और रिपोर्ताज लेखक की विशेषताएँ

रिपोर्ताज विशाल जन समुदाय की चेतना और उसके संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए यह 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में नहीं बल्कि 'कला समाज के लिए' सिद्धान्त में विश्वास करता है। यहाँ कला है लेकिन कला के लिए नहीं, बल्कि समाज के लिए है।

रिपोर्ताज का नाता यथार्थ से कभी नहीं छूटता। रिपोर्ताज जीवन की अँगुली थामे धरती पर चलता है। रिपोर्ताज में जीवन ऐसे धड़कता है जैसे मानव शरीर में हृदय। रिपोर्ताज लेखक में कल्पना शक्ति कम या अधिक हो सकती है पर लेखक का संवेदना-रहित होना स्वीकार्य नहीं। उसमें संवेदना, भावना, करुणा होती है। रिपोर्ताज में इनकी स्थापना के प्रति आग्रह होता है। रिपोर्ताज लेखक की भावना, ममता और झुकाव सदा पीड़ित पक्ष की ओर रहता है। यानी वह पक्षधर होता है। उसके वर्णन में विषयानुसार मार्मिकता और चित्रात्मकता होती है। वह

घटना, बात, दृश्य, वातावरण को हू ब हू चित्रित करता है। वह हिंसा, युद्ध, शोषण, अकाल पर लिखता है। आँसू, रोमांच, आक्रोश और भूख को लिखता है और इसके साथ ही इनके कारणों पर भी रोशनी डालता है, उन कारणों पर जो महामारी या दुर्भिक्ष या युद्ध के लिए जिम्मेदार थे। अपनी बात को पुख़्ता ज़मीन देने के लिए वर्तमान के साथ ही उसके अतीत को खँगालता है और भविष्य में आने वाले उसके परिणामों की तरफ इशारा करता है। रांगेय राघव की रिपोर्ताज पुस्तक 'तूफानों के बीच' जो 1943 के बंगाल के दुर्भिक्ष पर लिखी गई है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसमें भुखमरी, महामारी के प्रकोप और उससे उपजी विवशता और लाचारी का मार्मिक चित्रण है। और उन कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है जिनकी बदौलत वह अकाल पड़ा, निरीह लोग मरे। अपनी तथा परिवार के पेट की भूख के लिए स्त्रियाँ अपने शरीर बेचने तक के लिए तैयार थीं जबकि सामान्य दिनों में वे ऐसा कभी सोच भी नहीं सकती थीं।

जब हम 'रिपोर्ताज' का 'रिपोर्ट' से अनन्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो क्या, कहाँ, कब, कैसे, क्यों जैसे सवालों से बच नहीं सकते। क्योंकि रिपोर्ट के लिए ये लगभग अनिवार्य प्रश्न हैं जिनके उत्तर उसमें समाहित होते हैं। रिपोर्ताज के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण यह होता है कि ये सवाल और इन सवालों के जवाब कितने साहित्यिक हैं या कितने कलात्मक हैं। वे पाठक के हृदय को छूने में सक्षम हैं कि नहीं। लेखकीय करुणा, संवेदना की गहराई और उपयुक्त शब्दों का योग ही वह बिन्दु है जहाँ से रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र से निकल कर साहित्य की दुनिया में प्रवेश पाता है। साहित्यिक दुनिया में आते ही उसका कद पहले से और बढ़ जाता है। जो पत्रकार था अब वह साहित्यकार कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

रिपोर्ताज में वैश्विक, राष्ट्रीय, महानगरीय, नगरीय, ग्रामीण और स्थानीय मुद्दे हो सकते हैं। हिंसा, युद्ध, शोषण, अकाल के साथ ही उत्सव, मेले, खेल आदि भी रिपोर्ताज के विषय बनते हैं। रिपोर्ताज के केन्द्र में समूह हो सकता है तो व्यक्ति भी। वह स्त्री या स्त्रियों की बात कर सकता है तो बच्चे या बच्चों की भी। रिपोर्ताज लेखक किसी भी विषय पर कलम चला सकता है बशर्ते उसकी कलम में करुणा की स्याही हो। वह सच की ज़मीन पर खड़ा हो। और कोई ऐसी घटना घटी हो जिस पर बात न करने से बात बनती नहीं हो। क्योंकि वह बहुत से लोगों को गहरे प्रभावित करने वाली है या आहत करने वाली।

रिपोर्ताज लेखक खुरदरे और नुकीले वर्तमान का चितेरा होता है। जिस वर्तमान को वह लिखता है एक दिन वह इतिहास बन जाता है। लेकिन यह इतिहास परम्परागत इतिहास से भिन्न होता है। इस इतिहास में राजा-महाराजाओं के शक्ति-प्रदर्शन, विजय-गाथाएँ, एशो-आराम का चटखारेदार वर्णन नहीं होता बल्कि दबे, कुचले, पीड़ित, कमजोर व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की विवशताओं और जिजीविषाओं और उसके संघर्षों की तरल कहानी होती है। वह मानवीय दृष्टिकोण से वर्तमान का इतिहास लिखता है। रिपोर्ताज लेखक में थोड़ा-सा कथाकार, थोड़ा-सा पत्रकार, थोड़ा-सा रेखाचित्रकार समाया होता है। रिपोर्ताज लेखक में जन साधारण के दुःख-दर्द को महसूस करने की क्षमता होती है। उसकी दृष्टि चीजों को सूक्ष्म, सजग और गहराई से देखती है।

रिपोर्ताज लेखक के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है वह 'घर घुस्सू' नहीं होता। यात्राओं में उसका मन रमता है। दुनिया में घटने वाली छोटी-बड़ी घटनाओं को रुचि लेकर देखता, सुनता और पढ़ता है। वह वर्तमान में जीता है। यद्यपि रिपोर्ताज में कल्पना के लिए जगह नहीं होती तथापि रिपोर्ताज लेखक कल्पनाशील होता है। जिसकी बदौलत वह अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को रिपोर्ताज के रूप में गूँथने में सफल होता है। रिपोर्ताज लेखन जितना सरल लगता है उतना होता नहीं है। रिपोर्ताज लेखक अपने 'कंफर्ट जोन' से बाहर निकलता है। उसे खतरों का सामना भी करना होता है। धर्मवीर भारती ने युद्ध-क्षेत्र में जाकर रिपोर्टिंग की। रांगेय राघव अकाल और महामारियों से पीड़ितों के साथ रहे। बाबू गुलाब राय ने अपनी पुस्तक 'काव्य के रूप' में लिखा भी है कि – "रिपोर्ताज में लेखक के हृदय का निजी उत्साह रहता है। और लेखक कलम का शूर होने के साथ ही साहसी तथा वीर भी होता है।"

### 3.4.04. विधा के रूप में रिपोर्ताज की प्रारम्भिक स्थिति

मनुष्य अपनी बात, विचार और भावों को कई तरह से व्यक्त करता आया है। कभी पद्य के माध्यम से तो कभी गद्य के। कभी गीतों के द्वारा तो कभी बोलचाल की भाषा में। पहले रामायण-महाभारत काल में जहाँ पद्य की प्रधानता थी वहीं आधुनिककाल में गद्य अधिक लिखा जा रहा है। गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, एकांकी खूब लिखे गए और उन पर बात भी बहुत हुई। इस दौरान रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्त, पत्र, साक्षात्कार, रिपोर्ताज आदि कथेतर विधाओं पर भी काम हुआ लेकिन आनुपातिक दृष्टि से विचार कम हुआ। पर अब स्थितियाँ बदल रही हैं। इन सब विधाओं पर काम हो रहा है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ इन कथेतर विधाओं को स्थान दे रही हैं।

प्रारम्भ में तो रिपोर्ताज को साहित्य ही नहीं माना गया था। तभी तो भीष्म साहनी ने रिपोर्ताज और निबन्ध का तुलनात्मक वर्णन करते हुए रिपोर्ताज को वास्तविकता का बोध कराने वाला कहा। और उसकी साहित्यिक विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए बड़ी पीड़ा के साथ कहा कि "क्या ये बेइनसाफ़ी नहीं कि ललित निबन्ध अथवा निबन्ध को तो हम साहित्य मानें पर रिपोर्ताज को साहित्य नहीं मानें ?" (साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित सेमिनार में भीष्म साहनी द्वारा पढ़ा गया पर्चा, 1987, गद्य की पहचान, अरुण प्रकाश, पृष्ठ 167)

### 3.4.05. रिपोर्ताज का संक्षिप्त इतिहास

रिपोर्ताज का जन्मदाता द्वितीय विश्वयुद्ध को माना गया है। अमेरिका, रूस, चीन के युद्धों में हुई जन-हानि, घायलों की कारुणिक स्थितियों की रिपोर्ट या समाचार युद्ध-स्थल से साहित्यकार, पत्रकार पत्र-पत्रिकाओं को भेजते थे। वे रिपोर्ट या समाचार बहुत भावुक और हृदयस्पर्शी होते थे। उनमें आँखों-देखा हाल रहता था, बिना किसी लाग-लपेट या टीम-टाम के। युद्ध की विभीषिका को उजागर करती युद्ध-विरोधी रिपोर्ट या समाचारों में लेखकों के हृदय की पीड़ा भी झलकती थी। ऐसे में वे समाचार या रिपोर्ट मात्र रिपोर्ट या समाचार नहीं रह गए थे बल्कि रिपोर्ताज बन गए थे।

हिन्दी में रिपोर्ताज-लेखन की शुरुआत शिवदानसिंह चौहान के रिपोर्ताज 'लक्ष्मीपुरा' से मानी जाती है जो 'रूपाभ' नामक पत्रिका में सन् 1938 में प्रकाशित हुआ। बाद में 'मौत के खिलाफ ज़िंदगी की लड़ाई' 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। रांगेय राघव का रिपोर्ताज 'अदम्य जीवन' 'विशाल भारत' में सन् 1944 में छपा। बाद में इनके रिपोर्ताजों की पुस्तक 'तूफानों के बीच' सन् 1946 में आई। फिर तो हिन्दी में रिपोर्ताज लेखकों की एक लम्बी कतार लग गई। प्रकाशचन्द्र गुप्त (बंगाल का अकाल, अलमोड़े का बाजार), रामनारायण उपाध्याय (गरीब और अमीर), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (क्षण बोले कण मुस्काए), विष्णुकान्त शास्त्री (बांग्लादेश के सन्दर्भ में), डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय (पीकिंग की डायरी), फणीश्वरनाथ रेणु (ऋण जल धन जल, नेपाली क्रान्ति कथा), अमृतलाल नागर (गदर के फूल), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (रेखाएँ और चित्र), डॉ॰ प्रभाकर माचवे (जब प्रभाकर पाताल गए), शिवसागर मिश्र (वे लड़ेंगे हजार साल), विवेकी राय (जुलूस रुका है), डॉ॰ धर्मवीर भारती ('युद्ध यात्रा' तथा 'युद्ध क्षेत्रे मुक्त क्षेत्रें'), शमशेर बहादुर सिंह (प्लाट का मोर्चा), लक्ष्मीचन्द्र जैन ('कागज की किश्तियाँ' तथा 'नये रंग नये ढंग') अमृतराय (लाल धरती), कैलाश नारद (अगस्त क्रान्ति का रजत वर्ष), द्रोणवीर कोहली (शास्त्री भवन का पहला तल्ला), मणि मधुकर (पिछला पहाड़ा तथा सूखे सरोवर का भूगोल), कमलेश्वर (क्रान्ति करते हुए आदमी को देखना), रघुवीर सहाय (वे और नहीं होंगे जो मारे जाएँगे), नासिरा शर्मा (जहाँ फव्वारे लहू रोते हैं), उदयन शर्मा (फिर पढ़ना इसे) के अलावा भदन्त आनन्द कौसल्यायन, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, चित्रा मुद्गल आदि के रिपोर्ताजों ने रिपोर्ताज विधा को पुष्ट किया।

रिपोर्ताज के विकास में अनेक पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रूपाभ और विशाल भारत के अलावा हंस, दिनमान, ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम, धर्मयुग, नया पथ आदि पत्रिकाओं ने रिपोर्ताज छापकर इस विधा के विकास में अपना अमूल्य योगदान ही नहीं दिया बल्कि विधा के प्रति विश्वास जताया। आज साहित्य में रिपोर्ताज की चर्चा हो रही है इसका बहुत सारा श्रेय इन पत्रिकाओं को भी जाता है।

## 3.4.06. बूढ़ी बामणी : भाव सौन्दर्य

सत्यनारायण द्वारा लिखित रिपोर्ताज 'बूढ़ी बामणी' स्त्री की आकांक्षाओं, सपनों और संघर्षों की कथा है। यह कृति ग्रामीण पृष्ठभूमि पर रची गई है। सत्यनारायण के कई रिपोर्ताज ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। लेखक ने गाँवों को करीब से देखा-जाना है। यह कथा बूढ़ी बामणी के जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ ही पूरे गाँव की कहानी भी है। यह रिपोर्ताज राजस्थान के गाँव के लोगों का रहन-सहन, बाल विवाह, आस्था-विश्वास-अन्धविश्वास, परिवेश, प्रकृति, मानसिकता और स्त्री के प्रति उनकी सोच को दर्शाता है और खासकर विधवा स्त्री की स्थिति को। गाँव में पति की मौत का दोषी पत्नी को मानकर उसे प्रताड़ित किया जाता है।

अन्धविश्वास के कारण बूढ़ी बामणी का जीवन जितना नारकीय हो जाता है अन्त उतना ही दारुण हो जाता है। बूढ़ी बामणी जंगल में अकेली एक झोंपड़ी में रहती है। उसे लगता है 'खोड़ली दुनिया से तो रामा ही भला।' उसके डायन होने के बारे में गाँव में अफवाहें फैलती रहती हैं। जितने मुँह उतनी बातें। कोई कहता वह डाकण है और आधी रात को जरख की सवारी करती है। कोई कहता उसने प्रलय होने की बात कही है। कोई

कहता वह उसके सपने में आई। गाँव वालों को लगता है कि जो तेज काली-पीली आँधी चली है वह बूढ़ी बामणी के शाप के कारण ही। एक ग्रामीण सांवद्या उस आँधी में खेजड़े से गिरा तो उसे लगता रहा उस बूढ़ी बामणी के गुस्से का प्रतिफल है यह। क्योंकि उसने उसे गाली दी थी। गाँव में बच्चों को माता (चेचक) निकल आई तो सब बूढ़ी बामणी को दोषी मानते हैं। अर्थात् गाँव में जो कुछ बुरा घटित होता है उसकी ज़िम्मेदारी बूढ़ी बामणी पर डाल दी जाती है। क्योंकि वह विधवा है। इतना ही नहीं अपने पति की मृत्यु का कारण भी वही मान ली जाती है। लोगों के अनुसार विधवा औरत अशुभ होती है इसलिए उसे घर में नहीं रखा जा सकता। जवान थी तो सब लोग तंग करते थे। गाँव के किसी भी घर में कुछ भी अशुभ घटना घटती तो उसी का मुँह काला करते। उसकी झोंपड़ी पर ही सबकी गाज गिरती। इसलिए वह एक गाय के साथ जंगल में रहने लगी। रहने क्या लगी उसे पत्थर मार-मारकर गाँव-घर से भगा दिया गया।

वह जानती थी कि लोग जंगल में भी चैन से नहीं रहने देंगे इसलिए उसने अपने बारे में अफवाहों को उड़ने दिया। जीने के लिए ज़रूरी भी था यह आवरण। 'क्या' और 'क्यों' को स्पष्ट करती हुए बूढ़ी बामणी खुद कहती है "एक बार गाँव में बच्चों को चेचक निकल आई तो सबने मेरा ही नाम लिया। क्योंकि हरलाल की बहू मुझसे लड़ी, उसके चार-पाँच दिन बाद ही उसका बेटा बीमार हो गया। भगवान् जानता है उसमें मेरा कोई मतलब नहीं था पर मुझे मारा-पीटा। मेरी झोंपड़ी तोड़ दी।" और एक स्थान पर वह कहती है "थोड़े दिन पहले भूरा मिला तो मैंने कह दिया, परलय मचा दूँगी परलय। मुझे बहुत तंग कर लिया तुम लोगों ने।" और उन्हीं दिनों तेज आँधी आ गई। जब गाँव में काली-पीली आँधी चली तो दरख़्तों की डालियाँ टूट-टूटकर गिरीं। सांवद्या खेजड़े से धरती पर गिरा। आदमियों के मन में डर का भूचाल आया। भेड़-बकरियाँ अपने रेवड़ से परे आँधी के संग रूल गई। ढोर अरड़ा रहे थे। घरों में चूल्हे नहीं जले। ऐसे में लोगों ने यही कहा – "यह बूढ़ी बामणी का शाप है। उसी के कारण यह सब हो रहा है।" बूढ़ी बामणी को लगता है कि इस वहम ने ही उसकी लाज रखी वरना अब तक उसे लोग खा जाते।

सत्यनारायण अपने रिपोर्ताजों के लिए अक्सर ऐसे चरित्र चुनते हैं जो समाज की मुख्य धारा से कटे हुए, अलग-थलग होते हैं। हमारे आस-पास होते हुए भी जिनसे हमारी गहरी पहचान नहीं होती है। जिनके दुःख-दर्द से हमारा सीधे-सीधे कोई सरोकार नहीं होता है। वे पात्र जीने के लिए जद्दोजहद करते हैं। संघर्ष करते हैं। तिल-तिल मरते हैं। फिर वह चाहे भड़भूँजा कजोड़ हो या पोस्टमैन रामोत्तार। रामेसर रिक्शेवाला हो या रामसहाय फेरीवाला। हाबू कामगार हो या गणेशदास डाकौत। किशन भंगी हो या रामू ढाबे वाला। और चाहे वह बूढ़ी बामणी हो। इन सबकी दारुण व्यथा-कथा कहते हुए लेखक खुद भी उस दर्द की नदी में बहता जाता है। और उसके साथ ही पाठक भी। वह दर्द की नदी पाठक को इस तरह भिगोती है कि वह कई दिन तक उससे उबर नहीं पाता है।

सत्यनारायण के रिपोर्ताजों के पात्र पाठक को सोचने को मजबूर करते हैं कि क्या हम सचमुच ऐसे समाज में रहते हैं जहाँ मनुष्य, मनुष्य को मनुष्य मानने से ही इनकार करता है। सत्यनारायण का लेखक खुद जहाँ इन पात्रों को देख-पढ़-लिखकर उद्वेलित होता है उतना ही पाठक उसे पढ़कर होता है। और इन पात्रों के साथ स्वयं को जुड़ा हुआ पाता है। उन पात्रों की पीड़ा पाठक के दिल को छू जाती है। वह पसीजने लगता है। असहज हो जाता है। सत्यनारायण के रिपोर्ताजों की यही विशेषता है कि ये पाठक के हृदय में उथल-पुथल मचा देते हैं। क्योंकि

सत्यनारायण पात्र के अन्तर्मन की रिपोर्ट भी प्रस्तुत करते हैं। पात्र के अन्तर की तहों तक जाना, उन्हें हौले से छूना और छूकर उस एहसास को लिखना ही रचना की सार्थकता है।

बूढ़ी बामणी भी कभी युवा थी। उसके भी कुछ सपने थे। उसने भी प्रेम किया था। सुन्दर जीवन बिताने की तमन्ना के साथ। लेकिन सारे सपने टूटकर बिखर गए, घरवालों की जिद्द के सामने। घरवालों की जिद्द जीत गई लड़की के ख़्वाब हार गए। प्रेमपूर्वक जीवन नहीं जीने दिया गया। एक दिन घरवालों की पसन्द वाला जो उसका पति था वह भी मर गया। उसके बाद शुरू हुआ उसके दर्द, अपमान और यातना का सिलसिला जो जीवन के अन्त तक जारी रहा। बूढ़ी बामणी का अन्त भी भयावह है। सिहरा देने वाला है। देखें – "जब मैं उठा तब हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। रह-रहकर बादल गरज रहे थे। ज्यों-ज्यों झोंपड़ी नजदीक आ रही थी मेरा दिल धड़क रहा था। अब मैं भाग रहा था। बड़े टीले को पारकर झोंपड़ी वाले टीले पर आया तो देखा दोनों झोंपड़ियाँ गिरी पड़ी हैं। बाहर बँधी गाय रँभा रही थी। गाय को खूँटे से खोलकर वहाँ से दौड़ाया। माई वाली झोंपड़ी के एक कोने से झुककर अन्दर गया तो कुछ नहीं दिखाई दिया। दियासलाई जलाकर देखा, माई चारपाई पर चित्त लेटी थी। आँखें खुली हुई। मैंने कई आवाजें लगायीं, खूब झिंझोड़ा पर माई वैसे ही लेटी रही। "हे भगवान् ! मैं यह क्या देख रहा हूँ ?" होठों में मैं बड़बड़ाया। पहली बार मैंने प्रेम जाना और पहली बार मौत देख रहा था। मेरा दिल भारी हो उठा। गाय वाली झोंपड़ी के फूस खोंसकर माई वाली झोंपड़ी पर डाले। सारी लकड़ियाँ भी। फिर माई के पाँवों को छूकर हाथ जोड़े और झोंपड़ी को दियासलाई जलाकर दिखा दी। जब मैं वहाँ से भागा तो उजाले में थूणी पर छोटी-सी पोटली दिखाई दी। खोलकर देखा गुड़-चने थे। एक ऐसी मिठास जिसे अब मुझे जीवन-भर चबाना था। एक कड़वी सच्चाई के साथ।"

यहाँ लेखक ने जहाँ बूढ़ी बामणी के दुखद अन्त को चित्रित किया है वहीं कठिन परिस्थितियों से जूझते ग्रामीण जनजीवन को भी उजागर किया है। पाठक अन्धविश्वासों में जीते नासमझ लोगों के प्रति आक्रोश में भर उठता है और उसकी सारी सहानुभूति बूढ़ी बामणी के साथ हो जाती है। पाठक को रिपोर्ताज का यह अन्त और बूढ़ी बामणी का भी यह अन्त, रिपोर्ताज के अन्त तक ही नहीं बल्कि दिनों, महीनों तक सालता है। दुःख के सागर में डूबा पाठक मुश्किल से उबर पाता है।

बूढ़ी बामणी ने पाठक को पल भर भी अपने से दूर नहीं जाने दिया है। बल्कि पाठक को बूढ़ी बामणी अपने साथ लेकर चलती है। उसके साथ बनी रहती है। और पाठक सत्तू के साथ एकाकार हो जाता है। जब वह सत्तू के सिर पर हाथ फेरती है तब पाठक को लगता है उसके सिर पर हाथ फेर रही है। जब वह सत्तू की आँखों में देखती है तब पाठक को लगता है उसकी आँखों में देख रही है। जब सत्तू से बातें करती है तो पाठक को लगता है उससे बातें कर रही है। जब सत्तू का इंतजार करती है तब पाठक को लगता है उसका इन्तजार कर रही है। जब सत्तू के सामने रो पड़ती है तब पाठक की भी आँखें भीग जाती हैं। जब सत्तू की माई (बूढ़ी बामणी सत्तू के लिए माई है) गीत गाती है तब पाठक भी उसकी भीगी आवाज को सुनते हुए महसूस कर भीग जाता है। माई के मुरझाए चेहरे और उसके गालों में अटकते आँसुओं के धोरों में बहता हुआ पाठक माई के इतना करीब आ जाता है कि वह जान

नहीं पाता है कि वह रचना पढ़ रहा है या माई को साक्षात् अपने सामने देख रहा है। पाठक रचना के भीतर धँसता चला जाता है।

कथाकार ने बूढ़ी बामणी के रूप में डरी-सहमी हुई विधवा स्त्री का चित्र खींचा है। उसकी मनोव्यथा को उजागर किया है। बूढ़ी बामणी गाँव भर का भरोसा खो चुकी है सिवाय सत्तू के। उसके भीतर ममता भरा साफ दिल है। जब सत्तू उसके पास आता है वह उसे प्यार से बिठाती है। अपने मन की बात करती है। उसे गुड़-धाणी देती है। उसका विश्वास करती है। और अपना अन्त समय करीब आया जानकर कहती है कि मेरे जाने पर झोंपड़ी में मुझे आग लगा देना और गाय को खोलकर छोड़ देना। जब बूढ़ी बामणी कहती है 'गाय को खोलकर छोड़ देना' तब लगता है वह अपनी मुक्ति की बात भी करती है। गाय की तरह वह भी जीवन रूपी खूँटे से खुलना या छूटना चाहती है और एक दिन वह दिन आ जाता है।

जीवन की लड़ाई लड़ते हुए बूढ़ी बामणी जैसे लोग चुपचाप मर जाते हैं। किसी को पता ही नहीं चलता। किसी पर कोई असर ही नहीं होता। वह जंगल भी चुप रहता है जिसने बरसों उसे सँभाले रखा। वे टीले भी उसके जाने के साथ स्थान बदलने से ज्यादा कुछ नहीं करते। वह हवा जो कभी उसके आँसुओं की कथा लोगों को आँधी की तरह कहती-फिरती थी, शान्त हो जाती है। पाठक सोच सकता है कि गाँव वालों को जब बूढ़ी बामणी की मृत्यु की खबर लगी होगी तब वे खुश हुए होंगे। इस मौके यहाँ यही कहना मुनासिब होगा कि कभी-कभी भोले-भाले लोगों की संवेदनाओं पर अन्धविश्वास इस कदर हावी हो जाते हैं कि वे मनुष्य और मनुष्यता के अर्थ भी नहीं समझ पाते हैं। इंसान की पीड़ा को नहीं समझ पाते हैं। रोने की बात पर हँसते हैं और हँसने की बात पर रो पड़ते हैं।

आज भी अक्सर हम ऐसे किस्से सुनते रहते हैं कि फलाँ-फलाँ गाँव में औरत को डायन कहकर मार दिया गया या वह पागल हो गई। स्थितियों में सुधार हुआ है पर कितना! जाने कितनी बूढ़ी बामणियाँ आज भी हर दिन, हर रात, पल-पल मर रही हैं। उनके झोंपड़े ही नहीं, जीवन भी नष्ट हो रहे हैं। उनके चेहरे जलाए जा रहे हैं। उनकी आत्मा को ठेस पहुँचाई जा रही है। ढाणियाँ आज भी ऐसे कई चरित्रों को अपने में समेटे टीलों पर खड़ी हैं और टीले जगह बदल लेते हैं पर उन पर बने झोंपड़ों में रहने वाली बूढ़ी बामणियों की स्थिति में कोई सुधार दिखाई नहीं देता।

आधुनिक स्त्री विमर्श के नजरिए से इस रचना को देखें तो कहा जा सकता है की बूढ़ी बामणी बतौर एक लड़की पितृ-सत्ता के षड्यन्त्रों की शिकार ऐसी स्त्री है जो उसका प्रतिरोध न कर पाने के कारण असमय ही संसार से विदा हो जाती है। उसकी मृत्यु उसके जीवन से भी अधिक दर्दनाक है। वह प्रेममय जीवन जीना चाहती है पर परम्परागत सोच, रूढ़ियों और परिस्थितियों के जाल में इस तरह फँसती चली जाती है कि आखिर में उनके आगे घुटने टेकने को विवश हो जाती है। और उसके जीवन का दारुण अन्त हो जाता है। एक और खास बात कि बूढ़ी बामणी का कोई नाम नहीं है। क्योंकि समाज में एक नहीं कई पात्र, कई बूढ़ी बामणियाँ हैं जो ऐसा तिरस्कृत जीवन जीने को मजबूर हैं।

प्रो॰ माजदा असद 'गद्य की नई विधाओं का विकास' नामक अपनी पुस्तक में सत्यनारायण के रिपोर्ताजों के विषय में लिखती हैं कि – "इन रिपोर्ताजों के पात्र सहज ही हमारे बीच से उठकर बोलते नजर आते हैं। वे हमारे ही सहभागी बनने की कोशिश करते हैं। समस्त रिपोर्ताज पढ़ने पर पता चलता है कि लेखक स्वयं इन पात्रों के बीच से गुजरा है। लेखक ने यथार्थवाद की छटपटाहट को पूरी तरह से अभिव्यक्त करने की कोशिश की है।" (पृष्ठ 46)

## 3.4.07. बूढ़ी बामणी : भाषा और शिल्प सौन्दर्य

रिपोर्ताज की भाषा प्राणवान् और चित्रात्मक होती है, उबाऊ नहीं। घटना या वर्णित विषय का चित्र कुछ इस तरह सामने आता है कि लगता है जैसे घटना को पढ़ नहीं रहे बल्कि अपने सामने घटित होते हुए देख रहे हैं। और यह 'देखना' एक ही बैठक में सम्पन्न हो जाता है। यह तब सम्भव होता है जब रिपोर्ताज के केन्द्रीय भाव के अनुसार भाषा भी अपना रंग-रूप बदल लेती है। जिसके कारण लगता है जैसे परिवेश साक्षात् उपस्थित होकर अपनी कहानी खुद कह रहा है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि लेखकीय संवेदनशीलता और रचनाशीलता अपनी भाषा का खनन आप करती है। और यह खनन कार्य परिवेश और पात्रों के बीच से ही होता है। लेखक की रचनाशीलता पात्रों को छूट देती है अपनी बात अपने शब्दों में कहने की। पात्र अपनी भाषा बोलते हैं। और भाषा जब सीधे पात्रों से आ रही हो, परिवेश से आ रही हो, तब घटनाओं को उजागर करते समय लेखक का अनायास ही चित्रकार बन जाना स्वाभाविक है। लेकिन यह तब मुमकिन हो पाता है जब लेखक उन पात्रों की भाषा, पृष्ठभूमि और उनके रहन-सहन आदि से परिचित हो। अगर लेखक ने अपनी नंगी आँखों से गाँव, टीले, आँधियों को चलते हुए, पेड़ों को टूटकर गिरते हुए न देखा होगा तो चित्रात्मक वर्णन अगर असम्भव भी नहीं तो भी कठिन ज़रूर होता है।

'बूढ़ी बामणी' का लेखक बूढ़ी बामणी के साथ ही, उसके गाँव से परिचित है और वहाँ के खेत-खलिहानों से भी उसका नाता है। उस भाषा से परिचित ही नहीं है बल्कि वह उसकी अपनी भाषा है। रचना में कई जगह, कई रूपों में आँधी का इतना सजीव वर्णन है कि लगता है हम सचमुच गाँव में प्रविष्ट हो चुके हैं और आँधी चल रही है। आँधी के कारण सारा जनजीवन ठप्प पड़ जाता है। आँधी और उसके परिणाम देखिए – "पर उस दिन ऐसी काली-पीली आँधी चली कि दरख़्तों की डालियाँ टूट-टूट गिरीं। देखते-देखते टीलों ने अपनी ठौर बदल ली। घरों के छप्पर उड़कर बिखर गए। खेजड़े पर लूँग तोड़ता सांवद्या धरती पर गिरा तो कई दिनों तक बुखार में तपता यही कहता रहा कि वह जिस डाल पर बैठा था, उसको गुस्से में उस डाकण ने ही तोड़ा क्योंकि उसने उसको एक बार गाली दी थी।"

एक और उद्धरण देखिए – "उस दिन सचमुच धरती में कँपकँपी चढ़ी हुई थी। उसके साथ-साथ आदमियों के भीतर भी भय का भूचाल आया हुआ था। जो जहाँ था वहीं ठहरकर मन ही मन देवी-देवताओं के रुपया सवा-रुपया चढ़ा रहा था तो कोई प्रसाद बोल रहा था और डाकण को कोस रहा था। गर्द से ढँका-ढँका सूरज जब ढलने जा रहा था तब आँधी थमी और लोग-बाग डरे-सहमे अपने-अपने ठीहे की तरफ लौटे। सब कुछ अस्त-व्यस्त था।

ढोर आँय के बाँय होकर अरड़ा रहे थे। भेड़-बकरियाँ अपने रेवड़ से परे आँधी के संग इधर-उधर रुल गईं और लोग उन्हें ढूँढ़ रहे थे। उस दिन घरों में चूल्हे नहीं जले।"

गाँव के कितने सारे बिम्ब, कितने सारे चित्र। पेड़ पर चढ़कर लूँग तोड़ता सांवद्या, पेड़ पर से गिरता हुआ सांवद्या, आँधी में जोर-जोर से हिलते और फिर गिरते हुए दरख़्त, उड़ती हुई मिट्टी और अपनी जगह बदलते हुए टीले, उड़ते हुए छप्पर जैसे ये सब घटनाएँ पाठक की आँखों के आगे घटित हो रही हों। यह तब मुमकिन होता है जब लेखक संवेदनशील और कला का पारखी हो। उसके पास उन शब्दों का खजाना हो जिनके सहारे उसे अपनी रचना को गढ़ना है और वह भी इस तरह कि रचना के पात्र खुद बोलें कि हाँ, यह हमारी भाषा है लेखक की नहीं।

प्रो॰ शम्भु गुप्त सत्यनारायण के रिपोर्ताजों की भाषा के सम्बन्ध में ठीक ही कहते हैं कि "... सत्यनारायण जिसे शब्दों और भाषा में व्यक्त करना बहुत मुश्किल होता है उसे भी कागज पर उतारने का जोखिम उठाते हैं। अव्यक्त और अमूर्त भाव-स्थितियों, मानसिकता, परिवेश को बेहद साकार और प्रभावशाली ढंग से भाषा में रच देने की सामर्थ्य सत्यनारायण के गद्य में है। सबसे बड़ी अमूर्तता होती है वातावरण में, प्रकृति में, परिवेश में और पात्रों के साथ इनकी अन्तर्सम्बद्धता में। सत्यनारायण बड़ी बारीकी से इस अन्तःसम्बन्ध को पकड़ते हैं और भाषा में उतार देते हैं।" (सत्यनारायण के रिपोर्ताज, कहानियाँ, नवंबर 1989)

ग्रामीणों के अन्धविश्वास, भोलेपन, अफवाहों, सहज रूप से दी जाने वाली गालियों और प्रकृति इस सारे ग्रामीण परिवेश को लेखक ने उन्हीं की बोली-भाषा में व्यक्त किया है, यथा –

"सुबह से आँधी चल रही थी। माँ ने डरते-डरते रोटियाँ बनायीं। "आग माता तू ही लाज राँखज्ये" चूल्हे की तरफ हाथ जोड़कर उसके चौफेर पानी की एक लकीर खींची और उसे कूँडे से ढँक दिया।"

* * *

"वह राँड डाकण पकड़ ले जाएगी।"

* * *

"आधी रात वह डोकरी जरख की पीठ पर दूसरी तरफ मुँह करके सवारी करती है जिसकी एड़ियाँ उलटी तरफ होती हैं और स्तन कन्धों से पीठ की तरफ लटके हुए।"

* * *

"ऊपर आकाश में चाँद को बादलों ने घेर लिया था। लेकिन वह सब देख रहा था।"

* * *

"मुझे अब भी अच्छी तरह याद है चाँदनी की एक फाँक दरवाजा खोलते ही उसके चेहरे पर ठिठकी तो मैं सहम गया। पीले जर्जर पत्ते-सा उसका शरीर जैसे अभी कड़-कड़ कर टूट जाएगा।"

गाँव प्रकृति के बहुत करीब होते हैं। इसीलिए उनका जीवन प्रकृति के बिना अधूरा है। लेखक ने गाँव की एक चाँदनी रात का वर्णन बड़ा सुन्दर किया है – "वह रात चाँदनी के रहस्यमय रंगों में डूबी हुई थी। परियों की कहानी-सी मोहक और प्यारी। चाँदनी में नहाते कूँचे, कैर, खींफ, आकड़े की झाड़ियाँ और इक्के-दुक्के खेजड़े के बूढ़े दरख़्त किसी मौन साधक-से खड़े थे।"

रिपोर्ताज 'बूढ़ी बामणी' में ठौर, खेजड़े, लूँग, ठीहे, रेवड़, आँय-बाँय, रामा, बघूले, डबोले, ओगाल, खोड़ली, आँधी, अरड़ा, थूणी, फूस, कूँचे, कैर, खींफ जैसे अनेक राजस्थानी शब्द आए हैं। जिनके कारण कथा प्रामाणिक, सजीव और राजस्थान की लगती है। शब्द सरल, सटीक, हृदयस्पर्शी हैं। सरल इस अर्थ में कि क्लिष्ट नहीं हैं और पाठकों तक अर्थ सम्प्रेषित कर पाने में सक्षम हैं। लेखक इन शब्दों के प्रयोग को लेकर अगर कहीं सचेत है तो भी यह सजगता कथा को विश्वसनीयता, गति और ताजगी ही देती है। सत्यनारायण की शैली अपनी अलग ही छाप छोड़ती है। उसकी अपनी अलग पहचान है।

आँधी की भयावहता को बताने के लिए जितनी आँधी की भयावहता की ज़रूरत होती है उतनी ही शब्दों की रचनात्मक शक्ति की भी। आँसू लिख देने से आँसू नहीं निकलते। प्रेम लिख देने से प्रेम का एहसास नहीं होता। मौत लिख देने से वह डरावनी नहीं हो जाती। बल्कि उसके वर्णन में इतनी ताकत होनी चाहिए कि रचना पढ़ें तो कोई शूल चुभने लगे। दर्द होने लगे। दम घुटने लगे। और शब्दों की यह ताकत, यह आन्तरिक ऊर्जा 'बूढ़ी बामणी' में देखने को मिलती है।

## 3.4.08. बूढ़ी बामणी : मूल्यांकन

विधायी दृष्टि से सत्यनारायण के रिपोर्ताजों के सन्दर्भ में राजाराम भादू का यह कथन उल्लेखनीय है कि – "सत्यनारायण ने विधा के शास्त्रीय ढाँचे की भी परवाह नहीं की। उनकी चिन्ताएँ अनछुए को छूने और व्यक्त करने की रही हैं, इसलिए ये विधा का अतिक्रमण करते हैं। रचना के लिए एक नये अनुभव संसार में प्रवेश करने वाला लेखक जब उसे शिद्दत से व्यक्त करने लगता है तो वह विधा पर ज्यादा सोच-विचार करता भी नहीं। शिल्प स्वयं कथ्य का अनुसरण करने लगता है। एक विधा की सीमाएँ टूटने लगती हैं। तो एक नयी विधा रूपाकार ग्रहण करने लगती है।" (यह एक दुनिया, सत्यनारायण) असल में विधाएँ सृजन इच्छा की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रस्तुतीकरण की शैली और उसके रचाव के आधार पर इन्हें अनेक नाम दे दिए जाते हैं। 'बूढ़ी बामणी' रिपोर्ताज 'कथाचित्र' का एहसास कराता है। रिपोर्ताज में 'घट रहा है' का वर्णन होता है और कथाचित्र में 'जो घट चुका है' का वर्णन होता है। रिपोर्ताज में गति होती है जबकि कथाचित्र में स्थिरता। लेकिन साहित्य में जितना प्रजातन्त्र है उतना कहीं और क्या होगा।

रिपोर्ताज सीधे समाज और उसकी धड़कनों से जुड़कर यह बताता है कि कला कला के लिए हो न हो पर निश्चित ही कला समाज के लिए होती है। रिपोर्ताज को पाँच ककारों – क्या, कहाँ, कब, कैसे, क्यों – के जवाब कलात्मक, साहित्यिक और संवेदनशील भाषा में इस तरह देने होते हैं कि जिससे पाठक का कोई प्रश्न अनुत्तरित न रह जाए। और उसका मन भीग जाए या उत्साहित हो उठे। उसकी आँखों से आँसू निकल आएँ या वह चमत्कृत हो उठे। इसके लिए लेखक की लेखनी में जितनी ताकत होती है उतनी ही उसके तन और मन में भी होती है। तभी तो वह युद्ध-क्षेत्र में जा सकता है। महामारी-प्रभावित इलाकों में जा सकता है। जहाँ हर क्षण जीवन पर मृत्यु का खतरा मँडराता है। उसकी इस ताकत को अगर हम 'शोषित-पीड़ित के पक्ष में खड़े होना' कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सत्यनारायण भी ऐसी ही असहाय औरत बूढ़ी बामणी के साथ खड़े हैं, जिसे दुनिया से दुत्कार मिली । लेखक ने एक बालक के रूप में उसे अपनापन और आत्मीयता दी। और उससे स्नेह पाया। सत्यनारायण बूढ़ी बामणी जैसे पात्रों को ढूँढते-खोजते ही नहीं, उनके दर्द को लिखते ही नहीं बल्कि निराशा के समय में उनसे खुद भी आत्मविश्वास के कण बटोरते हैं। वे रिपोर्ताजों की अपनी पुस्तक 'जहाँ आदमी चुप है' की भूमिका में लिखते हैं – "... जैसे चेहरों को टटोलना मेरी आदत-सी हो गई। वे चाहे फुटपाथ पर हों या श्मशान में या और कहीं। ऐसे ही खरौंच खाए लोगों के बीच मैं भटकता और उन्हें इस तरह पढ़ता जैसे दोस्तोवस्की की कोई पुस्तक। अपने दोस्तों को मैं इनके बारे में एक कहानी की तरह सुनाता तो उन्हें विश्वास नहीं होता। इनके साथ रहते हुए अनेक बार ऐसी घड़ियाँ भी आयीं, जब घोर निराशा की स्थिति में मैंने जीने के कण बटोरे और आज जो कुछ भी आत्मविश्वास जुटा पाया हूँ तो इन्हीं के बीच से।"

'बूढ़ी बामणी' पढ़कर हम जान पाते हैं कि स्त्री को इस रूढ़िवादी और अन्धविश्वासी समाज में जीने के लिए क्या-क्या ढोंग रचने पड़ते हैं। स्त्री के प्रति समाज की संवेदनहीनता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा कि एक निरपराध औरत को मौत के मुँह में धकेल रहे हैं और इसका गाँव वालों को एहसास भी नहीं है। असल में औरत को कई-कई तरह से प्रताड़ित किया जाता है शारीरिक रूप से भी और मानसिक रूप से भी। "अब मैं जाऊँगी सत्तू। तुम आओगे न। इसी झोंपड़ी में मुझे आग लगा देना और गाय को खोलकर छोड़ देना, रामे में चरती रहेगी।" कितनी वेदना हुई होगी जब बूढ़ी बामणी ने सत्तू से एक दिन यह कहा। इस कथा में कल्पना नहीं है पर यह कथा पाठक को कल्पना के लिए बहुत 'स्पेस' देती है।

'बूढ़ी बामणी' रिपोर्ताज उस समय के गाँव की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों को उजागर करता है। लेखक ने विगत को अपनी स्मृतियों में सँभालकर रखा है। लेखक ने गाँव का कैसा जीवन देखा, कैसा जीवन वह चाहता था और उसकी बाल सुलभ जिज्ञासाएँ कैसी थीं, इन सबको उजागर करता है यह रिपोर्ताज। वह गाँव को बदलते हुए देखना चाहता है जहाँ अन्धविश्वास न हों। तभी तो वह कहता है – "आज इतने सालों बाद भी यह देख आश्चर्य होता है कि अनेक हास्यास्पद अन्धविश्वासों में लिपटे लोग उनसे मुक्त होने के बजाय पीढ़ी दर पीढ़ी आज भी उन्हें सँभाले हुए हैं।"

यह समय स्त्री विरोधी है। पितृ-सत्ता बाहर से कितनी भी भली लगे और आकर्षक भी मगर भीतर से तो वह अपने नाखून सदा तराशती आई है। पुरुष मानसिकता वाला समाज सदा ही यह चाहता है कि औरत उसकी गिरफ्त में रहे। उसकी अनुचरी बनकर रहे। उसे अपना जीवन जीने का हक भी वह नहीं देता है। अपने समय की भयावहता से जूझती स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है। गाँव में न शहर में। अनपढ़ों के बीच न पढ़े-लिखों में। गरीबों में न अमीरों में। स्त्री के भीतर झाँककर देखें तो पाएँगे कि हर स्त्री कहीं न कहीं आहत है। उसके आहत होने के कारण समाज, समय, परिस्थितियों के अनुसार बदल जाते हैं। उसकी हर हँसी पर पहरा बैठा है। उसकी हर खुशी दुःख से भरी हुई है। उसकी मुक्ति मानसिक गुलामी की जंजीर में जकड़ी हुई है। पर वह जंजीर दिखती नहीं। वह दुःख दिखता नहीं। उसका शोषण हर समाज और समय में होता आया है बस उसके रूप बदल गए हैं। ऐसे में कभी-कभी लगता है स्त्री के सन्दर्भ में प्रेम, ममता, ऊर्जा, संघर्ष, सपने और उसका अस्तित्व सब फिजूल की बातें हैं। स्त्री पिसने, मरने के लिए जन्म लेती है और समाज के कुचक्रों में फँसकर एक दिन इस दुनिया से चली जाती है।

बूढ़ी बामणी मर जाती है। गाय खूँटे से खोल दी जाती है। झोंपड़ियों को आग के हवाले कर दिया जाता है। कथा का अन्त होता है। बूढ़ी बामणी का अन्त होता है पर क्या सचमुच अन्त होता है! 'बूढ़ी बामणी' में कथा का रचाव ऐसा है जिसमें हम मौन की कातर पुकार को सुन सकते हैं। जिसमें हम एक विधवा स्त्री की पीड़ा को महसूस कर सकते हैं। यह कहानी पितृ-सत्तात्मक मानसिकता और समाज में स्त्रियों की स्थिति पर रोशनी डालती है। जाने कितनी ऐसे स्त्रियाँ हैं जो मानवी होते हुए मानवीय जीवन जीने से महरूम हैं। बूढ़ी बामणी जैसी कई औरतें हैं जो नारकीय जीवन जी रही हैं। वे गाँव-गाँव और नगर-नगर में मिल जाएँगी जो मनुष्य होते हुए मनुष्य नहीं समझी जाती हैं। जो जंगली जानवरों से भी बदतर जीवन जीने को विवश हैं। शताब्दियों से स्त्री और प्रेम को समाज ने हाशिये पर डाल रखा है। बूढ़ी बामणी के सारे सपने मर गए। वह अपने प्रेमी के साथ जीवन जीना चाहती थी। नहीं जी सकी। विधवा हो गई। फिर भी उसे जीने नहीं दिया गया। वह मर गई या मार दी गई यह भी प्रश्न है। असल में तो वह जीते-जी ही मर गई थी। सपनों का मरना भी एक तरह से मरना ही है। उसका एक प्रमाण है बूढ़ी बामणी। लेकिन स्त्री है कि न प्रेम करने से बाज आती है और न ही अपनी ममता से।

'बूढ़ी बामणी' रिपोर्ताज में बूढ़ी बामणी के बहाने लेखक कमजोर लोगों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाते हुए बड़ी शिद्दत के साथ ये सवाल भी खड़े करता है कि जो प्रताड़ना और उत्पीड़न बूढ़ी बामणी का बरसों पहले हुआ क्या आज स्त्री उस सबसे मुक्त है? क्या उसकी पीड़ाओं ने भी टीलों की तरह अपनी जगहें नहीं बदल ली हैं ? क्या आज भी वह डायन कहकर नहीं मारी जा रही है ? स्त्री ही डायन होती है पुरुष क्यों नहीं ? अन्धविश्वासों का खामियाजा सदा स्त्री को ही भोगना पड़ता है, क्यों ? उसे प्रताड़ित करने वालों में गाँव के अन्धविश्वासी लोग ही नहीं उसके अपने परिवारजन भी सम्मिलित होते हैं। यह ग्रामीणों का भोलापन है या अज्ञानता या कि उनकी स्त्री के प्रति परम्परागत, संकुचित सोच! आखिर वह कौनसी व्यवस्था होगी जहाँ इंसान को इंसान समझा जाएगा! ऐसे ही अनेक सवाल खड़े करती 'बूढ़ी बामणी' मर कर भी पाठकों के हृदयों में जीवित रहेगी।

## 3.4.09. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| दुर्भिक्ष | : | अकाल। |
| रेवड़ | : | भेड़ों या बकरियों का झुण्ड। |
| ढोर | : | पशु, मवेशी। |
| अरड़ाना | : | दर्द भरी चीख। |
| थूणी | : | बल्ली, खम्भ। |
| फूस | : | सूखा तृण, तिनका। |
| खेजड़ा | : | रेगिस्तान का छोटी पत्तीदार एक कँटीला पेड़। |
| आँय के बाँय | : | इधर-उधर होना, बिखर जाना, व्यर्थ बकवास करना । |
| रुलना | : | भटकना। |
| लूँग | : | बबूल के पेड़ के पत्ते जो ऊँट, भेड़, बकरियों को चराने के काम आते हैं। |
| कड़-कड़ | : | हड्डियों के टूटने व मोड़ने से होने वाली आवाज। |
| कूँचा | : | एक प्रकार की झाड़ी जिससे छप्पर भी बनाए जाते हैं। |
| कैर | : | मरूभूमि में होने वाला एक प्रकार का पत्तेविहीन काँटेदार वृक्ष व उसका फल। इसकी सब्जी बनती है। |
| खींफ | : | एक प्रकार का जंगली मरुस्थली पौधा, जिसका तना पतला व समूह में होता है और इसके पत्तियाँ नहीं होती। इसके तने से रस्से, खाट, चटाई आदि बनते हैं। यह मकान छाने के काम भी आता है। |
| ठीया | : | स्थान, जगह। |
| रामा | : | जंगल। |
| बघूले | : | हवा का चक्र, वात-चक्र। |
| डबोले | : | आँसुओं से भरी आँखें। |
| ओगाल | : | सींगधारी पशुओं का खाए हुए चारे को फिर से मुँह में लाकर धीरे-धीरे चबाना |
| खोड़ली | : | व्यर्थ में तंग करने वाली। |
| कंफर्ट जोन | : | सुविधा क्षेत्र। |
| स्पेस | : | जगह, स्थान। |
| सिस्मोग्राफ | : | भूकम्पसूचक यंत्र। |
| डोक्यूमेंटेशन | : | प्रलेखन, दस्तावेजीकरण। |

## 3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. काव्य के रूप, गुलाब राय
2. गद्य की पहचान, अरुण प्रकाश
3. गद्य की नई विधाओं का विकास, प्रो॰ माजदा असद
4. साहित्य विविधा, डॉ॰ रमेशचन्द्र लवानिया
5. यह एक दुनिया, सत्यनारायण
6. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, डॉ॰ हरिमोहन

## 3.4.11. बोध प्रश्न / अभ्यास

### लघु उत्तरीय प्रश्न

01. रिपोर्ट कब रिपोर्ताज बन जाती है ?
02. रिपोर्ट और रिपोर्ताज का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
03. रिपोर्ताज और रिपोर्ताज लेखक की दो-दो विशेषताएँ बताइए।
04. रिपोर्ताज का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ ?
05. रिपोर्ताज की प्रारम्भिक स्थिति का उल्लेख कीजिए।
06. रिपोर्ताज और कथाचित्र में अन्तर बताइए।
07. रिपोर्ताज के विकास में किन-किन पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ?
08. कथेतर विधाओं में कौन-कौन सी विधाएँ आती हैं ?
09. बूढ़ी बामणी के किस वहम ने उसकी लाज रखी ?
10. बूढ़ी बामणी के नारकीय जीवन पर प्रकाश डालिए।
11. सत्यनारायण रिपोर्ताज के लिए किस तरह के पात्रों का चुनाव करते हैं ?
12. 'बूढ़ी बामणी' रिपोर्ताज कौन-कौन से प्रश्न उठाता है ?
13. 'बूढ़ी बामणी' रिपोर्ताज की भाषा पर पाँच वाक्य लिखिए।

### अभ्यास

1. दिये गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द के प्रयोग द्वारा निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(चित्रात्मक, सत्तू, थूणी, ढाणियाँ, अन्धविश्वासी, कँपकँपी, डोकरी, खरौंच, जीवित, सांवद्या)

(i) जब गाँव में काली-पीली आँधी चली तो दरख़्तों की डालियाँ टूट-टूटकर गिरीं। ..... खेजड़े से धरती पर गिरा।
(ii) जब मैं वहाँ से भागा तो उजाले में ..... पर छोटी -सी पोटली दिखाई दी। खोलकर देखा गुड़-चने थे।
(iii) जब ..... का इंतजार करती है तब पाठक को लगता है उसका इन्तजार कर रही है।
(iv) ..... आज भी ऐसे कई चरित्रों को अपने में समेटे टीलों पर खड़ी हैं और टीले जगह बदल लेते हैं पर उन पर बने झोंपड़ों में रहने वाली बूढ़ी बामणियों की स्थिति में कोई सुधार दिखाई नहीं देता।
(v) रिपोर्ताज की भाषा प्राणवान् और ..... होती है, उबाऊ नहीं।
(vi) उस दिन सचमुच धरती में ..... चढ़ी हुई थी। उसके साथ-साथ आदमियों के भीतर भी भय का भूचाल आया हुआ था।
(vii) आधी रात वह ..... जरख की पीठ पर दूसरी तरफ मुँह कर के सवारी करती है जिसकी एड़ियाँ उल्टी तरफ होती हैं और स्तन कन्धों से पीठ की तरफ लटके हुए।

(viii) ऐसे ही कई और प्रश्न उठाती 'बूढ़ी बामणी' मर कर भी पाठकों के हृदयों में ..... रहेगी।

(ix) 'बूढ़ी बामणी' पढ़कर हम जान पाते हैं कि स्त्री को इस रूढ़िवादी और ..... समाज में जीने के लिए क्या-क्या ढोंग रचने पड़ते हैं।

(x) ऐसे ही ..... खाए लोगों के बीच मैं भटकता और उन्हें इस तरह पढ़ता जैसे दोस्तोवस्की की कोई पुस्तक।

2. दिये गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द का उपयोग कर अधोलिखित प्रश्नों का एक शब्द में उत्तर दीजिए –

(यथार्थ का डोक्यूमेंटेशन, बाबू गुलाब राय, अरुण प्रकाश, फ्रांसीसी, रिपोर्ट, लक्ष्मीपुरा, रूपाभ, गुड़-चने, भीष्म साहनी, वर्तमान)

(i) 'रिपोर्ताज' किस भाषा का शब्द है ?

(ii) रिपोर्ताज का किस अंग्रेजी शब्द से निकट का सम्बन्ध है ?

(iii) रिपोर्ताज को 'सांसारिक और मानवीय संकटों का सिस्मोग्राफ' के साथ ही और किस नाम से पुकारा जाता है ?

(iv) "एक तरह से कहा जा सकता है कि यह अन्तर्वस्तु का तात्कालिक एवं प्रथम पुरुष जैसा वक्तव्य होना चाहिए।" उक्त विचार किस आलोचक के हैं ?

(v) रिपोर्ताज किस काल की बात करता है ?

(vi) "क्या ये बेइनसाफी नहीं कि ललित निबन्ध अथवा निबन्ध को तो हम साहित्य मानें पर रिपोर्ताज को साहित्य नहीं मानें ?" उक्त विचार किस आलोचक के हैं ?

(vii) शिवदान सिंह चौहान के पहले रिपोर्ताज का नाम क्या है ?

(viii) 'लक्ष्मीपुरा' नामक रिपोर्ताज किस पत्रिका में प्रकाशित हुआ ?

(ix) थूणी पर टँगी पोटली में क्या था ?

(x) 'काव्य के रूप' पुस्तक के लेखक का नाम बताइए।

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 4 : विविध गद्य-रूप – 3

## इकाई – 1 : साक्षात्कार : एक अपना ही अजनबी – मनोहरश्याम जोशी

**इकाई की रूपरेखा**

4.1.00. उद्देश्य कथन
4.1.01. प्रस्तावना
4.1.02. हिन्दी में साक्षात्कार का संक्षिप्त इतिहास
4.1.03. साक्षात्कार विधा की विशेषताएँ
4.1.04. साक्षात्कार के प्रकार और तरीके
4.1.05. साक्षात्कारकर्त्ता की विशेषताएँ
4.1.06. अज्ञेय का परिचय
4.1.07. मनोहरश्याम जोशी का संक्षिप्त परिचय
4.1.08. अज्ञेय का व्यक्तित्व
4.1.09. अज्ञेय के विचार
4.1.10. निष्कर्ष
4.1.11. शब्दावली
4.1.12. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.1.13. बोध प्रश्न

### 4.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप 'एक अपना ही अजनबी' का अध्ययन करेंगे। 'एक अपना ही अजनबी' हिन्दी के बड़े कवि और कथाकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का मनोहरश्याम जोशी द्वारा लिया गया साक्षात्कार है। मनोहरश्याम जोशी जाने-माने कथाकार और कई प्रसिद्ध टेलीविज़न धारावाहिकों के लेखक थे। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. साक्षात्कार विधा के अनेक रूप, स्वरूप, प्रकार, विशेषताएँ और अनेक तरीकों को जानेंगे।
ii. समझ सकेंगे कि एक साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कार-पूर्व क्या-क्या तैयारी करनी चाहिए।
iii. मनोहरश्याम जोशी द्वारा पूछे गए सवाल और अज्ञेय द्वारा दिए गए उनके जवाबों से अज्ञेय की वैचारिक दृष्टि और उनके व्यक्तित्व को समझ सकेंगे।
iv. भाषा की दुरूहता, लघु पत्रिकाओं की वर्तमान स्थिति पर अज्ञेय के विचार जानेंगे।
v. इस तथ्य से जानेंगे कि अज्ञेय कभी अपनी धारणा नहीं बदलते थे।
vi. यह जानेंगे कि अज्ञेय को क्यों लगता था कि लेखक को आत्मव्याख्या करनी पड़ती है।

vii. इस अध्ययन से इस बात का खुलासा होगा कि किसी सिद्धान्त, धर्म या राजनीति के प्रति आस्थावान् होकर लिखने वाले क्यों टूट जाते हैं।

## 4.1.01. प्रस्तावना

साक्षात्कार विधा ने पत्रकारिता से होते हुए साहित्य की दुनिया में प्रवेश पाया है । अब यह दोनों ही क्षेत्रों में अपना विशिष्ट महत्त्व और स्वतन्त्र स्थान रखती है । साहित्य में आने के बावजूद इसने अपना पत्रकारिता वाला रंग छोड़ा नहीं है। दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली सोद्देश्य बातचीत साक्षात्कार कहलाती है। साक्षात्कार का शाब्दिक अर्थ है – 'आँखों के सामने उपस्थित होना या सामने आना ।' साक्षात्कार के लिए सामान्यतया अँग्रेजी में 'इंटरव्यू' शब्द प्रयोग में लिया जाता है । हिन्दी में साक्षात्कार के लिए कई शब्द काम में लिए जाते हैं जैसे, बातचीत, भेंटवार्ता, मुलाक़ात, वार्तालाप आदि । और दूर चलें तो कभी-कभी साक्षात्कार के लिए परिचर्चा, अन्तरंगवार्ता, संवाद आदि शब्द भी काम में लिए जाते हैं। साक्षात्कार का उद्देश्य व्यक्ति और विषय को भीतर-बाहर से ज्यादा से ज्यादा जानना होता है । 'एक अपना ही अजनबी' साक्षात्कार सामान्य साक्षात्कार से कुछ भिन्न है । प्रारम्भ में शब्दचित्र का एहसास कराता यह साक्षात्कार मध्य से लेकर अन्त तक प्रश्न-उत्तर शैली में आ जाता है। कई बातों के बीच से कई बड़े काम की बातें निकल आती हैं। ऐसे लगता है जैसे मनोहरश्याम जोशी नामक चित्रकार के सामने अज्ञेय नामक पात्र बैठा था। पहले जोशीजी ने उसका चित्र बनाया और फिर उसमें जान डाली । यह साक्षात्कार मनोहरश्याम जोशी की साक्षात्कारों की पुस्तक 'बातों बातों में' में संकलित है।

## 4.1.02. हिन्दी में साक्षात्कार का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी में साक्षात्कार विधा बहुत पुरानी नहीं है । डॉ॰ नगेन्द्र के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अनुसार हिन्दी में साक्षात्कार की शुरुआत भारतेन्दु युग से मानी जाती है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने साहित्यिक प्रश्न पूछे थे। और फिर उन प्रश्नों तथा उनसे प्राप्त उत्तरों को लिपिबद्ध कर के प्रकाशित भी करवाया था । द्विवेदी युग में हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने प्रख्यात संगीतकार दिगम्बर पुलस्कर से भेंट कर संगीत विषयक प्रश्न पूछे थे। यह भेंटवार्ता 'समालोचना' पत्रिका के सितंबर 1905 के अंक में 'संगीत की धुन' नाम से प्रकाशित हुई थी।

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के पश्चात् पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के दो इंटरव्यू 'रत्नाकरजी से बातचीत' तथा 'प्रेमचंद के साथ दो दिन' पत्रिका 'विशाल भारत' में सितम्बर 1931 तथा जनवरी 1932 में प्रकाशित हुए। मुंशी प्रेमचंद ने अगस्त 1933 में पत्र द्वारा कहानीकार ऊषा मित्रा का साक्षात्कार लिया। जिसमें कहानी तथा साहित्य पर उनसे प्रश्न किए। प्रभाकर माचवे ने जैनेन्द्र कुमार तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से बातचीत की जो 'जैनेन्द्र के विचार' नामक पुस्तक तथा 'वीणा' के अक्तूबर 1939 के अंक में प्रकाशित हुई। 1941 में 'साधना' पत्रिका का मार्च-अप्रैल का संयुक्तांक आया, जो भेंटवार्ता विशेषांक था। डॉ॰ सत्येन्द्र इसके सम्पादक

थे। इस पत्रिका में महादेवी वर्मा से ली गई भेंटवार्ता भी संकलित है। 'हंस' पत्रिका के दिसंबर 1947 के अंक में 'अपने ही घर में सरस्वती का अपमान' नामक भेंटवार्ता प्रकाशित हुई जिसमें सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला से नरोत्तम नागर ने बातचीत की है। सन् 1952 में डॉ॰ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के दो संकलन 'मैं इनसे मिला' आए। जैनेन्द्र कुमार का वीरेन्द्र कुमार ने 648 पृष्ठों का एक इंटरव्यू लिया। वह छह महीनों तक अनवरत छपता रहा और 1962 में 'समय और हम' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस विधा की अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं – देवेन्द्र सत्यार्थी की 'कला के हस्ताक्षर' (1954), रणवीर रांग्रा की 'सृजन की मनोभूमि' (1968) तथा 'साहित्यिक समाचार' (1978), माजदा असद की 'मेरी मुलाकातें' (1977), सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की 'अपरोक्ष' (1979), अमृता प्रीतम की 'शौक सुराही' (1979), मनोहरश्याम जोशी की 'बातों बातों में' (1983), कमलकिशोर गोयनका की 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' (1985) तथा 'जिज्ञासाएँ मेरी : समाधान बच्चन के' (1985 )। कन्हैयालाल नन्दन, डॉ॰ शिवदान सिंह चौहान, डॉ॰ धर्मवीर भारती, श्रीकान्त वर्मा, वीरेन्द्र सक्सेना सहित कई लेखिकाओं ने भी साक्षात्कार लिए हैं, जैसे सुशीला अग्रवाल, सावित्री परमार, वीणा अग्रवाल आदि।

ऐसी पुस्तकें भी अनेक आईं जिनमें दूसरे विषयों के साथ ही भेंटवार्ताओं को भी शामिल किया गया, जैसे रामधारी सिंह दिनकर की 'वट पीपल' (1961), विष्णु प्रभाकर की 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' (1965), ओम प्रकाश सिंहल की 'गद्य के नए आयाम' (1981) आदि। 'वट पीपल' में प्रसिद्ध नृत्यांगना रुक्मणी देवी का इंटरव्यू संकलित है। राजेन्द्र यादव की रूसी साहित्यकार चेखव की रचनाओं पर आधारित काल्पनिक इंटरव्यू की पुस्तक 'एंटन चेखव : एक इंटरव्यू' (1955) प्रकाश में आई।

आजकल साक्षात्कार विधा खूब लोकप्रिय हो रही है। पत्र-पत्रिकाओं में कथाकारों, कवियों, आलोचकों, चिन्तकों, रंगकर्मियों, कलाकारों, संगीतज्ञों, राजनेताओं, खिलाड़ियों, फिल्मी नायकों, चित्रकारों आदि से हुई बातचीत प्रकाशित होती रहती हैं। सारिका, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, संगीत आदि पत्रिकाओं में साक्षात्कार छपते रहे। हंस, कथादेश, वागर्थ, समर्था, समकालीन भारतीय साहित्य, मधुमती, आलोचना, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर आदि पत्र-पत्रिकाएँ भी समय-समय पर साक्षात्कार छापती रहती हैं। आकाशवाणी और टेलीविज़न पर भी साक्षात्कार प्रसारित होते रहे हैं।

### 4.1.03. साक्षात्कार विधा की विशेषताएँ

साक्षात्कार वह विश्वसनीय सोद्देश्य बातचीत है जो एकाधिक लोगों के बीच सम्पन्न होती है। समय की तीव्र रफ़्तार और स्पष्टता की चाहत ने साहित्यिक साक्षात्कार को जन्म दिया है। कई बार साक्षात्कारदाता के विचार उसकी रचनाओं में इस तरह अनुस्यूत अथवा घुले-मिले होते हैं जैसे दूध में चीनी। ऐसे में रचनाकार के विषय-विशेष के बारे में विचारों को जानना बड़ा कठिन कार्य हो जाता है। कोई रचनाकार या कि साक्षात्कारदाता अपनी अन्य रचनाओं जैसे कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक आदि में कुछ कहता है, पर उससे वह किसी न किसी तरह बच सकता है कि यह तो पात्र ने कहा है, कि यह तो स्थितियों की उपज है। कई बार पाठक भी उसके अर्थ को ठीक से नहीं समझ पाता है, लेकिन साक्षात्कार में साक्षात्कारदाता अपनी बात को साफ-साफ कहता है।

इसलिए उसकी बात का कोई दूसरा मतलब निकलने की गुंजाइश ही नहीं रहती। और जो कुछ कहा है उसकी जिम्मदारी उसे लेनी होती है। अपनी कही गई बात से वह पलट नहीं सकता। साक्षात्कार में वह स्वयं बोल रहा होता है कोई और पात्र नहीं। यहाँ वह किसी मजबूरी में नहीं, अपने मन से, अपनी बात, अपने विचार प्रकट कर रहा होता है। वह सीधे-सीधे पूछे गए सवालों के जवाब दे रहा होता है। इस तरह साक्षात्कार एक तरह का 'एफ़िडेविट' इस अर्थ में होता है कि साक्षात्कार देने वाला व्यक्ति साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति को झुठला नहीं सकता। बशर्ते उसने बातचीत रिकॉर्ड की हो अथवा साक्षात्कार के अन्तिम ड्राफ्ट पर उसके हस्ताक्षर लिए हों। इस तरह कहा जा सकता है कि साक्षात्कार द्वारा साक्षात्कारदाता के व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जाती है। एक अति महत्त्वपूर्ण बात यह कि साक्षात्कारकर्त्ता को इस बात का एहसास होना चाहिए कि लोग साक्षात्कारदाता के विचार जानने को उत्सुक हैं।

## 4.1.04. साक्षात्कार के प्रकार और तरीके

साक्षात्कार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। पर स्वरूप के आधार पर साक्षात्कार मोटे तौर पर दो तरह के होते हैं – (i) विषय प्रधान और (ii) विषयी प्रधान या व्यक्ति प्रधान। विषय प्रधान साक्षात्कार में कोई विषय तय होता है। उसी के बारे में बातचीत की जाती है। यहाँ निजी जीवन को नहीं कुरेदा जाता है। यहाँ विषय या विचार केन्द्र में होता है उसी पर बात की जाती है। व्यक्ति प्रधान साक्षात्कार में व्यक्ति के व्यक्तित्व को सामने लाने वाले प्रश्न किए जाते हैं। उसकी निजी ज़िंदगी को टटोला जाता है, जैसे उसकी रुचियाँ, शिक्षा-दीक्षा, पसन्द-नापसन्द, स्वभाव, परिवार आदि। आकार के आधार पर साक्षात्कार के दो प्रकार हो सकते हैं – (i) लम्बे एवं (ii) संक्षिप्त।

साक्षात्कार मुख्यतया तीन प्रकार से लिए जाते रहे हैं – (i) पत्राचार द्वारा, (ii) आमने सामने बैठकर तथा (iii) काल्पनिक साक्षात्कार। पर आजकल पत्र की जगह टेलीफोन, वाट्सएप, ईमेल, वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग जैसे अन्य कई माध्यम आ गए हैं जिनके द्वारा घर बैठे साक्षात्कार लिए जा रहे हैं। भले साक्षात्कारदाता दूर बैठा है। देश में ही नहीं विदेश में भी हो तब भी बातचीत सम्भव हो सकती है। पत्र द्वारा साक्षात्कार लिए गए हैं और आज भी लिए जाते हैं। हिन्दी के महान् कथाकार मुंशी प्रेमचंद ने अपने समय की नवोदित कहानीकार उषादेवी मित्रा का इंटरव्यू पत्र द्वारा ही लिया था। और उनसे कहानी और साहित्य के विषय में कई प्रश्न पूछे थे। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भारतभूषण अग्रवाल, राजीव वर्मा आदि ने प्रश्नावलियों के द्वारा अज्ञेय से कई बार बातचीत की। वह बातचीत 'आत्मनेपद' (1960) और 'लिखी कागद कोरे' (1972) नाम से आई पुस्तकों में उपलब्ध है।

प्रश्नावली बनाकर भी बातचीत की जाती है। पर कई बार यह तरीका नीरसता का कारण बन जाता है। बिना प्रश्नावली को सामने रखे की गई बातचीत में स्वाभाविकता, रोचकता और खुलापन ज्यादा होता है। डॉ॰ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' अपनी कृति 'मैं इनसे मिला' के दूसरे भाग में जिक्र करते हैं – "पहले मैंने प्रश्नावली बनाकर साहित्यकारों से उनके उत्तर लिए थे। कवि, कथाकार, नाटककार, आलोचक आदि सब से एक ही प्रश्नावली का उत्तर लेने से कुछ एकरसता आने लगी थी और कुछ अपूर्णता रहने लगी थी। इसी बीच सौभाग्य से श्रीमती महादेवी से मिलना हुआ। ठहरा में निराला के यहाँ था। महादेवी ने मेरी प्रश्नावली रख ली और बोलीं, 'मैं

प्रश्नों का उत्तर नहीं देती। वैसे जो बातें करनी हों कीजिए'।" आगे वे यह भी कहते हैं कि "मैंने उनसे बिना क्रम प्रश्नों के उत्तर लिए, बातें की और घुमा-फिराकर सब प्रश्नों की बातें तो पूछ ही लीं और भी बहुत सी बातें जिनके लिए मैंने प्रश्न बनाए ही नहीं थे, जान लीं। घर आकर डायरी में उनसे जिस ढंग से बातें हुई थीं, लिख डालीं। उनकी भेंट का जो वर्णन लिखा तो प्रश्नों का क्रमशः उत्तर लेने वाले इंटरव्यू से वह अच्छा जँचा। उसमें स्वाभाविकता भी थी और रोचकता भी। यही निरालाजी के सम्बन्ध में हुआ। मैंने अपने ऊपर पड़ी उनके व्यक्तित्व की छाप को लिख दिया। इन दोनों लेखों की हिन्दी के पाठकों और विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।" (गद्य की नई विधाओं का विकास, प्रो॰ माजदा असद)

काल्पनिक इंटरव्यू केअन्तर्गत जिस व्यक्ति या साहित्यकार का काल्पनिक इंटरव्यू किया जाता है उसका महत्त्वपूर्ण साहित्य साक्षात्कारकर्त्ता द्वारा पढ़ा जाता है और विभिन्न विषयों पर उसके विचारों की खोज की जाती है। उन्हें सामने लाया जाता है। राजेन्द्र यादव की रूसी साहित्यकार आंतोन चेखव की रचनाओं पर आधारित काल्पनिक इंटरव्यू की पुस्तक 'एंटन चेखव : एक इंटरव्यू' (1955) ऐसी ही किताब है। यह काल्पनिक साक्षात्कार चेखव की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं तथा आलोचनाओं का अध्ययन कर लिखा गया है। इसके 64 पृष्ठ हैं। लक्ष्मीचन्द जैन ने एक काल्पनिक इंटरव्यू 'भगवान् महावीर : एक इंटरव्यू' लिखा जिसमें भगवान् महावीर की शिक्षाओं और उनके सन्देश को प्रस्तुत किया गया है। 1962 में 'ज्ञानोदय' में हिन्दी की चार नवोदित लेखिकाओं का शरद देवड़ा द्वारा लिया गया काल्पनिक साक्षात्कार प्रकाशित हुआ। इस तरह यह भी कहा जा सकता है कि साक्षात्कार के मुख्यतया दो प्रकार हैं – (i) वास्तविक और (ii) काल्पनिक। उपर्युक्त सब प्रकारों में सर्वाधिक पसन्द किया जाने वाला साक्षात्कार तो वही होता है जिसमें साक्षात्कार आमने-सामने बैठकर लिया जाता है और जो अनौपचारिक होता है।

## 4.1.05. साक्षात्कारकर्त्ता की विशेषताएँ

साहित्यिक साक्षात्कार में जितनी महत्ता साक्षात्कारदाता की होती है उतनी ही साक्षात्कारकर्त्ता की भी होती है। यहाँ अक्सर साक्षात्कार लेने वाला और देने वाला दोनों ही बड़े साहित्यकार होते हैं। इन साक्षात्कारों का उद्देश्य होता है पाठकों के सामने साक्षात्कारदाता के विषय-विशेष के सम्बन्ध में विचार और भावों को सामने लाने के साथ ही उसकी दुर्बलताओं, गुणों, अवगुणों, कमियों, स्वभाव, मनोवृत्तियों, सोच, रचनात्मकता, मान्यताओं, जीवन में घटित अच्छी-बुरी घटनाओं आदि को जानना और सच उगलवाना। अगर साक्षात्कारकर्त्ता इस उद्देश्य में सफल होता है तो साक्षात्कार सफल और सार्थक है वरना तो समय ज़ाया ही हुआ। साक्षात्कार की सफलता और सार्थकता बहुत कुछ साक्षात्कारकर्त्ता की मेहनत और सूझ-बूझ पर निर्भर करती है। साक्षात्कार से पूर्व साक्षात्कारकर्त्ता को सम्बन्धित विषय या व्यक्ति-विशेष के बारे में पूरी जानकारी जुटानी होती है। तभी वह प्रश्न-प्रतिप्रश्न कर सकता है। प्रश्न से प्रश्न तभी निकल सकते हैं जब कर्त्ता ने विषय का गहराई से अध्ययन किया है। सर्वप्रथम साक्षात्कारकर्त्ता एक प्रश्नावली तैयार करता है। फोटो खींचने और बातचीत को रिकॉर्ड करने के लिए साथ में मोबाइल भी रखना होता है। आजकल ये सारी सुविधाएँ मोबाइल में ही होती हैं। यहाँ तक कि मोबाइल में लिखने की व्यवस्था भी होती है। साक्षात्कारकर्त्ता को पहले की तरह तामझाम नहीं रखना पड़ता है। मोबाइल

इसलिए ज़रूरी है कि साक्षात्कारदाता की कोई महत्त्वपूर्ण बात, कोई ज़रूरी शब्द छूट न जाए। अगर साक्षात्कारकर्त्ता की तैयारी पूरी नहीं है, अगर उसका विषय और भाषा पर पूरा अधिकार नहीं है, अगर वह साक्षात्कारदाता के सामने संकोच कर रहा है और सामान्य से प्रश्न कर रहा है तो साक्षात्कार भी सामान्य होगा। स्तरीय नहीं होगा। साक्षात्कार में कई बातें और तथ्य ऐसे भी होने चाहिए जो पहली बार पाठक या श्रोता को पढ़ने-सुनने-देखने को मिल रहे हों। अगर सुनी-सुनाई और पढ़ी हुई बातें ही हुई तो वह साक्षात्कार सतही साबित हो जाएगा। असल में साक्षात्कारकर्त्ता को स्पष्ट होना चाहिए कि साक्षात्कार का उद्देश्य क्या है।

कई बार साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कारदाता से बात निकलवाने के लिए कुछ तीखे-चुभते से सवाल भी करने पड़ जाते हैं। कभी गुस्सा दिलाना पड़ सकता है तो कई बार उससे आत्मीयता भी दिखानी पड़ती है। उसे विश्वास में भी लेना पड़ता है। अगर घी सीधी उँगली से नहीं निकले तो उँगली टेढ़ी करनी पड़ती है। पर ये सब निर्भर करता है कि साक्षात्कार किसका करना है – राजनेता का, कलाकार का, खिलाड़ी का, साहित्यकार का, मजदूर नेता का, समाजसेवी का या किसी चिकित्सक या इंजीनियर का। क्योंकि कभी-कभी जब साक्षात्कारकर्त्ता ज्यादा टेढ़े सवाल करने लगे तो साक्षात्कारदाता का मूड उखड़ सकता है। और सारी बातचीत नीरस और अधूरी-सी हो सकती है। साक्षात्कारकर्त्ता को अपने आपको संतुलित रखकर आत्मविश्वास के साथ बात करनी होती है। जिससे आगे के रास्ते भी खुले रहें। यह नहीं हो कि साक्षात्कारदाता से साक्षात्कारकर्त्ता की वह मुलाक़ात पहली और अन्तिम और अधूरी होकर रह जाए। और अगली बार वह मिलने के लिए समय ही न दे। अगर बातचीत को छपने से पूर्व साक्षात्कारदाता को दिखा-पढ़ा-सुना दिया जाए तो उचित रहता है। इससे साक्षात्कार की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो जाती है। वह कुछ काट-छाँट कर सकता है। कई बार बातचीत बहुत बिखरी हुई होती है अगर प्रश्नावली नहीं बनाई गई है तो। ऐसे में उस बातचीत को सिलसिलेवार व्यवस्थित किया जा सकता है, अस्पष्ट को स्पष्ट किया जा सकता है पर साक्षात्कारदाता के शब्द, वाक्य, भावार्थ आदि को ज्यों का त्यों रखना होता है। हाँ, अगर टेलीविज़न, रेडियो आदि पर बातचीत का जीवन्त (लाइव) प्रसारण हो रहा है तो बात अलग है। ये माध्यम ऐसे हैं कि यहाँ एक बार तीर कमान से निकल गया तो फिर लौटकर नहीं आता। हाँ, उसकी प्रतिक्रिया ज़रूर आएगी। कन्धे थपथपाने वाली या फिर कोसने वाली।

साक्षात्कारकर्त्ता के लिए कुछ छोटी-छोटी अहम बातें जिनका खयाल रखने से साक्षात्कार में जान आ जाती है। डॉ॰ हरिमोहन के शब्दों में कहें तो "इस विधा में साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति के बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व को उभारकर सामने लाना होता है। बाहरी रूपाकार, वेशभूषा आदि का रेखाचित्र-शैली में अंकन भी साक्षात्कार का अंग है, जिसे प्रश्नकर्त्ता प्रारम्भ में (और बीच-बीच में भी) अंकित कर सकता है। इसी तरह पात्र के मनोभावों, भाव-भंगिमाओं, रहन-सहन, प्रवृत्तियों, रुचियों, घृणाओं आदि को भी बीच-बीच में अंकित किया जाता है। इससे साक्षात्कार में जीवन्तता आ जाती है।" (साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार, पृष्ठ 291 ) साक्षात्कारदाता के शब्दों के साथ-साथ उसके चेहरे के हाव-भाव, हँसी, मुस्कान, किसी प्रश्न के उत्तर में बहुत कुछ कहती उसकी चुप्पी, गुस्से में बोलना, अनमनापन, खुशी, उसका तकिया कलाम, पान खाना आदि के विषय में भी लिखने से

साक्षात्कार रुचिकर, विनोदपूर्ण और सरस हो जाता है। इस तरीके से साक्षात्कार पाठक को अतिरिक्त आनन्द देता है और विषय की गम्भीरता में उतरने का अवकाश भी।

## 4.1.06. अज्ञेय का परिचय

'अज्ञेय' यानी जिसे कोई न जाने। पर जिसे आज सब जानते हैं। पूरा नाम है – सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। लगभग पाँच दशक तक हिन्दी साहित्य में बहुचर्चित रहने वाले अज्ञेय की उल्लेखनीय कुछ कृतियाँ हैं – भग्नदूत, चिन्ता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये, आँगन के पार द्वार, कितनी नावों में कितनी बार (कविता संग्रह), विपथगा, परम्परा, जयदोल (कहानी संग्रह) शेखर एक जीवनी : प्रथम भाग, शेखर एक जीवनी : द्वितीय भाग, नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी (उपन्यास), अरे यायावर रहेगा याद ?, एक बूँद सहसा उछली (यात्रा वृत्तान्त), सबरंग और कुछ राग, आत्मनेपद, हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, भवन्ती, अन्तरा, लिखी कागद कोरे (निबन्ध संग्रह) के साथ ही आपने संस्मरण, डायरियाँ, नाटक, विचार गद्य भी लिखा। तार सप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक, चौथा सप्तक (कविता संग्रह) का सम्पादन किया। 'आँगन के पार द्वार' तथा 'कितनी नावों में कितनी बार' कविता संग्रहों पर क्रमशः साहित्य अकादेमी पुरस्कार और भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिले।

अज्ञेय के लेखन का प्रारम्भ छायावादी युग से हो गया था लेकिन वे कविता में प्रयोगवाद के प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं। अज्ञेय भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन से प्रभावित होकर क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आए और बहुत सा जीवन जेलों में बिताया। आप हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, संस्कृत, फारसी, बांग्ला आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। आपने 'सैनिक' (आगरा) तथा 'विशाल भारत' (कलकत्ता) पत्रिकाओं का सम्पादन किया। ऑल इंडिया रेडियो में नौकरी की। फिर साहित्यिक पत्र 'प्रतीक' और बाद में अंग्रेजी साप्ताहिक 'थॉट', अंग्रेजी पत्रिका 'वाक्' निकाली। समाचार साप्ताहिक 'दिनमान' तथा 'नवभारत टाइम्स' का सम्पादन भी किया। खूब घुमक्कड़ी की। केलिफोर्निया विश्वविद्यालय से लेकर जोधपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन किया।

## 4.1.07. मनोहरश्याम जोशी का संक्षिप्त परिचय

मनोहरश्याम जोशी का नाम हिन्दी कथा साहित्य में एक जाना-पहचाना नाम है। आपकी चर्चित कृतियाँ हैं – कसप, कुरु कुरु स्वाहा, क्याप (उपन्यास), लखनऊ मेरा लखनऊ, रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण (संस्मरण), पश्चिमी जर्मनी पर एक उड़ती नजर, चीन यात्रा (यात्रा संस्मरण), बातों बातों में (साक्षात्कार) आदि। आपने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक पद पर रहते हुए साहित्यकारों के साथ ही फिल्म निर्देशकों, सेनानायकों, राजनेताओं से भी साक्षात्कार लिए। असल में आपने किसी एक विषय तक खुद को सीमित नहीं रखा। आपने रेडियो, टी.वी., प्रेस, फिल्म पटकथा, वृत्तचित्र, खेल-कूद तथा दर्शनशास्त्र पर भी लेखन किया। आपको अमृतलाल नागर तथा अज्ञेय का आशीर्वाद प्राप्त था। आपके लिखे टी.वी. धारावाहिक 'हम लोग', 'बुनियाद' तथा 'मुंगेरीलाल के हसीन सपने' अपने समय के लोकप्रिय धारावाहिक थे। 'हम लोग' के लेखन के

चलते आपने सन् 84 में सम्पादक का पद छोड़ दिया। आपको टी.वी. धारावाहिकों का जनक कहा जाता है। बहरहाल मनोहरश्याम जोशी के साक्षात्कार लेने की खास शैली पर प्रो॰ माजदा असद अपनी पुस्तक 'गद्य की नई विधाओं का विकास' में लिखती हैं कि – "उनके इंटरव्यू की विशेषता यह है कि वे बातों बातों में इंटरव्यू देने वाले के व्यक्तित्व को खोलकर पूरी तरह बेनकाब कर पाठकों के सामने रख देते हैं। कभी-कभी उनके सवाल पूछने का अंदाज तीखा और बात को उगलवाने वाला होता है। उनकी भाषा-शैली सहज, सरल, मुहावरेदार, दो टूक और पैनी होती है। क्लिष्टता और कठोरता और कर्कशता उनके पास फटकने नहीं पाई।"

## 4.1.08. अज्ञेय का व्यक्तित्व

'तार सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय कहते हैं – "सृजनशील प्रतिभा का धर्म है कि यह व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं सृष्टा उनसे कुछ कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ ही उनकी रचना में प्रतिबिम्बित होती हैं।" यहाँ हम अज्ञेय के कहे मुताबिक उनके व्यक्तित्व की उन्हीं विशिष्टताओं की खोज-खबर लेंगे।

लेखक ने अज्ञेय की आदत, स्वभाव, बोलने का लययुक्त लहजा, उसूलों के साथ ही अन्य कई छोटी-छोटी चीजों को भी पकड़ा है। शब्द के बीच में ही विरामचिह्न लगाने के उनके अनूठे अंदाज को देखें – "अक्सर विराम-चिह्न शब्द के बीच में भी लगा दिए जाते हैं, यथा – रघु, वीर जी तो, आ, प आते हैं ?" अज्ञेय 'तार सप्तक' में एक जगह लिखते हैं – "सभा-समाजों में सिट्टी भूल जाता हूँ, लेकिन कृपालु लोग 'गम्भीरता' समझते हैं और शेष लोग अहंकार। कृपालु लोगों का अल्प-मत है।" (पृष्ठ 220)

साक्षात्कार 'एक अपना ही अजनबी' के प्रारम्भ में ही मनोहरश्याम जोशी ने लिखा है – "सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' नाम तो नाम उपनाम सुबहान अल्लाह ! आप कहेंगे कि भला नाम-उपनाम में धरा क्या है ?" विलियम शेक्सपियर ने भी कहा है कि – "नाम में क्या रखा है। किसी भी चीज को फूल पुकारेंगे तो उसमें से फूल की खुशबू थोड़े ही आजाएगी।" मगर मनोहरश्याम जोशी की मानें तो नाम में बहुत कुछ रखा है। वे कहते हैं – "जरा सुनिए – मुंशी प्रेमचंद – एक निहायत ही दबे-ढके, सीधे-सादे शख्स की तसवीर सामने आती है न ? निराला – यह शब्द सुनकर मन में अवधूत जगता है कि नहीं ? और वे तमाम नन्दन, कुमार और लाल युक्त नाम, उन्हें सुनकर, सच कहिए मूड कतई सूरदास हुआ जाता है कि नहीं ? तो जरा फिर सुनिए – सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। देखो अपने, इसे सुनने की दो ही प्रतिक्रियाएँ होती हैं या तो आप आस्तीनें चढ़ाकर पूछते हैं, 'क्या कहा ?' या आप मरी सी आवाज में एक गिलास ठण्डे पानी की माँग कर बैठते हैं। तो क्या ताज्जुब जो इस नाम ने हिन्दी साहित्य जगत् में सबसे ज्यादा उन्मेष, सबसे ज्यादा हीन भावना जगाई है।"

साक्षात्कार में मनोहरश्याम जोशी ने अज्ञेय के बाह्य व्यक्तित्व को व्यक्त करने का अनूठा विरोधाभासी अंदाज अपनाया है। इस कॉन्ट्रास्ट की एक बानगी देखें – "ऊँचा कद, चौड़ा सीना, फ्रायडवाद की याद ताजा कराने वाले घने काले रोएँ, यदा-कदा बाहर – दाढ़ी, खिलाड़ी सा बदन, शिकारी सी चाल ! इस पर तुर्रा यह कि

आप इस व्यक्तित्व को किसी भी लिबास में लपेट दीजिए, वह प्रभावप्रद प्रतीत होता है। ... कुल मिलाकर यह व्यक्तित्व ऐसा है कि देखते ही अहेतुक विशेषणवादी काव्य आप ही आप फूटता चला जाए। मगर जब यह व्यक्तित्व बोलना शुरू करता है तो दुखद आश्चर्य के साथ, आप दिनकरजी को विदा करके पन्तजी को न्योता देते हैं। भगवान् की दी हुई तमाम अक्खड़ सज-धज के बावजूद अज्ञेय में कुछ ऐसा है जो निहायत ही नाजुक है – उसकी आवाज, सुनहरे फ्रेम के पीछे से झाँकती हुई उसकी शान्त-क्लान्त आँखें और होठों की कोर से ठोढ़ी की ओर बढ़ती हुई दो थकी-हारी सी रेखाएँ। अज्ञेय की आवाज में गेय तत्त्व काफी है। लहजा भी खास है – लय-युक्त और विराम चिह्न-पूर्ण।

इस साक्षात्कार में अज्ञेय के बहाने जोशीजी ने हिन्दी लेखक समाज की कई विशेषताएँ भी उजागर की हैं। जैसे हिन्दी में प्रतिक्रियावादियों का होना, पीठ पीछे बुराई करना, चटखारे लेना, पढ़ने वालों की कमी का होना आदि।

अज्ञेय को तपाक से मिलना, गले में हाथ डाले घूमना, भगवान् ! गुरु ! कऔ बेटा ! जैसे सम्बोधन नहीं आते। वे अपने तक रहने में अंग्रेजों को भी मात करते हैं। वे न किसी का सुख-दुःख जानना चाहते हैं और न ही अपना व्यक्तिगत सुख-दुःख बताते हैं। साक्षात्कार में ऐसी एक घटना का हवाला भी मनोहरश्याम जोशी ने दिया है कि वे खुद जब पहली बार अज्ञेय से मिले तो कैसे अपना पारिवारिक दुखड़ा रोते रहे। पर अज्ञेय उनके दुःख से नहीं बल्कि उनकी उस कमजोरी से दुखी थे जिसके चलते वे अपना दुःख प्रकट कर रहे थे। लेखक की दृष्टि में अज्ञेय हिन्दी साहित्य के अछूत हैं। और उनका व्यक्तित्व सबको अपनी तरफ खींचने वाला भी है। कुछ इतना विशिष्ट और विराट् है कि दूसरे को वटवृक्ष कॉम्प्लेक्स होने लगे। फिर अपना घर भी उन्होंने ऐसे एकान्त में बना छोड़ा है कि वहाँ अकेले जाइए तो भी लगेगा जैसे साथ में भीड़ ले आए हैं। अज्ञेय किसी से साहित्येतर सम्बन्ध अथवा मेवा-सेवा-सम्बन्ध भी नहीं रखते इसलिए उनका हर साहित्यिक साथी उनसे अलग हो जाता है। और कहता है अज्ञेय घुन्ना है, गुम्मा है, मतलब साधता है, मौके पर छिपकर वार करता है। लेकिन मनोहरश्याम जोशी अपने ही एक वाकए से साहित्यकारों की इस सोच को गलत साबित करते हुए लिखते हैं – "मैंने जब 'तीसरा सप्तक' के लिए अपनी कविताएँ आलस्य और संकोचवश नहीं दीं, मैंने जब दिल्ली में 'परिमल' बनाए जाने का विरोध किया, मैंने जब निर्मल वर्मा, राजकुमार, भीष्म साहनी और नरेश मेहता जैसे घोषित वामपक्षीय लेखकों का साथ अपनाया तो मुझे इस छिपे वार का बड़ी हौलदिली से इंतजार रहा। लेकिन मेरी गर्दन आज भी सलामत है।"

जब मनोहरश्याम जोशी ने सुना कि लोग कह रहे हैं अज्ञेय की अकड़-बकड़ धरी की धरी रह गई है, वह बहुत दुखी है। मान्य होने के लिए बेहद बेचैन है। ऐसे समय में जब अज्ञेय का बंबई जाना हुआ तो मनोहरश्याम जोशी उनका यह नया रूप देखने और जानने के लिए, 'धर्मयुग' के तत्कालीन सहायक सम्पादक नन्दनजी के साथ अज्ञेय के पास पहुँचे और बातचीत की, जिसे अब हम पढ़ रहे हैं 'एक अपना ही अजनबी' शीर्षक से।

साक्षात्कार से ज्ञात होता है कि अज्ञेय अपने उसूलों के पक्के हैं। पहला कि वे किसी की धारणा बदलने की कोशिश नहीं करते। अज्ञेय ने साक्षात्कारकर्त्ता के 'प्रगति-वाद' का कभी बुरा नहीं माना तब भी नहीं जब वह

सर्वथा अज्ञेय विरोधी हो उठा। जोशीजी कहते हैं "एक बार मैंने नदी के द्वीपवाद के खिलाफ एक कविता लिखकर अज्ञेय को दी। उस वक्त एक साहित्यिक-कम-फोटोग्राफर ज्यादा किस्म के जीव भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने कविता पढ़ी और इस आशय के भाव व्यक्त किए कि 'लौंडे, सूरज पर थूकता है !' लेकिन अज्ञेय ने कहा कि कविता की कमजोरी यह नहीं है कि वह मेरी कविता के विरुद्ध लिखी गई है बल्कि यह है कि वह निजी बातचीत को अपमान के बराबर मानता है।"

अज्ञेय किसी की सहायता कर के उसका बखान नहीं करते। जोशीजी की बेरोजगारी के लिए उन्होंने जो प्रयास किए उनका जिक्र कभी नहीं किया। अज्ञेय का तीसरा उसूल है कि अपनी इज्जत करो और दूसरों की भी। वे अपने से छोटे लोगों के नाम के साथ भी सम्मानसूचक शब्द 'जी' लगाना नहीं भूलते। किसी के सामने या पीठ पीछे निरादरपूर्ण बात कभी सुनने को नहीं मिलती। अज्ञेय का चौथा उसूल है कि वे हर व्यक्ति या कृति का मूल्यांकन कुछ निश्चित प्रतिमानों के आधार पर करते हैं। मसलन उन्हें फिल्म 'पाथेर पांचाली' पसन्द नहीं आई। हुसैन की चित्रकला कभी विशेष प्रभावित नहीं कर पाई। लेकिन अज्ञेय जग-हँसाई की वजह से धारणा बदलने वालों में से नहीं हैं।

अज्ञेय पर लगे कई बेबुनियाद आरोपों का जिक्र भी जोशीजी ने किया जैसे उन्हें 'प्रतीक' के सन्दर्भ में अमेरिकी एजेंट कहा गया। उन्हें राजनैतिक बदनामी मिली। साहित्यिक दृष्टि से अज्ञेय को गलत समझा गया। कहीं गलती से उन्होंने इलियट की कुछ पंक्तियाँ अपने लेख में उद्धृत कर दीं तब से उन्हें इलियट कहा जाने लगा और इलियट को 'इडियट' का पर्याय ठहराया जाने लगा। अज्ञेय पर अगर किन्हीं पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव है तो वह है डी.एच. लॉरेंस तथा ब्राउनिंग का। लॉरेंस का प्रभाव तो अज्ञेय की लेखनी ही नहीं दाढ़ी भी घोषित करती है। लेकिन जोशीजी को लगता है पढ़ने वाले लोग हैं कहाँ ? आगे साक्षात्कारकर्त्ता अर्थात् मनोहरश्याम जोशी कहते हैं कि पिछली पीढ़ी अज्ञेय की अंग्रेज़ियत से आक्रान्त रही और उसे अमौलिक साबित करने की कोशिश करती रही। नयी पीढ़ी अज्ञेय की भारतीयता से बोर हुई पड़ी है। और उसके नयेपन को पुराना ठहराने में जुटी हुई है। अज्ञेय, आज प्राचीनों में आधुनिक हैं और आधुनिकों में प्राचीन, यानी हर कहीं अजनबी।

हिन्दी के अधिकांश नये साहित्यकारों का अज्ञेय के साथ जो बर्ताव रहा और उन पर अज्ञेय का जो प्रभाव रहा और कैसे उन्होंने उस प्रभाव की केंचुल को उतार फेंका उस सबका जोशीजी ने जिक्र किया है। वे लिखते हैं कि – "हिन्दी के अधिकांश नये साहित्यकार कभी न कभी अज्ञेय से प्रभावित रहे। लेकिन उनमें से सबने इस प्रभाव की केंचुली उतार फेंकना अथवा उसे अपने ही प्रादुर्भाव की केंचुल मान लेना श्रेयस्कर समझा। वह परिष्कार, वह प्रौढ़ता, वे किताबें, वे कलाकृतियाँ, वे चंद चुने हुए रेकार्ड, वह वक्तव्यवाद, वह व्यक्तिधर्म यानी अज्ञेय की तमाम ऊपरी विशेषताएँ इन साहित्यकारों में मौजूद हैं। लेकिन वे सार्त्र या कामू की बात भले ही कर लें, अज्ञेय का नाम गलती से भी जबान पर नहीं लाते। अज्ञेय की चर्चा से उन्हें वैसा ही संकोच होता है जैसा किसी किशोर को अपनी आया अथवा बच्चा-गाड़ी देखकर हो सकता है।"

## 4.1.09. अज्ञेय के विचार

अज्ञेय के साहित्यिक और व्यक्तिगत पश्चात्ताप, लघु पत्रिकाओं की अहमियत, नये साहित्यकारों से अज्ञेय के सम्बन्ध, सप्तकों के कवि, आलोचकों की कमी, उपन्यासों की भाषा, साहित्यकार का सेल्फ कमिटमेंट जैसे अनेक विषयों पर साक्षात्कार में बात हुई है। मनोहरश्याम जोशी के एक प्रश्न के जवाब में अज्ञेय अपने साहित्यिक पश्चात्तापों के विषय में कहते हैं कि – "एक तो यही कि शेखर को मैंने आत्मकथा की शैली में क्यों लिखा ?" आगे वे कहते हैं – "तीसरे भाग के प्रकाशन में यही दिक्कत है कि अब जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह सब-का-सब शेखर के मुँह से नहीं कहलाया जा सकता। जितना वह कह सकता है, उतने तक ही सीमित रहना अब मुझे अपने प्रति न्याय नहीं मालूम होता।" अन्य पश्चात्ताप के सम्बन्ध में अज्ञेय ने कहा कि – "मैंने अपने को सिर्फ एक तरफ सीमित क्यों नहीं रखा ? शुद्ध लेखक ही क्यों नहीं बना रहा ? आलोचना, सम्पादन, आयोजन इन सबके क्षेत्र में कभी भी क्यों आया ?" लेकिन जब वे अपने तीसरे पश्चात्ताप की बात करते हैं तो दूसरा पश्चात्ताप कुछ झूठा मालूम होने लगता है। अज्ञेय कहते हैं – "यानी कभी मैं सोचता हूँ कि 'प्रतीक' को किसी तरह बन्द न होने दिया होता तो अच्छा रहता। वह और एक साल चला होता तो चल निकलता। लेकिन यह मेरे वश की बात नहीं थी। इसलिए इसके बारे में सही माने में पश्चात्ताप भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'प्रतीक' के बन्द होने का साहित्य से नहीं, एक प्रकाशक की धूर्तता से सम्बन्ध था।"

अज्ञेय साहित्यिक ईमानदारी के विषय में कहते हैं कि किसी चीज को छपाना या छपने देना भी तो एक साहित्यिक निर्णय है। यह तो हो सकता है कि आप कोई रचना छपने के लिए दें और वह इतने विलम्ब से प्रकाशित हो कि इस बीच आपकी मान्यताएँ बदल जाएँ। लेकिन किसी ऐसी रचना को प्रकाशन के लिए देना जिससे आप कभी संतुष्ट न हों, यह साहित्यिक ईमानदारी नहीं।

अज्ञेय कहते हैं कि कोई जमी हुई साहित्यिक पत्रिका हो तो साहित्यिक साझेदारी का कोई ठोस और सार्वदेशिक अर्थ भी हो सकेगा और वह स्थानिक मैत्री और गुटबंदी से ऊपर उठ सकेगी। गुटबंदी को साझेदारी भी कहा जा सकता है। मगर यह साझेदारी भी समान चिन्तन पर आधारित और व्यक्तिगत सम्बन्धों से ऊपर हो। यहीं वे अपने पर लगे इस इल्जाम का जिक्र करते हैं कि मैंने तमाम तरह के लोगों के साथ मिलकर काम किया इसलिए कभी-कभी मुझे लोग अवसरवादी भी कह देते हैं। कुछ लोग आश्चर्य करते हैं – अरे, आपने उनके साथ भी काम किया।

नये साहित्यकारों के लिए पिता-प्रतिभा बनने के सवाल पर अज्ञेय जहाँ उनकी मदद की बात करते हैं वहाँ खतरे की तरफ भी इशारा करते हैं। वे कहते हैं "मैंने सिर्फ उनकी मदद करनी चाही यानी मात्र आशीर्वाद दे देने की परम्परा चली आई थी उससे कुछ आगे बढ़ना ज़रूरी समझा। साधारणतया यह होना चाहिए कि पुराना लेखक नये लेखकों के प्रकाशन और उचित मूल्यांकन में सहायता दे। लेकिन दूसरी तरफ यह खतरा रहता है कि नये लेखक पर पुराने लेखक का प्रभाव ज़रूरत से ज्यादा हो या किसी को ऐसा लगे, जैसा कि मेरे साथ कुछ नये लेखकों को लगा, कि यह संसर्ग तो बाधक है।"

मनोहरश्याम जोशी ने अज्ञेय से कई कठोर सवाल भी किए। जैसे – तारसप्तक के जिन नये लेखकों को होनहार माना था उनमें से कई फिस होकर रह गए। नये लेखकों पर आपका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उपन्यासों के नाम पर बौद्धिकता से लदी, और रोमान में रंगी आत्मकथाएँ चल निकली हैं। यह आत्मकेन्द्रित साहित्य खासा खतरनाक है और वाहियात भी। और उच्च मध्यमवर्गीय वातावरण के लिए प्यार, जिस ज़िंदगी को न जाना है, न जिया उसके लिए मोह यह सब आपकी नकल में हुआ है। आपने तो एक खास तरह का जीवन-यापन किया और वही आपके साहित्य में प्रतिफलित हुआ। लेकिन जिनका उस जीवन से कोई नाता नहीं रहा, उन्हें उसकी कहानियाँ लिख-लिखकर जनता को बोर करने की क्या सूझी। आगे जोशीजी कहते हैं – वक्तव्यवाद का मर्ज भी आपकी देखा-देखी बढ़ा है। अपने लेखन की स्वयं समालोचना कर रहे हैं। आज स्थिति यह है कि लेखक लिख कम रहे हैं और समझा ज्यादा रहे हैं। इन तमाम तरह के आरोपों के जवाब में अज्ञेय ने कहा कि – "हर सप्तक में दो-तीन, दो-तीन (लेखक) तो आगे चलकर कुछ खरे साबित हुए ही। मेरा खयाल है कि सात में से तीन विनर्स निकलते रहें तो किसी भी 'रेसहॉर्स ऑनर' को संतोष ही होगा। अपने लेखन की स्वयं समालोचना करने का एक कारण तो अज्ञेय ने बताया कि जिनको बिचौलियों का काम करना चाहिए उनकी संख्या बहुत कम है। बिचौलियों यानी ऐसे आलोचक जो लेखक को पाठक तक पहुँचा सकें। जैसे पश्चिम में एक समय था कि चर्च ने कलाकार को बाहर निकाल दिया था वैसे अब हमारे यहाँ यह परिस्थिति है कि विश्वविद्यालयों ने, पेशेवर आलोचकों ने, कलाकार को बहिष्कृत कर दिया है। इसलिए हर कलाकार को आत्मव्याख्या में समय नष्ट करना पड़ता है। शक्ति तो आदमी के पास उतनी ही होती है एक तरफ लगा ले या दूसरी तरफ। इसी बात को अज्ञेय 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में कहते हैं कि कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी !)।

साहित्य के नाम पर पश्चिम का अनुवाद और साहित्यिक आन्दोलनों के नाम पर पश्चिम का अनुकरण क्यों है ? – प्रश्न के जवाब में अज्ञेय कहते हैं कि हमारे सारे समाज ने यह मान लिया है अँग्रेजी श्रेष्ठ है। पश्चिमी समालोचकों ने जो कहा वह ठीक है। इसीलिए किसी भी आन्दोलन का ज्यादा मूल्य तभी समझा जाता है जब उस पर किसी पश्चिमी आन्दोलन की छाप लगी हो। वह सच है या नहीं, उसका हमारी परिस्थिति और परम्परा से सम्बन्ध है कि नहीं, इस सबको अलग छोड़कर। लेकिन यह कोई नयी चीज नहीं। यह रोग छायावाद युग से ही शुरू हो गया था। नन्दनजी के एक सवाल, कि लोगों का विचार है कि आप अध्यात्मवादी होते जा रहे हैं और अपने-अपने अजनबी में अध्यात्मवाद बहुत है, के जवाब में अज्ञेय कहते हैं – वह तो मैं नहीं हूँ। मैं अध्यात्म के बारे में सवाल उठाता हूँ। और ऐसा करना संतुलन के लिए ज़रूरी है। बात यह है कि इस वक्त प्रगति की जो प्रगति है वह जीव को यंत्र मानकर ही चल रही है। दूसरे प्रश्न के जवाब में वे कहते हैं मेरे उपन्यास पहले लोगों को अच्छे नहीं लगते। जिन्हें शुरू में शेखर पसन्द नहीं आया था उन्होंने 'नदी के द्वीप' छपने के बाद शेखर को अच्छा मान लिया। लोग एक उपन्यास को पढ़कर लेखक के बारे में कोई धारणा बना लेते हैं। अगला उपन्यास उस धारणा को पूरा न करे तो उन्हें निराशा होती है।

'अपने अपने अजनबी' की भाषा की दुरूहता के विषय में अज्ञेय कहते हैं कि यह उपन्यास मैंने सर्वथा निराडम्बर और विशेषण-विमुक्त शैली में लिखने की कोशिश की है। विषयवस्तु के अनुरूप भाषा को मांसल की बजाय हड्डीदार बनाने का प्रयास रहा है। इस सम्बन्ध में 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय का वक्तव्य ध्यातव्य है – "दुरूहता अपने आप में कोई दोष नहीं है, न अपने आप में इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है कि बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।"

जोशीजी के प्रश्न – "आपकी लेखनी स्थल क्यों खोई हुई है ? अगर अमृतलाल नागरजी और अज्ञेयजी के गुण एक ही लेखक में होते तो हिन्दी कथा साहित्य का कल्याण हो जाता" – के जवाब में अज्ञेयजी का यह कहना बड़े मायने रखता है कि "मैं भारतीय तो हूँ और काफी सचेत रूप से हूँ, लेकिन भारत के किसी एक स्थान में या प्रदेश में मेरी जड़ें नहीं हैं, किसी एक समाज में अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाया हूँ। जानता हर समाज को हूँ। सोचकर तो उसके बारे में सोच ही सकता हूँ। लेकिन आंचलिक लेखकों के पास किसी अंचल या वर्ग से जैसा तादात्म्य है वैसा मेरे पास नहीं है। तो इसलिए मुझे कोई सच्ची बात कहनी हो तो सूक्ष्म का या आत्मकथन का सहारा लेना पड़ता है। ... वैसे मैं मानता हूँ कि एक ही लेखक में नागरजी और अज्ञेय दोनों के गुण हो सकते हैं। बल्कि यों कहूँ, होने चाहिए।"

अज्ञेय कहते हैं "किसी सिद्धान्त, धर्म या राजनीति के प्रति आस्थावान् होकर जो लिखता है वह अपने आराध्य के टूटने पर स्वयं भी टूट जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वयं अपने प्रति आस्थावान् और ईमानदार बनें। आज पश्चिम में भी इसी ईमानदारी की कमी देखी जाती है। वहाँ लेखन में चतुराई, चमक-दमक यह सब बहुत है, लेकिन अपने से पाबंद हों, ऐसे लेखक वहाँ भी बिरले हैं। 'सेल्फ कमिटमेंट' ही साहित्यकार के लिए सबसे बड़ी चीज है।" और जब जोशीजी कहते हैं कि इसकी व्याख्या कीजिए तो अज्ञेय का जवाब है "इसे अज्ञेय की एक अज्ञेय उक्ति ही रहने दीजिए।" और साक्षात्कार समाप्त हो जाता है। आखिर में जोशीजी लिखते हैं – "अज्ञेय उक्ति और उसके साथ एक आधी-आधी-सी मुस्कान, एक विचित्र काट का नाइट सूट गोया लिबास से, लहजे से अपने को भिन्न घोषित करता हुआ एक व्यक्तित्व। किसने कहा अज्ञेय बदल गया है ? वह वही गमले का फूल है, अच्छी खाद-मिट्टी पर बहुत ही सावधानी और प्यार से पाला गया फूल है, जिसे मध्यमवर्ग का मन कभी चाह नहीं सकता। उस मन को फूल चाहिए, जंगल के या कागज के।"

## 4.1.10. निष्कर्ष

राजेन्द्र यादव कहते हैं – "हमारे यहाँ चुटकुलों और गज़लों के नाम पर वज़न और काफियाहीन गालियों या धिक्कारों की जो बाढ़ आई हुई है उनसे भी बुरी हालत इंटरव्यूओं और परिचर्चाओं की है। हर पत्र आज इन्हीं से भरा हुआ होता है, जहाँ न व्यक्तिदर्शन है और न विषय का खुलासा।" (हंस, मई-जून 1990, पृष्ठ 12 )। पर साक्षात्कार 'एक अपना ही अजनबी' में व्यक्तिदर्शन भी है और विषय का खुलासा भी। यह साक्षात्कार शुरुआत में व्यक्तित्व उद्घाटक साक्षात्कार लगता है। लेकिन अपनी समाप्ति की घोषणा तक आते-आते यह अज्ञेय की रचनात्मकता, साहित्यिक सरोकार, लघु पत्रिकाओं की स्थिति, आलोचकीय कर्म, अनुवाद और साहित्यिक

आन्दोलनों के नाम पर पश्चिम के अन्धानुकरण को लेकर अज्ञेय की सोच और हिन्दी समाज की कुछ कमजोरियों पर बात करता हुआ अज्ञेय के व्यक्तित्व के साथ ही उनके विचारों का उद्घाटक साक्षात्कार बन जाता है। अज्ञेय कम में ज्यादा कहने की कला में सिद्धहस्त हैं। यह महारत उनकी छोटी कविताओं में भी देखी जा सकती है।

मनोहरश्याम जोशी के सवालों के जवाब संक्षेप में अज्ञेय ने धैर्य और ईमानदारी के साथ दिए हैं। चाहे प्रश्न अज्ञेय के पश्चात्तापों का था, चाहे नये साहित्यकारों की मदद या नये लेखकों पर पुराने लेखकों के प्रभाव का था, चाहे तारसप्तकों के कई कवियों के फिस होकर रह जाने का था, चाहे प्रश्न 'अपने अपने अजनबी' की भाषा की दुरूहता का था, चाहे हिन्दी लेखकों के जल्दी चुक जाने का था। सच कहते हुए अज्ञेय संकोची नहीं हुए। फिर बात चाहे प्रकाशकों की धूर्तता की हो, चाहे लघु पत्रिकाओं के गुटबंदी से ऊपर उठने की।

कई प्रश्न तो अज्ञेय के जवाब के आकार के हैं। क्यों न हों। यह साक्षात्कार "दो (तीन) प्रबुद्ध दिमागों की मुठभेड़ है।" कई प्रश्नों के तीर बहुत नुकीले हैं पर अज्ञेय ने सब तीरों को अपने धैर्य की ढाल से बचाकर आने दिया। ऐसे कुछ प्रश्नों के हिस्से देखिए – आपने जिन नये लेखकों को होनहार माना था उनमें से कई तो फिस होकर रह गए, नये लेखकों पर आपका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है, वक्तव्यवाद का मर्ज भी आपकी देखा-देखी बढ़ा है, आपको मानना होगा कि पाश्चात्य प्रेम और अधकचरी बौद्धिकता से आज जो खतरा पैदा हुआ है उसके लिए आप लोग भी जिम्मेदार हैं, आपकी लेखनी स्थल क्यों खोई हुई है ? आदि। लेकिन खूबसूरत बात यह कि इन प्रश्नों के जवाबों में कहीं भी अज्ञेय तिलमिलाए नहीं। अपना आपा खोए बिना उन्होंने जवाब दिए हैं। यह सच ही लिखा है मनोहरश्याम जोशी ने कि "अज्ञेय का तीसरा उसूल था कि अपनी इज्जत करो और दूसरों की भी ।"

अगर साक्षात्कार पढ़ने के बाद पाठक को यह लगे कि साक्षात्कारदाता से पाठक की मुलाकात हो गई है। तो समझो कि साक्षात्कारकर्त्ता की मेहनत सफल हो गई। अगर साक्षात्कार पढ़ने के बाद पाठक को यह लगे कि साक्षात्कारदाता को वह बहुत करीब से देख आया है और उसे ठीक से जान पाया है तो समझो कि साक्षात्कार के उद्देश्य की पूर्ति हो गई।

## 4.1.11. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| साक्षात्कारकर्त्ता | : | साक्षात्कार लेने वाला व्यक्ति। |
| साक्षात्कारदाता | : | जिस व्यक्ति से साक्षात्कार लिया जाए। |
| गदबदा | : | भरे हुए शरीर वाला, कोमल, मुलायम। |
| छप्पर | : | घास-फूस या पत्तों से बनाई छाजन या छत। |
| क्लिष्टता | : | कठिनाई, दुर्बोधता। |
| आत्मव्याख्या | : | अपने आप का विवेचन करना, आत्मनिरीक्षण। |
| अनुस्यूत | : | गूँथा या पिरोया हुआ, मिला हुआ। |
| लाइव टेलिकास्ट | : | सीधा प्रसारण |
| एफ़िडेविट | : | शपथपत्र |

| | | |
|---|---|---|
| वाइज़ | : | उपदेशक, धार्मिक या नैतिक उपदेश देने वाला व्यक्ति। |
| वार्तास्थल | : | बातचीत करने का स्थान। |
| असंदिग्ध | : | सन्देहरहित, शक-शुबहा से परे। |
| प्राणवत्ता | : | जीवन-शक्ति, प्राणवान् होने का भाव। |
| ज़ाया | : | बेकार, व्यर्थ, बरबाद। |
| बहरहाल | : | फिलहाल। |
| इडियट | : | बेवकूफ। |
| सुबहान अल्लाह | : | ईश्वर का पवित्र भाव से स्मरण करते हुए (एक अरबी शब्द पद जिसका अर्थ है 'ईश्वर धन्य है' या 'अल्लाह पाक है'), इसे किसी अद्भुत, अनूठी या अतिसुन्दर वस्तु को देखकर सराहने के भाव से बोलते हैं। |
| अवधूत | : | संन्यासी, साधुओं का एक भेद। |
| उन्मेष | : | खुलना (आँख का), मन्द या हल्का प्रकाश। |
| प्रतिक्रियावादी | : | वह सिद्धान्त या मत जो उन्नति या नवीन मान्यताओं या क्रान्ति का विरोधी हो |
| वट वृक्ष कॉम्प्लेक्स | : | अपने आपको बड़ा समझने का अहम भाव। |
| परिमल | : | एक साहित्यिक संस्था। |
| घुन्ना | : | अपने मन के भावों को छिपाए रखने वाला, वह व्यक्ति जो अपने क्रोध, द्वेष, दुःख आदि के भाव प्रकट न करता हो। |
| गुम्मा | : | चुप्पा, गुमसुम रहने वाला, उदास रहने वाला। |
| हौलदिली | : | डर, भय, आशंका। |
| प्रतीक | : | अज्ञेय द्वारा सम्पादित साहित्यिक पत्रिका। |
| विनर्स | : | विजेता। |
| रेसहॉर्स ऑनर | : | रेस के घोड़े के मालिक। |
| शेखर एक जीवनीक़ | : | अज्ञेय का पहला उपन्यास। यह दो भागों में प्रकाशित हुआ। |
| अपने अपने अजनबी | : | अज्ञेय का उपन्यास। |
| सेल्फ कमिटमेंट | : | आत्मप्रतिबद्धता। |
| अभियोक्ता | : | अभियोग लगाने वाला व्यक्ति, फरियादी, वादी। |

## 4.1.12. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र, 2007
2. गद्य की नई विधाओं का विकास, प्रो॰ माजदा असद
3. वर्धा हिन्दी शब्दकोश, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, 2014
4. साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार, डॉ॰ हरिमोहन, 2012
5. साहित्य विविधा, डॉ॰ रमेशचन्द्र लवानिया, 1985
6. तीसरा सप्तक, सं. : अज्ञेय
7. तार सप्तक, सं. : अज्ञेय

## 4.1.13. बोध प्रश्न / अभ्यास

### लघु उत्तरीय प्रश्न

01. साक्षात्कार में नाटकीयता और रोचकता का समावेश कैसे किया जा सकता है ?
02. साक्षात्कारकर्त्ता की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए ?
03. साक्षात्कार से पूर्व साक्षात्कारकर्त्ता को क्या-क्या तैयारी करनी चाहिए ?
04. मनोहरश्याम जोशी के साक्षात्कार लेने की कला के विषय में प्रो॰ माजदा असद का क्या कथन है ?
05. अज्ञेय के अनुसार लेखक को आत्मव्याख्या कब करनी पड़ जाती है ?
06. इस साक्षात्कार में अज्ञेय के बहाने जोशीजी ने हिन्दी लेखक समाज की किन विशेषताओं का जिक्र किया है ?
07. "लेकिन मेरी गर्दन आज भी सलामत है ।" मनोहरश्याम जोशी ने यह किस सन्दर्भ में कहा है ? स्पष्ट कीजिए।
08. अज्ञेय की उन विशेषताओं का उल्लेख कीजिए जो नये साहित्यकारों में भरी पड़ी हैं।
09. इस साक्षात्कार में अज्ञेय द्वारा प्रकट किए गए पश्चात्तापों को उद्घाटित कीजिए।
10. पुराने लेखक द्वारा नये लेखकों की मदद करने में किन खतरों का उल्लेख किया गया है ?
11. नन्दनजी के एक सवाल कि "लोगों का विचार है कि आप अध्यात्मवादी होते जा रहे हैं", के जवाब में अज्ञेय ने क्या कहा ?
12. भाषा की दुरूहता के विषय में अज्ञेय क्या कहते हैं ?
13. मनोहरश्याम जोशी के प्रश्न कि "आपकी लेखनी स्थल क्यों खोई हुई है ?", के उत्तर में अज्ञेय क्या कहते हैं ?
14. साक्षात्कार के आखिर में मनोहरश्याम जोशी अज्ञेय के विषय में क्या लिखते हैं ?
15. मनोहरश्याम जोशी ने अज्ञेय से कौन-कौन से नुकीले प्रश्न पूछे ?
16. राजेन्द्र यादव ने इंटरव्यूओं की हालत पर क्या कहा है?
17. 'अपने अपने अजनबी' की भाषा के विषय में अज्ञेय ने क्या कहा है ?

### अति लघु उत्तरीय प्रश्न

01. साक्षात्कार क्या है ?
02. स्वरूप के आधार पर साक्षात्कार के कौन-कौनसे भेद होते हैं ?
03. साक्षात्कार लेने के तीन तरीके कौन-कौनसे हैं ?
04. मनोहरश्याम जोशी ने साहित्यकारों के साथ ही किन-किन लोगों के साक्षात्कार किए ?
05. अज्ञेय का पूरा नाम क्या है ?
06. अज्ञेय के उपन्यासों के नाम बताइए ?

07. अज्ञेय कौन-कौनसी पत्र-पत्रिकाओं से सम्बन्धित रहे ?
08. अज्ञेय का चौथा उसूल क्या था ?
09. बंबई में अज्ञेय से मिलने जाते समय मनोहरश्याम जोशी के साथ कौन थे ?
10. अज्ञेय को कौन-कौनसे सम्बोधन नहीं आते ?
11. अज्ञेय पर किन पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव है ?

**अभ्यास**

1. निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(i) साक्षात्कार के दो प्रकार हैं – ..... ।

(ii) व्यक्ति प्रधान साक्षात्कार में ..... को टटोला जाता है।

(iii) द्विवेदी युग में हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने प्रख्यात संगीतकार..... से भेंट कर के संगीत विषयक प्रश्न पूछे थे। यह भेंटवार्ता ..... पत्रिका सितंबर 1905 के अंक में 'संगीत की धुन' नाम से प्रकाशित हुई थी।

(iv) साक्षात्कार के लिए सामान्यतया अँग्रेजी में ..... शब्द प्रयोग में लाया जाता है।

(v) साक्षात्कार शब्द के लिए हिन्दी में अन्य शब्द हैं ..... ।

(vi) साक्षात्कार एक तरह का ..... है।

(vii) कई बार साक्षात्कारदाता के विचार उसकी रचनाओं में इस तरह ..... अथवा घुले-मिले होते हैं। जैसे दूध में चीनी ।

(viii) कभी-कभी जब साक्षात्कारकर्त्ता ज्यादा टेढ़े सवाल करने लगे तो साक्षात्कारदाता का मूड ..... सकता है।

(ix) सर्वाधिक पसन्द किया जाने वाला साक्षात्कार तो वही होता है जिसमें साक्षात्कार ..... बैठकर लिया जाता है और जो ..... होता है।

(x) मनोहरश्याम जोशी को टी.वी. धारावाहिकों का ..... कहा जाता है।

(xi) अज्ञेय कविता में ..... के प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं।

(xii) नयी पीढ़ी अज्ञेय की ..... से बोर हुई पड़ी है।

(xiii) अज्ञेय, आज प्राचीनों में आधुनिक हैं और ..... में प्राचीन, यानी हर कहीं अजनबी।

(xiv) अज्ञेय की चर्चा से उन्हें वैसा ही संकोच होता है जैसा किसी किशोर को अपनी आया अथवा ..... देखकर हो सकता है।

(xv) बात यह है कि इस वक्त प्रगति की जो प्रगति है वह जीव को ..... मानकर ही चल रही है।

(xvi) अगर ..... और अज्ञेयजी के गुण एक ही लेखक में होते तो हिन्दी कथा साहित्य का कल्याण हो जाता।

(xvii) आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वयं अपने प्रति ..... और .....बनें।

(xviii) अज्ञेय का तीसरा उसूल था कि अपनी ..... करो और दूसरों की भी।

(xix) जब यह व्यक्तित्व बोलना शुरू करता है तो दुखद आश्चर्य के साथ, आप ..... को विदा करके ..... को न्योता देते हैं।

(xx) लहजा भी खास है – लय-युक्त और विराम .....।

(xxi) मेरा खयाल है कि सात में से तीन ..... निकलते रहें तो किसी भी ..... को संतोष ही होगा।

2. निम्नलिखित कथनों में सही गलत कथन की पचान कीजिए –

(i) साक्षात्कार से पहले साक्षात्कारकर्त्ता को तैयारी करनी पड़ती है।

(सही / गलत)

(ii) साक्षात्कार में जितना महत्त्व साक्षात्कारदाता का होता है उतना ही साक्षात्कारकर्त्ता का भी होता है।

(सही / गलत)

(iii) साक्षात्कार का एक ही प्रकार होता है।

(सही / गलत)

(iv) साक्षात्कार सोद्देश्य नहीं होता है।

(सही / गलत)

(v) विषय की समुचित जानकारी के अभाव में भी सफल साक्षात्कार लिया जा सकता है।

(सही / गलत)

(vi) साक्षात्कारदाता से बात निकलवाने के लिए कुछ टेढ़े सवाल भी करने पड़ते हैं।

(सही / गलत)

(vii) साक्षात्कार से पूर्व साक्षात्कारकर्त्ता को सम्बन्धित विषय या व्यक्ति विशेष के बारे में पूरी जानकारी जुटानी आवश्यक नहीं है।

(सही / गलत)

(viii) विषयीप्रधान साक्षात्कार में व्यक्ति के व्यक्तित्व को सामने लाने वाले प्रश्न किए जाते हैं।

(सही / गलत)

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 4 : विविध गद्य-रूप – 3

## इकाई – 2 : पत्र-साहित्य : भिक्षु के पत्र – भदन्त आनन्द कौसल्यायन

**इकाई की रूपरेखा**

4.2.00. उद्देश्य कथन
4.2.01. प्रस्तावना
4.2.02. पत्र का महत्त्व
4.2.03. साहित्यिक पत्र का महत्त्व
4.2.04. डायरी, साक्षात्कार और पत्र
4.2.05. अब पत्र की जगह ई-मेल ले रहा है
4.2.06. पत्र के सम्बन्ध में देशी-विदेशी साहित्यकारों के विचार
4.2.07. पत्र प्रकाशन में बरती जाने वाली सावधानियाँ
4.2.08. पत्र साहित्य परम्परा
4.2.09. 'भिक्षु के पत्र' का परिचय
4.2.10. 'भिक्षु के पत्र' लेखन का उद्देश्य और विषयवस्तु
4.2.11. पाठ-सार
4.2.12. शब्दावली
4.2.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.2.14. बोध प्रश्न

### 4.2.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप पत्र-साहित्य के अन्तर्गत 'भिक्षु के पत्र' का अध्ययन करेंगे। 'भिक्षु के पत्र' नामक पुस्तक में डॉ॰ भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा योगेन्द्र को लिखे गए पत्र संकलित हैं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन बौद्ध भिक्षु, पालि भाषा के मूर्धन्य विद्वान् तथा लेखक थे। अपने पूरे जीवन उन्होंने घूम-घूमकर राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. साहित्यिक पत्र के वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे।
ii. डायरी, साक्षात्कार और पत्र के मध्य भेद से परिचित हो सकेंगे।
iii. वर्तमान समय में पत्र-लेखन की दिशा और दशा से परिचित हो सकेंगे ।
iv. पत्र-लेखन के सम्बन्ध में के विचार जान सकेंगे।
v. प्रसिद्ध व्यक्तियों के पत्र-प्रकाशन में बरती जाने वाली सावधानियों से रू ब रू होंगे।
vi. पत्र-साहित्य-परम्परा को हृदयंगम कर सकेंगे।
vii. 'भिक्षु के पत्र' लेखन का उद्देश्य और विषयवस्तु समझ सकेंगे।

viii. बौद्ध धर्म की मान्यताओं से परिचित हो सकेंगे।

ix. बौद्ध धर्म को समझने में सहायक पुस्तकों को जान पाएँगे।

x. बौद्ध अनुयायियों की ईश्वर, आत्मा, वेद, वर्ण, पुनर्जन्म, फलित ज्योतिष, भाग्य, स्वप्न एवं कर्म विषयक अवधारणाओं से परिचित हो सकेंगे।

xi. डॉ॰ भदन्त आनन्द कौसल्यायन के कृतित्व एवं अभिव्यक्ति-कौशल से परिचित हो सकेंगे।

## 4.2.01. प्रस्तावना

कथेतर गद्य विधा में पत्र का अपना महत्त्व है। अपनी कहना और दूसरे की सुनना मनुष्य का मूल स्वभाव है। समूचा साहित्य और कलाएँ इसी मानव स्वभाव का परिणाम हैं। यूँ पत्र तो लम्बे समय से लिखे-भेजे जाते रहे हैं लेकिन हिन्दी साहित्य में पत्र को स्वतन्त्र विधा के रूप में पहचान और महत्ता आधुनिक काल में ही प्राप्त हुई है।

'पत्र' अर्थात् अपने विचारों, भावों, अनुभवों आदि को अनौपचारिकता और सहजता के साथ बिना किसी मुहावरे के, बिना किसी बिम्ब-प्रतीक के, बिना किसी लच्छेदार भाषा के प्रयोग के किसी दूसरे व्यक्ति तक लिखित रूप में पहुँचाना। पत्र 'टू द पॉइंट' होता है लेकिन इसमें पॉइंट कई हो सकते हैं। यहाँ महत्त्व पत्र लेखक या प्रेषक का तो है ही, पाने वाले का भी होता है। यूँ तो पत्र कई प्रकार के हो सकते हैं – औपचारिक, अनौपचारिक, प्रकाशन के लिए लिखे गए पत्र और सिर्फ पढ़ने के लिए लिखे गए पत्र, शिकायती पत्र, सूचनात्मक पत्र, निमन्त्रण पत्र, कार्यालयी पत्र, निजी पत्र, सम्पादक के नाम पत्र, साहित्यिक पत्र, सामाजिक पत्र, प्रेमिल पत्र आदि। इसी तरह संदेशात्मक, व्यवहारात्मक, निदेशात्मक पत्र भी होते हैं।

पत्र छोटे, बड़े, मध्यम सभी तरह के होते हैं। पत्र आकार में सामान्यतया छोटे होते हैं लेकिन साहित्यकारों द्वारा बड़े पत्र भी लिखे गए हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी को हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शान्तिनिकेतन से कई बड़े पत्र लिखे। बड़े पत्र में भी काम की बात होती है तो वह शुष्क और उबाऊ नहीं होता। और छोटे पत्र में भी अगर काम की बात नहीं है तो उसका महत्त्व भी सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी बड़े काम के पत्र आपके पास जमा हो जाते हैं जो कालान्तर में साहित्य की अमूल्य धरोहर साबित हो सकते हैं।

अगर किसी साहित्यकार, विचारक या चिन्तक के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन करना हो तो उसके द्वारा अपने मित्रों, घर-परिवार के लोगों को लिखे गए पत्रों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। क्योंकि वहीं वह अपने मूल रूप में यानी 'जैसा है वैसा का वैसा' पकड़ा जाता है। इसलिए पत्र विधा को हिन्दी साहित्य में गम्भीरता से लिया जाने लगा है। किसी बड़े साहित्यकार से पत्र पाकर हम खुशी से उछल पड़ते हैं। ऐसे जैसे कि बहुत बड़ी निधि प्राप्त हो गई है। ऐसा पत्र मिलता भी तो बड़ी मुश्किल से है।

पत्र, पत्र-लेखक के स्वभाव, उसकी प्रकृति और उसके व्यक्तित्व को परिभाषित करता है। व्यक्तिगत पत्र अगर पढ़ें तो पता चल जाता है कि लेखक कर्मठ है या संघर्षशील है। दृढ़ निश्चयी है या भावुक है। मिलनसार है कि एकान्तप्रिय है। सच्चा, साहसी, ईमानदार है कि डरपोक लापरवाह, स्वार्थी या कि अध्यवसायी है। कहने का

अर्थ कि पत्र द्वारा पत्र-लेखक का चरित्र बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। रिश्तों को लेकर उसमें कितनी गहराई, घनिष्ठता है या कि अन्तरंगता है। दूसरों की परेशानियों को लेकर कितनी चिन्ता है उसमें। पत्र पढ़कर पत्र-लेखक का व्यक्तित्व सामने आता है और अगर पत्र-लेखक साहित्यकार है तो उसकी रचनाओं को भी उसके लिखे पत्रों की रोशनी में ज्यादा अच्छी तरह से देख पाएँगे और समझ पाएँगे।

जब पत्र-लेखन को हम कला कहते हैं तो हमारे दिमाग में पत्र-लेखन से पूर्व पत्र का खाका खिंच जाता है। किस बात के लिए कौनसे शब्द उपयोग में लाए जाएँ, यह पत्र-लेखक सोच लेता है। जब बात सोच लेता है तो उसके लिए भाषा की भी थोड़ी बहुत तैयारी हो ही जाती है। पत्र-लेखन को कला अगर कहें तो इस कला के प्रवर्तक हिन्दी साहित्य में पद्मसिंह शर्मा को कहा जा सकता है।

## 4.2.02. पत्र का महत्त्व

साहित्यिक पत्रों में विषय और शैली या कथ्य और भाषा दोनों का महत्त्व होता है। इन पत्रों में पत्र प्रेषक का व्यक्तित्व, उसका मानसिक धरातल और अनेक विषयों में उसकी सोच सबका पता चलता है। क्योंकि यहाँ वह अपने सब चेहरे उतारकर बात करता है। निज को खोलकर रखता है। क्योंकि यह निजता किसी के सामने उजागर होने वाली नहीं होती है। सामान्य रूप से वह सावचेत नहीं होता है। इसलिए यहाँ वह निःस्संकोच होकर लिखता है। इसी कारण जितनी सरलता, जितनी सच्चाई यहाँ मिलती है अन्यत्र मुश्किल है। इसी कारण निजता की गुंजाइश यहाँ सर्वाधिक होती है। लेकिन अब पत्र सावचेत होकर भी लिखे जाते हैं। ये पत्र छपने के लिए ही लिखे जाते हैं। आजकल बहुत से साहित्यकार दूसरे साहित्यकार को पत्र सचेत होकर लिखते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि पत्र साहित्य का भी साहित्य की दुनिया में वैसा ही महत्त्व है जैसा अन्य विधाओं का। हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की इस बात को मानने से भले हिचकिचा सकते हैं कि "शरीर में रक्त मांस का जो स्थान है, वही स्थान जीवन-चरित्रों में छोटे-छोटे किस्से-कहानियों तथा पत्रों का है" लेकिन डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल की इस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता, जब वे कहते हैं कि "मेरी समझ में किसी व्यक्ति की भारी-भरकम साहित्यिक कृति आँधी के समान है। उसके साहित्यिक पत्र उन झौंकों के समान हैं जो धीरे से आते-जाते रहते हैं और वायु की थोड़ी मात्रा साथ लाने पर भी साँस बनकर जीवन देते हैं। अन्न की उत्पत्ति और मेघों की उत्पत्ति के लिए अंधड़ भी चाहिए, पर मन्द वायु में जो फरहरी है, उसका भी अनूठा आनन्द है।"

असल में पत्र वह रोशनदान है जिसमें लगी जाली से झाँककर हम प्रेषक या लेखक के व्यक्तित्व को कुछ कुछ जान सकते हैं। जैसे रोशनदान से थोड़ी सी धूप, थोड़ी सी बारिश, थोड़े से मिट्टी के कण, थोड़ी सी सर्दी, थोड़ी सी गर्मी, थोड़ी सी पतझड़, थोड़ा सा वसन्त भीतर उतरकर आता है, वैसे ही पत्र भी प्रेषक के विषय में उसके व्यक्तित्व के साथ ही मानसिकता की झलक देता है। अपने जीवन में घटी किसी घटना के माध्यम से वह अपनी हँसी-खुशी, दुःख-सुख की बात करता है। किसी विषय-विशेष की बात करता है। अपनी उदासियों की बात करता है। अपनी सफलता-असफलता की बात करता है। आशा-उम्मीद, निराशा की बात करता है। शिक्षा भी देता है तो विषय का खुलासा भी करता है। साहित्यिक रूप से मूल्यवान् पत्र में 'मैं' धीरे-धीरे खुलता, पिघलता, बहता

हुआ बृहत्तर मानव समुदाय को सम्बोधित होते हुए उसी में जाकर विलीन हो जाता है। वह किसी एक की निजी सम्पत्ति बनकर नहीं रह जाता बल्कि बहुत सों के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन जाता है। आवश्यक 'एसेट' बन जाता है।

अक्सर पत्र निजी होते हैं जो प्रकाशित होने के लिए कतई नहीं होते। लेकिन कुछ पत्र ऐसे भी लिखे गए जिनका लेखन प्रकाशन के लिए किया गया। यह सोचकर लिखे गए कि इनके प्रकाशन से अन्य बहुत से व्यक्तियों को कोई सीख मिलेगी। वे विषय-विशेष को ठीक से जान पाएँगे। उनकी कुछ भ्रान्तियाँ दूर हो सकेंगी। उनके लिए वे उपयोगी साबित होंगे। गाँधीजी के पत्र, नेहरूजी के पत्र ऐसे ही पत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे पत्र 'स्व' की आन्तरिक दुनिया से निकलकर विशाल 'पर' की खुली दुनिया को अपनी बाँहों में भरने का माद्दा रखते हैं। पूरा आसमान ढकने की क्षमता रखते हैं। समूची धरती की खुशहाली की बात करते हैं।

पत्र, लेखक के व्यक्तित्व के कई पक्षों का उद्घाटन कर देता है और इसकी खास बात यह है कि यह उद्घाटन लेखक स्वयं करता है और इसमें काफी कुछ ईमानदारी भी बरती जाती है क्योंकि लेखक जानता है कि सामने वाला व्यक्ति इसे पढ़ेगा, इसका उत्तर देगा। वह उसे जानता भी है। प्रति-प्रश्न भी पूछा जा सकता है। इसलिए खरपतवार के लिए यहाँ जगह नहीं होती है। कोई पत्र ऐसा होता है जो किसी विषय-विशेष के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ देता है। ऐसे सायास पत्र में लेखक के व्यक्तित्व का उभार कम होगा विषय का अधिक होगा। ये पत्र प्रकाशित होने के लिए होते हैं। उनका 'टार्गेट' एक नहीं बल्कि अनेक होते हैं। इसलिए कथ्य के साथ भाषा और शैली का भी खास ध्यान रखा जाता है।

### 4.2.03. साहित्यिक पत्र का महत्त्व

वह पत्र जो अपने आत्म का इतना विस्तार कर लेता है कि उसका आत्म सबका आत्म बन जाए तब वह साहित्य की अमूल्य धरोहर बन जाता है। जो पत्र असंख्य व्यक्तियों को सीख या प्रेरणा देता है वह पत्र साहित्यिक विधा के रूप में ख्याति प्राप्त करता है और तब वह किसी एक व्यक्ति के पढ़ने के लिए नहीं रह जाता। उसकी निजी सम्पत्ति मात्र बनकर नहीं रह जाता बल्कि वह सार्वजनिक बनकर बहुत से व्यक्तियों को दिशा-निर्देश देता है, रास्ता दिखाता है। किसी अँधेरी गली में रोशनी की छोटी सी किरण बनकर, जुगनू बनकर, दिया बनकर रास्ता दिखाता है। ऐसे पत्र हजारों दिलों पर राज करते हैं। और ये पत्र किसी राज्य या देश या राष्ट्र की सीमा को नहीं मानते बल्कि पक्षियों की तरह हजारों-लाखों कोसों की यात्रा कर कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। और अपने विषय और उसकी प्रस्तुति के कारण एक दिन अमर हो जाते हैं। इनकी खास बात यह होती है कि इन पत्रों का लेखक जानता है कि ये पत्र सिर्फ एक व्यक्ति के पढ़ने के लिए नहीं लिखे जा रहे हैं बल्कि इनके पाठक असंख्य होंगे। उन सब पाठकों को दृष्टि में रखते हुए ये पत्र लिखे जाते हैं। इस तरह यह सोच-विचारकर लिखे जाते हैं कि इन्हें बहुत बड़ा मानव समुदाय पढ़ेगा। उसे इन पत्रों से सीख मिलेगी। उनके लिए उपयोगी साबित होंगे। उन्हें प्रेरणा मिलेगी। अपना रास्ता मिलेगा। अपनी मंजिल मिलेगी। किसी विषय का सही अर्थ ज्ञात होगा। गाँधीजी के पत्र, नेहरूजी के 'अपनी पुत्री को लिखे हुए पत्र' (हिन्दी अनुवाद), धीरेन्द्र वर्मा के पत्र, भदन्त आनन्द कौसल्यायन-कृत 'भिक्षु के पत्र', सुमनजी के 'भाई के पत्र', श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'पत्नी के पत्र', पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के

पत्र, प्रभाकर माचवे द्वारा सम्पादित पत्र 'जैनेन्द्रजी के विचार' इसी श्रेणी में आते हैं। पण्डित पद्मसिंह शर्मा के पत्र भी बनारसीदास चतुर्वेदी तथा पण्डित हरिशंकर शर्मा के सम्पादन में छप चुके हैं। वे भी इन्हीं पत्रों की श्रेणी में आते हैं।

'काव्य के रूप' (पृष्ठ सं. 235) में बाबू गुलाब राय पत्र की उपयोगिता, पत्र और आत्मकथा के अन्तर, पत्र के विषय, कथ्य और शैली के महत्त्व आदि पर प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं – "पत्रों का स्थान एक प्रकार से आत्मकथा में ही आता है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मकथा में व्यक्ति का इतिहास सम्बद्ध होता है, पत्रों में कुछ असम्बद्ध-सा रहता है। पत्र साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उनके द्वारा हम को लेखक के सहज व्यक्तित्व का पता चल जाता है। उसमें हमको बने-ठने 'सजे सजाए' मनुष्य का चित्र नहीं वरन एक चलते-फिरते मनुष्य का स्नेप शॉट (Snap Shot) मिल जाता है। लेखक के वैयक्तिक सम्बन्ध, उसके मानसिक और बाह्य संघर्ष तथा उसकी रुचि और उस पर पड़ने वाले प्रभावों का हमको पता चल जाता है। पत्रों में कभी-कभी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक इतिहास की झलक भी मिल जाती है। आत्मकथा की भाँति कुछ पत्रों का महत्त्व उनके विषय पर निर्भर रहता है, कुछ का शैली पर। जिन पत्रों के विषय और शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण हों वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाते हैं।"

"समग्रतः 'पत्र' ऐसी विधा है, जिसमें लेखक अपने किसी प्रियजन आत्मीय अथवा सामान्यजन को सम्बोधित कर किन्हीं विषयों पर हार्दिक प्रतिक्रिया प्रस्तुत करता है। वह उससे संवाद स्थापित करता है। इसका मुख्य उद्देश्य लेखक का विशेष अन्तरंगता के साथ आत्म-प्रकाशन है। इसमें सहजता और प्रेषणीयता का विशेष ध्यान रखा जाता है। पत्र में मूलतः किसी खास व्यक्ति के किसी खास विषय या घटना या प्रसंग के सम्बन्ध में लिखे गए विचार निहित रहते हैं।" (साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार, डॉ॰ हरिमोहन, पृष्ठ 270)। पत्र भले कोई सामान्य व्यक्ति भी लिखे अगर उसमें कोई साहित्यिक मूल्य है तो वह पत्र उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि बड़े लेखक का पत्र। अगर पत्र लेखक की रचना दृष्टि, उसके विचार, उसकी मानसिकता और उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में सक्षम है तो उस पत्र की साहित्यिकता असंदिग्ध है।

### 4.2.04. डायरी, साक्षात्कार और पत्र

आप कोई किताब पढ़ रहे हैं, उसका कोई अंश आपको प्रभावित कर गया, भीतर तक छू गया, आप उसे डायरी में उतार सकते हैं लेकिन पत्र में इसके लिए स्थान नहीं है। इसमें आप अपनी बात करते हैं और अपनी बात इतनी ही लम्बी होती है कि उबाऊ न बन जाए। उत्सुकता बनी रहे। और होता यह भी है कि पत्र पढ़ने के उपरान्त कई प्रश्न फिर अनुत्तरित रह जाते हैं और फिर पत्र लिखना शुरू हो जाता है। एक पत्र में प्रश्न होते हैं और दूसरे में उसके उत्तर। यह सिलसिला लम्बा भी चल सकता है। लेकिन यह साक्षात्कार बिलकुल नहीं होता। यहाँ प्रश्न निजी होते हैं उनके जवाब एक-दो पंक्तियों में भी सिमट सकते हैं। और दोनों तरफ से प्रश्न-उत्तर हो सकते हैं।

डायरी में एक अकेला लेखक होता है जबकि पत्र में लेखक / प्रेषक और पाठक अर्थात् दो व्यक्ति होते हैं। कभी-कभी तीन व्यक्ति भी हो सकते हैं – प्रेषक, वक्ता और श्रोता। डायरी अपने लिए होती है जबकि पत्र दूसरे के लिए होता है। डायरी में एक विशेष समय की, विशेष मनःस्थिति होती है जबकि पत्र में कई तरह की बातें जैसे प्रेम, गुस्सा, सूचना, उदासी सब एक साथ हो सकते हैं। माना कि डायरी अपने मन के द्वन्द्व, अपने आत्म के विश्लेषण की जगह है। यह किसी को कुछ समझाती नहीं, किसी से कुछ करने को नहीं कहती, ज्ञान नहीं बघारती, यह दिल की बातें करती है, भावनाओं की बातें करती है और पत्र भी यह करता है। लेकिन डायरी सूचनात्मक नहीं होती जबकि पत्र सूचनात्मक भी हो सकता है।

डायरी में निजी जीवन के किसी पल का इतिहास होता है जबकि पत्र में एक नहीं अनेक समाचार होते हैं, सूचनाएँ होती हैं,जानकारियाँ और शिकायतें होती हैं, उलाहने, हँसी और आँसू होते हैं। मिलन-विरह की बातें होती हैं, मान-मनौवल भी होता है। समस्याएँ होती हैं तो कभी-कभी उनके समाधान भी होते हैं।

### 4.2.05. अब पत्र की जगह ई-मेल ले रहा है

पहले चिट्ठी को डाकिया ले जाता था या कबूतर ले जाता था पर अब कबूतर वाला दौर समाप्त हो गया है। अब पत्र का स्वरूप बदल रहा है। पहले की तरह लिफाफे या अन्तर्देशीय पत्र या पोस्टकार्ड पर लिखकर सन्देश, सूचना, जानकारी, शिकायत, प्रेम, गुस्सा कम जताया जाता है। अब नायिकाएँ नहीं कहतीं 'पहले प्यार की पहली चिट्ठी साजन को दे आ कबूतर जा।' अब मोबाइल, फेसबुक, वाट्सएप और ई-मेल आ गए हैं। अब तो पत्र बिना पेन-पन्ने के सामने वाले के पास पहुँच जाते हैं और वह पढ़कर तत्काल जवाब भी देता है। पहले पत्र मिलने में दिनों लग जाते थे। इसलिए जल्दी सूचना के लिए तार दिए जाते थे। लेकिन अब स्थितियाँ बदल चुकी हैं। तार सेवा बन्द हो चुकी है। पत्र सेवा का चलन भी बहुत कम रह गया है। वाट्सएप, ई-मेल द्वारा पलों में सामग्री दूसरी जगह पहुँच जाती है। और तत्काल ही जवाब भी आ जाता है। खाली जवाब ही नहीं उसके साथ प्रेम व गुस्सा दिखाते हर भाव-भंगिमा दर्शाते स्माइली भी आ जाते हैं। मोबाइल पर बात कर ली जाती है। अगर लिखना-पढ़ना आता है तो वाट्सएप है ना। पहले की तरह अब कहाँ चिट्ठीरसाँ की उडीकना। पहले की तरह कहाँ चिट्ठीरसाँ द्वारा चिट्ठी का पढ़ना। इतना समय किसके पास है कि पहले तो लिखना फिर पाँच-दस दिन में चिट्ठी का पहुँचना फिर किसी से पढ़वाना फिर किसी से जवाब लिखवाना। पत्र-लेखन का पुराना तरीका अन्तिम साँस ले रहा है। अशिक्षा के धीरे-धीरे दूर होने और कंप्यूटर के आने से यह दूरी क्रमशः कम होती जा रही है।

### 4.2.06. पत्र के सम्बन्ध में देशी-विदेशी साहित्यकारों के विचार

कई पुराने बड़े साहित्यकार 'पत्र लेखन' को बीमारी या व्यसन कहते हैं। मज़ाक में कभी खसरा तो कभी मलेरिया कहते हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी को यह बीमारी या व्यसन कोई सत्तर साल से था। इस व्यसन को वे मछली के शिकार जैसा व्यसन मानते थे। दोनों में ही अनन्त धैर्य की आवश्यकता होती है। पद्मसिंह शर्मा 'पद्म पराग' में एक स्थान पर कहते हैं कि – "पत्र व्यवहार मुझे एक व्यसन-सा लग रहा है। पत्र लिखते-लिखते ही मैंने

कुछ लिखना सीखा है।" पत्रों के सम्बन्ध में देशी-विदेशी कई साहित्यकारों में मतभेद हैं। कोई इसे समय की बरबादी कहता है तो कोई इससे लिखना सीखता है। कोई इसे बीमारी कहता है और इसे साहित्यिक जीवन को नष्ट करने वाला मानता है। बीमारी भी ऐसी कि जिसका पता है और इलाज भी नहीं करवाते हैं। बल्कि बीमारी को पालकर रखते हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी अपनी पुस्तक 'महापुरुषों की खोज में' लिखते है कि जर्मन कवि गेटे उन्हीं पत्रों के जवाब देते थे जिनमें उन्हें कुछ देने की बात होती थी। जिन पत्रों में उनसे कुछ लेने की बात होती थी, उन्हें वे फाड़ देते थे। ऑस्कर वाइल्ड भी पत्र कम लिखते थे। उनका मानना था कि पत्रों का उत्तर देना अपने साहित्यिक जीवन को नष्ट करना है। अमरीका के कवि थोरो को पत्र लेखन में रुचि नहीं थी। उन्होंने कहा – "जो आदमी भाग-भागकर डाक खाने जाते हैं और वहाँ से अपने नाम आए पत्रों का पुलंदा लाते हैं ... ऐसा प्रतीत होता है, उन्हें बहुत दिनों से अपने भीतर वाले से कोई खबर नहीं मिली।"

इसके विपरीत दूसरी घटना देखिए। बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं कि "सुप्रसिद्ध लेखक रोमां रोलां को भी पत्र व्यवहार का व्यसन था। और यह व्यसन उन्हें लेव तोलस्तोय ने लगाया था। अपनी छात्रावस्था में रोमां रोलां ने लेव तोलस्तोय के नाम एक पत्र लिखा था। उन्हें इस बात की बिल्कुल आशा न थी कि वह महान् लेखक एक मामूली विद्यार्थी के पत्र का उत्तर देगा, पर लेव तोलस्तोय ने अड़तीस पृष्ठ का जवाब भेज दिया। बस उसी दिन से रोमां रोलां ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि यदि कोई आदमी अपने संकट के समय में अपनी अन्तरात्मा से प्रेरित होकर पत्र लिखेगा तो उसका उत्तर अवश्य दूँगा। परिणामस्वरूप उन्होंने सहस्त्रों ही पत्र लिखे।" (महापुरुषों की खोज में, पृष्ठ 206) लेकिन महादेवीजी और माखनलाल चतुर्वेदी ने भी धीरे-धीरे पत्रों के उत्तर देने कम किए। उनके हिसाब से पत्र का उत्तर न देना ही सर्वोत्तम उत्तर है।

### 4.2.07. पत्र प्रकाशन में बरती जाने वाली सावधानियाँ

चूँकि पत्र-लेखक के पास उसके पत्र नहीं रहते बल्कि वे प्राप्तकर्त्ता के पास होते हैं। अगर वह उन्हें प्रकाशित करवाए तो प्रश्न उठता है कि क्या उन पत्रों को ज्यों का त्यों प्रकाशित करवा दे या उनका ऐसा अंश जिससे लेखक या प्राप्तकर्त्ता के मान-सम्मान में कोई कमी आए तो क्या उसे छपवाए? ऐसे में बाबू गुलाब राय का मत है कि लेखक के अतिरिक्त जिन पत्रों में दूसरे के रहस्यों का उद्घाटन हो और जिनके कारण उनको समाज में लज्जित होना पड़े, छापना उचित नहीं है। लेखक के रहस्यों के उद्घाटन करने वाले पत्रों को उसके जीवनकाल में न छापकर उसकी मृत्यु के पश्चात् छाप सकते हैं, विशेषकर जबकि लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता हो या उनमें साहित्यिकता हो। वैयक्तिक भावनाओं वाले पत्रों के विषय में उनका मत है कि पत्रों में से व्यक्तियों के नाम हटा दें और इस बात का ध्यान रखें कि वे पत्र कुरुचि के प्रचारक न बन जाएँ। अंगेजी कवि जॉन कीट्स के निजी पत्रों के सम्बन्ध में, जो उसने फेनी ब्राउने को लिखे थे, बड़ा विवाद हुआ। बाबू गुलाब राय के शब्दों में कहें तो "वास्तव में पत्रों के चुनाव में हमको पत्रों का उतना ही अंश देना चाहिए जिससे कि व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़े, कुरुचि का प्रचार न हो और दूसरों को किसी प्रकार लज्जित न होना पड़े।" (काव्य के रूप, पृष्ठ 237)

पत्र में सम्बोधन, अभिवादन और नाम का भी अपना महत्त्व होता है। सम्बोधन, अभिवादन आदि से पता चल जाता है कि इस पत्र का स्वरूप कैसा होगा। यह निजी पत्र है कि सम्पादक के नाम है या कि प्रेम पत्र है। अगर पत्र में सम्बोधन, अभिवादन, अपना हस्ताक्षर या नाम नदारद हुए तो आपको बलपूर्वक सिद्ध करना होगा कि यह जो सामग्री आप पढ़ रहे हैं यह पत्र है और फलाना पत्र है। आप इसे नोट समझने की भूल न करें। या कि इसे डायरी न समझें। हर विधा का अपना फॉर्मेट होता है। फॉर्मेट से बाहर निकलने का हक और आजादी रचनाकार को होती है। माना कि वह फॉर्मेट लचीला होता है लेकिन फॉर्मेट तो हो।

पत्र की बाह्य कलात्मकता प्रेषक की कलात्मक रुचि पर निर्भर करती है। व्यक्तिगत पत्र अच्छी हस्तलिपि में, अच्छे कागज पर, अनेक रंग की स्याही से लिखे जाते थे। प्रो॰ माजदा असद अपनी पुस्तक 'गद्य की नई विधाओं का विकास' में लिखती हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पत्रों के अन्तर्बाह्य रूप में अपनी सहज भावुकता और कलात्मकता का परिचय दिया। सप्ताह के सात दिनों के लिए सात रंग का कागज प्रयोग किया – इतवार को गुलाबी, सोमवार को सफ़ेद, मंगलवार को लाल, बुधवार को हरा, गुरुवार को पीला, शुक्रवार को श्वेत, शनिवार को नीला, जिन पर आशय प्रकट करने वाले शब्द या वाक्य छपवाए रखते थे। जैसे 'सलाम', 'प्रेम', 'कुशल', 'शीघ्र', 'और कोई न खोले', 'गुप्त', 'आवश्यक', 'शीघ्र उत्तर' आदि। उन्हें वे लिफाफे पर लगा दिया करते थे। फिर भी बाहरी टीम-टाम या कृत्रिमता से भीतरी सरलता, सहजता का महत्त्व अधिक होता है। पत्र के लिए बाहरी सजावट से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है आत्म उद्घाटन। जो चीज पत्र को पत्र बनाती है वह है उसका कथ्य। सामान्य रूप से उसमें सचाई, आत्मीयता, सहजता होती है। पत्र के विषयानुरूप उसकी भाषा-शैली होती है।

## 4.2.08. पत्र साहित्य परम्परा

संस्कृत साहित्य में पत्रों का उल्लेख मिलता है। लेकिन हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य की अनेक विधाओं की तरह ही पत्र साहित्य की शुरुआत कर उसके लेखन को समृद्ध किया। प्रो॰ माजदा असद लिखती हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'प्रेमघन' को लिखे एक पत्र से पता चलता है कि आर्थिक संकट में वह उनसे सहायता लेते थे। एक पत्र में वह लिखते हैं "मेरे प्यारे, हाथ थर्राते हैं लिखा नहीं जाता। आप कृपापूर्वक 200 रुपए मुझे उधार दीजिए इसके बदले मुझे हमारे जीवन में सबसे बेशकीमती चीज ईमान को आप रेहन रखिए। ईश्वरेच्छानुकूल तो 20 वा 30 दिन में ही मैं लौटा दूँगा। न जाने किस संकट से और क्या सोचकर आपको लिखा है।" इस काल में पत्र-लेखन होता रहा लेकिन सन् 1904 में हिन्दी साहित्य का पहला पत्र-संग्रह स्वामी दयानन्द सरस्वती से सम्बन्धित पत्रों का प्रकाशित हुआ। यह संकलन महात्मा मुंशीराम ने किया। इसके पश्चात् सन् 1909 में स्वामी दयानन्द सरस्वती के चिन्तन-मनन को दर्शाता 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' पत्र-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन पण्डित भगवद् दत्त ने किया। 1922 में सतीशचन्द्र द्वारा सम्पादित 'पत्रांजलि' पत्र-संग्रह प्रकाशित हुआ। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के 1912-1920 के मध्य लिखे गए लगभग 153 पत्रों का संग्रह आया 'पत्रावलि'। जवाहरलाल नेहरू द्वारा अंग्रेजी में लिखित और हिन्दी में प्रेमचंद द्वारा अनूदित 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' के बाद 1931 में औरंगजेब के ऐतिहासिक पत्रों का संग्रह 'आलमगीर के पत्र' प्रकाश में आया जिसका सम्पादन शान्तिप्रिय आत्माराम ने किया। 1940 में छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज से आनन्द कौसल्यायन के पत्रों का

स्वतन्त्र संकलन 'भिक्षु के पत्र' प्रकाश में आया। 1944 में डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा का पत्र-संकलन 'यूरोप के पत्र', सत्यभक्त स्वामी का 'अनमोल पत्र' (1950), बनारसीदास चतुर्वेदी तथा हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' (1956), वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' (1960), कमलापति त्रिपाठी द्वारा लिखित 'बंदी की चेतना' (1962), अमृतराय के सम्पादन में प्रेमचंद के पत्रों का संग्रह 'चिट्ठी-पत्री' के दो भाग, काका कालेलकर द्वारा संगृहीत 'बापू के पत्र', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' द्वारा सम्पादित 'फाइल और प्रोफाइल' (1970 ), वृन्दावनलाल वर्मा के सम्पादन में 'बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र' (1971), जानकी वल्लभ शास्त्री द्वारा सम्पादित 'निराला के पत्र' (1971), हरिवंशराय बच्चन द्वारा सम्पादित 'पन्त के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' 1971 में प्रकाशित हुए। इसके बाद तो जैसे एक के बाद एक पत्र-संग्रह प्रकाश में आते गए। यशपाल के पत्र (1977), 'द्विवेदीजी के पत्र पाठकजी के नाम' (1982 ), हजारीप्रसाद द्विवेदी के पत्रों का संग्रह 'पत्र' (1983), नेमिचन्द्र जैन द्वारा उनके और मुक्तिबोध के बीच हुए पत्रों का संकलन 'पाया पत्र तुम्हारा' (1984) आदि पत्र-संकलन उल्लेखनीय हैं।

हरिवंशराय बच्चन के ग्रन्थ 'कवियों में सौम्य सन्त' (1960) में सुमित्रानन्दन पन्त के 126 पत्र संकलित हैं। डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'शान्तिनिकेतन से शिवालिक तक' (1967) में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनेक साहित्यकारों को लिखे पत्र संकलित हैं। हिन्दी पत्र-साहित्य के विकास में अनेक पत्रिकाओं ने महती भूमिका का निर्वाह किया है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, चाँद, माधुरी, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान ज्ञानोदय, हंस, सम्मेलन पत्रिका, राष्ट्रवाणी आदि पत्रिकाओं ने पत्रों को स्थान देकर पत्र-साहित्य के विकास में योगदान किया। 1965 में 'राष्ट्रवाणी' का 'मुक्तिबोध स्मृति अंक' निकला जिसमें मुक्तिबोध की कविता की रचना-प्रक्रिया और उनके संघर्षपूर्ण जीवन के चित्र मिलते हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (डॉ॰ नगेन्द्र) के अनुसार 'सम्मेलन पत्रिका' (1982) के पत्र विशेषांक में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक सौ उनसठ, प्रेमचंद के सात, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के चौदह, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के पन्द्रह, राहुल सांकृत्यायन के चालीस, रामधारीसिंह दिनकर के छह, सियारामशरण गुप्त के तीन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी के तेरह, शिवपूजन सहाय के छत्तीस तथा उदयशंकर भट्ट के छत्तीस पत्र संकलित हैं। इसी प्रकार लगभग सभी पत्रिकाओं में 'आपका पत्र मिला', 'चिट्ठी पत्री', 'पत्र प्रसंग' आदि स्तम्भों के अन्तर्गत पाठकों के पत्र प्रकाशित होते रहते हैं जिनमें साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म आदि से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं के विषय में जनता के विचारों की अभिव्यक्ति रहती है।

नेहरूजी ने अपनी पुत्री इंदिरा गाँधी को अनेक विषयों की शिक्षाप्रद बातें पत्रों द्वारा बताई। 'ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार' में दयानन्द सरस्वती के चिन्तन-मनन की झलक मिलती है। 'शान्तिनिकेतन से शिवालिक तक' में संकलित पत्रों द्वारा आचार्य द्विवेदी की अभिरुचियों और उनके साहित्य पर रोशनी पड़ती है।

कुल मिलाकर इन सभी पत्रों में उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक परिस्थितियों का विश्वसनीय लेखा-जोखा मिलता है। समसामयिक इतिहास, भूगोल, धर्म और रोज़मर्रा की समस्याओं से भी पाठक का परिचय होता है। साहित्य की स्थिति, उसके क्रमिक विकास और महत्त्व के साथ ही उसकी समस्याओं से भी

पाठक रू ब रू होता है। इस तरह पत्र रूपी दर्पण में हम उस समय के समाज और साहित्य का असल चेहरा देखते हैं। असल इसलिए कि दर्पण कभी झूठ नहीं बोलता।

## 4.2.09. 'भिक्षु के पत्र' का परिचय

"छायावादोत्तर काल में प्रकाशित पत्र-साहित्य को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है – (i) व्यक्तिगत पत्रों के स्वतन्त्र संकलन, (ii) विविध विषयक ग्रन्थों में परिशिष्ट आदि के अन्तर्गत संकलित पत्र तथा (iii) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पत्र।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र )

प्रथम वर्ग की रचनाओं में आनन्द कौसल्यायन-कृत पुस्तक 'भिक्षु के पत्र' आती है जिसका प्रकाशन प्रथमतः जनवरी 1940 में छात्र हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग से हुआ था। यह पुस्तक अनुज हरिदास को समर्पित है। 21 दिसंबर 1939 को सारनाथ में लिखी इसकी भूमिका 'पत्र परिचय' में लेखक आनन्द कौसल्यायन एक तरह से पुस्तक में संकलित पत्रों की डिटेल देते हैं। जैसे कि सन् 1935 में जब सारनाथ से 'धर्मदूत' का प्रकाशन आरम्भ हुआ तो उसके पहले वर्ष के दूसरे ही अंक में पहला पत्र छपा। इस पत्र या किसी दूसरे पत्र के लिखे जाते समय शेष पत्रों के लिखे जाने का कोई सिलसिला पहले से दिमाग में न था। एक धुँधला सा ख़याल अवश्य था कि शायद एक-एक पत्र कर के किसी दिन इन पत्रों में बौद्ध धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों पर विचार हो जाय।

इस पत्र-संकलन में अर्थात् 'भिक्षु के पत्र' में यूँ तो सभी पत्र योगेन्द्र को लिखे गए हैं यानी सम्बोधित हैं लेकिन 'योगेन्द्र' कोई व्यक्ति विशेष न होकर उन सब परिचितों तथा अपरिचितों के प्रतिनिधि हैं जिनकी बुद्ध धर्म सम्बन्धी लिखित या मौखिक जिज्ञासाएँ रहीं। कोई-कोई पत्र किसी घटना विशेष से प्रभावित होकर भी लिखा गया है।

इन पत्रों के लिखे जाने का जो कारण रहा है वही एक प्रकार से इनके प्रकाशन का भी है। जिन प्रश्नों पर इन पत्रों में विचार किया गया है, जैसे – बौद्ध धर्म के साधारण परिचय के लिये कौन-कौन सी किताब उपयोगी होगी ? बौद्ध ईश्वर तथा आत्मा को मानते हैं अथवा नहीं ? बौद्ध वेद को मानते हैं अथवा नहीं ? बौद्ध वर्ण व्यवस्था को मानते हैं अथवा नहीं ? बौद्ध धर्म पुनर्जन्म को मानता है अथवा नहीं ? – ये ऐसे प्रश्न हैं कि जो प्रतिदिन पूछे जाते हैं और शायद तब तक हमेशा पूछे जाते रहेंगे जब तक बौद्ध धर्म का अस्तित्व रहेगा। इन पत्रों में तीन पत्र ऐसे हैं जिनमें भिक्षु की चारिका यानी यात्रा का वृत्तान्त है। वे भी बौद्ध देशों की यथार्थ अवस्था के परिचायक हैं। इस तरह 'भिक्षु के पत्र' बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में लोगों की जो जिज्ञासाएँ हैं उनको शान्त करने तथा कुछ महानुभावों की बौद्ध धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा को उत्तरोत्तर बढ़ाने वाले सिद्ध होंगे।

## 4.2.10. 'भिक्षु के पत्र' लेखन का उद्देश्य और विषयवस्तु

'भिक्षु के पत्र' का पहला पत्र आनन्द कौसल्यायन ने योगेन्द्र को 07-06-35 को लिखा और अन्तिम पत्र 01-03-39 को। कुल 18 पत्र 'भिक्षु के पत्र' में शामिल हैं जो चार साल में लिखे गए हैं। इन पत्रों का उद्देश्य है बुद्ध धर्म सम्बन्धी लिखित या मौखिक जिज्ञासाएँ शान्त करना और साथ ही पत्रों के महत्त्व को सिद्ध करना। पहले पत्र में ही आनन्द कौसल्यायन पत्र-लेखन को बहुत महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहते हैं पत्र लिखने के लिए पत्र लिखना बेकार आदत है जिससे डाकखाने के सिवाय और किसी का कोई फायदा नहीं होता। आनन्द कौसल्यायन तो पत्र तभी लिखते हैं जब उनके पास लिखने को कुछ हो और अगर लिखने को कुछ न हो तो वे कलम को हाथ तक नहीं लगाते। इस पुस्तक में संकलित ये पत्र उनकी मान्यता को सच साबित करते हैं।

पहले ही पत्र जिसका शीर्षक 'बौद्ध साहित्य' है, में लेखक योगेन्द्र द्वारा अपने पत्र में पूछे गए दो सवालों के जवाब देता है। पहला प्रश्न है कि भगवान् बुद्ध के जीवन की मूल सामग्री किन-किन ग्रन्थों में उपलब्ध है ? दूसरा प्रश्न है – राष्ट्रभाषा हिन्दी में भगवान् बुद्ध का कौनसा जीवन चरित्र सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक कहा जा सकता है ? प्रथम प्रश्न के जवाब में आनन्द कौसल्यायन बताते हैं कि भगवान् के परिनिर्वाण पर उनके शिष्यों ने, जिन्हें सामूहिक रूप से 'संघ' कहा जाता है, उनकी शिक्षाओं, उपदेशों और उनके जीवन की घटनाओं का संग्रह किया। कुछ समय तक भगवान् बुद्ध की ये शिक्षाएँ या उपदेश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कण्ठाग्र रखकर सुरक्षित रखने पड़े। लेकिन बाद में ये उपदेश आवश्यकतानुसार लिखे गए। यह संग्रह पहले दो भागों में था। बाद में इसके तीन भाग हो गए। इस संग्रह का नाम है 'त्रिपिटक'। यह तीन पुस्तकों का संग्रह है। ये पुस्तकें पालि और बौद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं। इन तीनों पिटकों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं – सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। 'सुत्त पिटक' में भगवान् बुद्ध के गम्भीर उपदेश सीधी-सादी भाषा में हैं। 'विनय पिटक' में भगवान् बुद्ध के संन्यासी शिष्यों के नियम-उपनियम हैं। 'अभिधम्म पिटक' में भगवान् बुद्ध के गम्भीर से गम्भीर उपदेश दार्शनिक परिभाषा में हैं जो गम्भीर विचारकों के मनन करने योग्य हैं। इन तीन पिटकों को बुद्ध के जीवन व उपदेशों के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। ये तीनों पुस्तकें पालि भाषा में हैं। लेखक पालि भाषा की सरलता को इंगित करते हुए कहते हैं कि जो हिन्दी अब हम बोलते हैं वही ढाई हजार बरस पहले पालि या मागधी कहलाती थी। हिन्दी को पालि की बेटी कहा जाय तो कोई हर्ज नहीं है। और संस्कृत भाषा से पालि भाषा को सरल बताते हुए लिखते हैं जहाँ पाणिनी व्याकरण के चार हजार सूत्र हैं वहाँ पालि व्याकरण में आठ सौ या एक हजार सूत्रों से ही काम चल जाता है। इसे आसानी से सीखा जा सकता है लेकिन लेखक को आश्चर्य होता है कि इस भाषा को लोग उतनी संख्या में सीख नहीं रहे जितनी संख्या में सीखना चाहिए था।

इसी पत्र में आनन्द कौसल्यायन अश्वघोष रचित महाकाव्य 'बुद्धचरित' को सरल और सरस बताते हैं। वे एक अन्य संस्कृत ग्रन्थ 'ललित बिस्तर' के विषय में कहते हैं कि अँग्रेजी के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ Light of Asia के लेखक एडविन अर्नाल्ड को 'ललित बिस्तर' से ही अपने इस काव्य की प्रेरणा मिली थी। लेखक ने ऐसी हिन्दी पुस्तकों का भी इस पत्र में उल्लेख किया है जिन्हें पढ़कर बुद्ध की शिक्षाओं को समझा जा सकता है। वे पुस्तकें हैं भदन्त उत्तमजी की 'भगवान् बुद्ध और उनके उपदेश' और राहुल सांकृत्यायान की 'बुद्धचर्या'।

अगला पत्र जिसका शीर्षक 'शब्द प्रमाण' है, में कौसल्यायन पुस्तक 'बुद्धचर्या' के विषय में बात करते हैं। कहते हैं इसमें कुछ 'पौराणिक गप्पें' हैं और ये बातें मनगढ़ंत नहीं हैं बल्कि त्रिपिटक और टीकाओं से ली गई हैं। और त्रिपिटक के विषय में यह भी जानकारी देते हैं कि तथागत के परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद भिक्षुसंघ ने सिंहल द्वीप में इसे लिखा है। आनन्द कौसल्यायन इस बात से सहमत हैं कि इन वर्षों में हो सकता है इन ग्रन्थों में कुछ ऐसी बातों का समावेश हो गया हो जिनसे हम नाक-भौं सिकोड़ते हों। पर इसका उपचार भी वे बताते हैं कहते हैं संशय करो। कुछ समय के लिए उसे छोड़ दो। खीर ग्रहण करो और कंकर उसमें से निकाल दो। इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध का यह कहना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि "सत्य की खोज आरम्भ करने पर किसी किसी विषय में सन्देह उतना स्वाभाविक है। सन्देह उठने पर किसी बात को केवल इसलिए मत मानो कि उसका कहने वाला तुम्हारा कोई 'पूजनीय व्यक्ति' है ; केवल इसलिए मत मानो कि वह तुम्हारे धार्मिक ग्रन्थों में लिखी हुई है।"

भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों से एक बार यह भी कहा था कि मेरी किसी भी बात को केवल इसलिए मत मानो कि वह मेरे द्वारा कही हुई है, बल्कि जिस प्रकार सुनार सोने को अपनी कसौट पर परखता है उसी प्रकार तुम भी मेरे प्रत्येक कथन को अपने अनुभव की कसौटी पर परखो। कहा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा का आरम्भ है – 'मानसिक दासता के बन्धनों से मुक्ति।'

तीसरे पत्र में आनन्द कौसल्यायन फलित ज्योतिष और सपनों पर बात करते हैं। कहते हैं फलित ज्योतिष की सफलता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर करती है – मनुष्य की आन्तरिक दुर्बलता और कभी-कभी किसी भविष्यवाणी का सत्य निकल आना। बुद्ध का मानना था कि लोगों के 'भविष्य' आदि बताकर जीविका कमाना 'मिथ्या जीविका' है। आनन्द कौसल्यायन भी इस बात में भरोसा करते हैं कि जिस काम को मनुष्य करना चाहता है उसको करने का प्रयत्न करना ही उसका (शुभ) नक्षत्र है। और यही बात सपनों पर भी लागू होती है। वे कहते हैं हमारे अच्छे-बुरे जीवन का सपनों पर प्रभाव पड़ता है न कि सपनों का जीवन पर। 'बुद्धिवाद' शीर्षक पत्र के अन्तर्गत आनन्द बताते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अंगुत्तर निकाय में साफ कहा है कि "किसी बात को इसलिए मत मानो कि वह किसी ग्रन्थ विशेष में लिखी है या किसी व्यक्ति विशेष ने कही है। किन्तु इसलिए मानो कि तुम्हारा हृदय इस बात को स्वीकार करता है।" दो परस्पर विरोधी मतों के बीच अपने विवेक से आदमी को निर्णय लेना चाहिए। इस बात पर ज़ोर देते हैं कि भारतीय बालकों को अपने मन से यह भाव निकाल देना चाहिए कि अमुक बात अमुक ऋषि ने कही है, अतः उस पर शंका करने का अवकाश नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। लेकिन स्वामी दयानन्द सरस्वती कहते हैं शूद्र वेद पढ़ सकता है। ऐसे में हम यदि अपनी बुद्धि से विचार करना छोड़ देंगे तो किसकी बात मानेंगे ? 'हमारी ज़िम्मेदारी' शीर्षक पत्र में आनन्द कहते हैं कि व्यक्ति के लिए इतना ही काफी है कि वह दिन-रात अपने चरित्र की शोध में लगा रहे। अपने सदाचरण और दुराचरण के दोषी हम खुद ही ठहराए जाएँ कोई और नहीं। और इस बात को यदि हम मानते हैं तो फिर क्यों मुल्लाजी नाहक शहर की चिन्ता में सूख-सूखकर लकड़ी हुआ करते हैं?

'प्रश्नोत्तर' नामक पत्र में आनन्द योगेन्द्र के कई प्रश्नों के जवाब देते हैं, जैसे निर्वाण क्या है ? आत्मा कोई वस्तु है या नहीं ? यदि कोई वस्तु है तो क्या ? मृत्यु के पश्चात् परलोक में कौन जाता है ? जन्म किसका होता है ?

अनेक जन्मों के चक्र में कौन भटकता है ? तृष्णा किसे सताती है ? कर्म फल कौन भोगता है ? सुख-दुःख की अनुभूति किसे होती है ? सत-असत का ज्ञान कौन करता है ? कर्म का फल किस प्रकार का होता है ? मृत्यु क्या वस्तु है ? निर्वाण, परिनिर्वाण और महापरिनिर्वाण शब्दों के अर्थों में क्या भेद है ? क्या तारतम्य है ? 'अहिंसा और मांसाहार' शीर्षक पत्र में आनन्द कौसल्यायन कहते हैं कि बुद्ध के धर्म में इस बात की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि मनुष्य चाहे अपने लिए, चाहे और किसी के लिए, किसी छोटे से छोटे प्राणी की भी हत्या करे। बुद्ध के पाँच शीलों में से प्रथम शील है – "मैं जीव हिंसा से दूर रहने का व्रत ग्रहण करता हूँ।" लेकिन यह भी समझने की बात है कि बुद्ध धर्म शाकाहारवाद का पर्यायवाची शब्द नहीं है। भगवान् बुद्ध कहते हैं – यदि भिक्षु किसी ऐसे मांस को ग्रहण कर ले, जो उसने देखा हो कि उसके लिए तैयार किया गया है या उसने सुना हो या उसके मन में सन्देह हो कि यह मांस उसके लिए तैयार किया गया है तो वह भिक्षु मांसाहार का दोषी है। लेकिन यदि वह किसी अपरिचित गाँव में भिक्षा के लिए किसी द्वार पर खड़ा हो और गृहस्थ ने उसके पात्र में मांस डाल दिया हो तथा भिक्षु ने उसे खा लिया हो तो भिक्षु किसी भी प्रकार से दोषी नहीं है। इस तरह बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए मांसाहार के बारे में जो नियम बनाया है उसका सौन्दर्य इस बात में है कि वह आदर्श और व्यवहार दोनों पर नजर रखता है।

'ईश्वर' नामक शीर्षक से लिखे पत्र में आनन्द ने योगेन्द्र को सलाह दी है कि जब कभी ईश्वर की चर्चा चले तो तुम ईश्वर शब्द को लेकर यों ही अपने मित्रों से न उलझ पड़ा करो, उन्हें पहले पूछ लिया करो कि वे ईश्वर शब्द को किन अर्थों में प्रयुक्त करते हैं ? जातिवाद पर आनन्द कहते हैं – "आज हमें 'ब्राह्मण' नहीं चाहिए, आज हमें 'क्षत्रिय' नहीं चाहिए, आज हमें 'वैश्य' नहीं चाहिए, आज हमें 'शूद्र' नहीं चाहिए, आज के युग को आवश्यकता है ऐसे बुद्धिमान तथा चरित्रवान् व्यक्ति की जो समय पड़ने पर कोई भी काम सीख ले और उसे सुचारू रूप से कर सके।"

लेखक चारिका, चित्त की स्थिरता, अनात्मवाद, कर्मवाद के साथ ही यह भी बताते हैं कि वे भिक्षु क्यों हुए ? 'चित्त की स्थिरता' के विषय में लेखक का मानना है कि मन की चंचलता के कारण हम नित नये रोगों के शिकार होते हैं। मन को एकाग्र रखना ज़रूरी है। मन को जैसा हम चाहते हैं बना सकते हैं। इसके लिए ज़रूरी है कि जब मन उदास हो तो खुली हवा में टहल आएँ। टहलना सम्भव न हो तो हवादार जगह में कुछ समय खड़े रहें। गहरी साँस लें। मन में जो खिचड़ी सी पक रही है उसे शान्त करने के लिए कुछ कदम चलें और अपना सारा ध्यान चलने पर जमा दें। मन की चंचलता दूर करने के लिए ऐसी किताबें पढ़ें या उनकी वे पंक्तियाँ नोट करें जिन्हें पढ़कर उदासी कम हो जाए, खिन्नता कम हो जाए। और निश्चय करो कि अब से ऐसे अशान्त नहीं होओगे। हँसने-हँसाने की आदत भी डालनी चाहिए। जीवन का ऊँचे से ऊँचा कोई उद्देश्य नहीं जिसे हम मन की साधना द्वारा न प्राप्त कर सकें। मन से परे किसी आत्मा की कल्पना करने की न तो हमें आवश्यकता है और न ही उपयोगिता। लेखक का इस बात पर भरोसा है कि व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। वह प्रयत्न करे तो परिस्थितियों की बाधाओं को तोड़ सकता है। अपनी परिस्थिति के स्वामी हम खुद हैं। बुद्ध धर्म के अनुसार कोई कर्म, जिससे तृष्णा घटती है लोगों का कल्याण होता है, शुभ कर्म है जबकि जिससे तृष्णा बढ़ती है, वह अशुभ कर्म होता है।

## 4.2.11. पाठ-सार

सचमुच ये पत्र पत्र लिखने के लिए नहीं लिखे गए हैं बल्कि विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखे गए पत्र हैं और पत्र साहित्य में अपनी खास जगह रखते हैं। पत्रों के अध्ययन के बाद आनन्द कौसल्यायन के शब्दों में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म केवल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को मानता है और उसमें शब्द प्रमाण के लिए बिलकुल जगह नहीं है। विनय पिटक के नियम ढाई हजार वर्ष पहले की चीज हैं। देश-काल बदल जाने से उनका अक्षरशः पालन करना न सम्भव है न वांछनीय। जीवन के अपने भी तो नियम हैं।

ये पत्र लेखक आनन्द कौसल्यायन ने अनेक जगहों से लिखे। सारनाथ से लिखे हैं तो पटना से भी। केलांग से तो कलकत्ता से भी। बरेली से तो कालीकट (मलबार) से भी। कभी छपरा से तो कभी सलगल आरण्य (सिंहल) से और कभी कल्याणी (सिंहल) से। लेकिन सबका उद्देश्य एक ही है बौद्ध धर्म के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अंगों पर क्विार करना और सरल-सहज रूप से बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को जिज्ञासुओं, पाठकों तक पहुँचाना। त्रिपिटकों की भाषा पालि है और पालि भाषा सरल इतनी है कि इसे केवल तीन महीने में सीखा जा सकता है। लेखक का यह बताने का उद्देश्य यह है कि अधिक से अधिक लोग इस भाषा को सीखें और बौद्ध धर्म की शिक्षाओं, भगवान् बुद्ध के उपदेशों को पढ़ें और समझें। इन पत्रों ने जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन किया है। कई संशयों को मिटाया है। सबसे बड़ी बात इन पत्रों से निकलकर यह आती है कि बौद्ध धर्म में व्यक्ति के विवेक पर भरोसा करना सिखाया गया है। बुद्ध का यह कहना कि "किसी बात को इसलिए मत मानो कि वह किसी ग्रन्थ विशेष में लिखी है या किसी व्यक्ति विशेष ने कही है। किन्तु इसलिए मानो कि तुम्हारा हृदय इस बात को स्वीकार करता है।" कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भदन्त आनन्द कौसल्यायन अपने पत्रों के माध्यम से बुद्ध के इन कल्याणकारी विचारों को जिज्ञासुओं तक पहुँचाने में कृतकार्य सिद्ध हुए हैं।

## 4.2.12. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| चारिका | : | धार्मिक यात्रा। |
| फरहरी | : | पताका, झण्डा, प्रफुल्लित, प्रसन्न। |
| एसेट | : | पूँजी, धन तथा भू सम्पत्ति, किसी व्यक्ति के उपयोगी गुण और विशेषताएँ। |
| खरपतवार | : | खेत में फसल के साथ उगने वाली अन्य वनस्पति या घास-पात। |
| चिट्ठीरसाँ | : | डाक खाने में आई हुई चिट्ठियाँ बाँटने वाला कर्मचारी, डाकिया (पोस्टमैन)। |
| उडीकना | : | प्रतीक्षा, इंतजार। |
| फॉर्मेट | : | प्रारूप। |
| रेहन | : | गिरवी, बन्धक। |
| स्नेप शॉट | : | (Snap Shot) कैमरे से खींचा गया तुरन्त छायाचित्र या आशुचित्र। |

## 4.2.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची


1. भिक्षु के पत्र, आनन्द कौसल्यायन
2. महापुरुषों की खोज में, बनारसीदास चतुर्वेदी
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. : डॉ॰ नगेन्द्र
4. काव्य के रूप, बाबू गुलाब राय
5. गद्य की नई विधाओं का विकास, प्रो॰ माजदा असद
6. साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार, डॉ॰ हरिमोहन
7. साहित्य विविधा, डॉ॰ रमेशचन्द्र लवानिया


## 4.2.14. बोध प्रश्न / अभ्यास

**लघु उत्तरीय प्रश्न**

01. पत्र क्या है ?
02. पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी पत्र के महत्त्व के विषय में क्या कहते हैं ?
03. डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल की किस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता ?
04. पत्र कितनी प्रकार के हो सकते हैं ?
05. बाबू गुलाब राय पत्र के महत्त्व के विषय में क्या कहते हैं ?
06. डायरी और पत्र में क्या-क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं ?
07. अब पत्र-लेखन का स्थान किसने ले लिया है ?
08. ऑस्कर वाइल्ड का पत्र के विषय में क्या मानना था ?
09. पत्र-प्रकाशन में कौन-कौनसी सावधानियाँ बरतनी चाहिए ?
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पत्रों के अन्तर-बाह्य रूप में अपनी सहज भावुकता और कलात्मकता का परिचय किस प्रकार दिया ?
11. छायावादोत्तर काल में प्रकाशित पत्र-साहित्य को कौनसे तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है ?
12. 'योगेन्द्र' कौन है ?
13. 'भिक्षु के पत्र' लिखे जाने के कारण क्या रहे ?
14. 'भिक्षु के पत्र' में किन-किन विषयों पर पत्र लिखे गए हैं ?
15. 'त्रिपिटक' क्या हैं ?
16. भिक्षु मांसाहार का दोषी कब माना जाता है ?
17. जातिवाद पर आनन्द कौसल्यायन का क्या कहना है ?
18. 'चित्त की स्थिरता' के लिए क्या ज़रूरी है ?
19. जातिवाद पर आनन्द कौसल्यायन का क्या कहना है ?

**निम्नलिखित प्रश्नों का एक-एक शब्द में उत्तर दीजिए –**

1. "जिस प्रकार सुनार सोने को अपनी कसौट पर परखता है उसी प्रकार तुम भी मेरे प्रत्येक कथन को अपने अनुभव की कसौटी पर परखो।" यह कथन किसने कहा ?
   उत्तर – भगवान् बुद्ध
2. पत्र के लिए बाहरी सजावट से ज्यादा महत्त्वपूर्ण क्या है ?
   उत्तर – आत्म उद्घाटन
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आर्थिक संकट के समय किनसे सहायता लेते थे ?
   उत्तर – प्रेमघन
4. सन् 1904 में हिन्दी साहित्य का पहला पत्र-संग्रह प्रकाशित हुआ। इस पत्र-संग्रह में किसके पत्र संकलित हैं ?
   उत्तर – स्वामी दयानन्द सरस्वती
5. हरिवंशराय बच्चन के ग्रन्थ 'कवियों में सौम्य सन्त' (1960) में सुमित्रानन्दन पन्त के कुल कितने पत्र संकलित हैं ?
   उत्तर – 126 पत्र
6. तीनों पिटकों की पुस्तकें किस भाषा में हैं ?
   उत्तर – पालि
7. 'भिक्षु के पत्र' के पहले पत्र का शीर्षक क्या है ?
   उत्तर – बौद्ध साहित्य
8. भगवान् बुद्ध के शिष्यों को सामूहिक रूप से क्या कहा जाता है ?
   उत्तर – संघ
9. 'भिक्षु के पत्र' पुस्तक का प्रकाशन प्रथमतः किस वर्ष हुआ था ?
   उत्तर – 1940
10. 'धर्मदूत' का प्रकाशन कब आरम्भ हुआ ?
    उत्तर – सन् 1935

**अभ्यास**

दिये गए शब्दों में से उपयुक्त शब्द के प्रयोग द्वारा निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(18, शुभ कर्म, बुद्धचर्या, भगवान् बुद्ध और उनके उपदेश, पाँचवाँ, पालि व्याकरण, अशुभ कर्म)

1. 'भिक्षु के पत्र' में कुल ..... पत्र संकलित हैं।
2. ..... में आठ सौ या एक हजार सूत्रों से ही काम चल जाता है।

3. भदन्त उत्तमजी की पुस्तक का नाम है .....।
4. राहुल सांकृत्यायन की किताब का नाम है .....।
5. "मैं जीव हिंसा से दूर रहने का व्रत ग्रहण करता हूँ।" यह बुद्ध का ..... शील है।
6. बुद्ध धर्म में कोई कर्म जिससे तृष्णा घटती है लोगों का कल्याण होता है ..... है और जिससे तृष्णा बढ़ती है ..... होता है।

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 4 : विविध गद्य-रूप – 3

## इकाई – 3 : गद्यकाव्य : साहित्य देवता – माखनलाल चतुर्वेदी

**इकाई की रूपरेखा**


4.3.0. उद्देश्य कथन
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. गद्यकाव्य : अवधारणा एवं विकास
    4.3.2.1. गद्यकाव्य : परम्परा एवं विकास
    4.3.2.2. गद्यकाव्य का अन्य साहित्यिक विधाओं से सम्बन्ध
4.3.3. 'साहित्य देवता' : आकलन
    4.3.3.1. साहित्यिक वैशिष्ट्य
    4.3.3.2. अन्तर्वस्तु
        4.3.3.2.1. कला साधना
        4.3.3.2.2. साहित्य रचना की भावभूमि
        4.3.3.2.3. साहित्य की मानवीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता
    4.3.3.3. संरचनात्मक वैशिष्ट्य
4.3.4. पाठ-सार
4.3.5. शब्दावली
4.3.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.3.7. बोध प्रश्न


### 4.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप गद्यकाव्य के अन्तर्गत 'साहित्य देवता' का अध्ययन करेंगे। अत्यन्त विराट् फलक एवं गहरी संवेदना से आलोकित 'साहित्य देवता' गद्यकाव्य प्रसिद्ध चिन्तक, वक्ता, गद्यकार और कवि माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा विरचित है। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. गद्यकाव्य की अवधारणा एवं विकास को समझ सकेंगे।
ii. गद्यकाव्य का अन्य साहित्यिक विधाओं से सम्बन्ध जान पाएँगे।
iii. गद्यकाव्य के रूप में 'साहित्य देवता' के साहित्यिक वैशिष्ट्य तथा अन्तर्वस्तु से परिचित हो सकेंगे।
iv. 'साहित्य देवता' के संरचनात्मक वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे।

### 4.3.1. प्रस्तावना

माखनलाल चतुर्वेदी अपने व्यक्तित्व एवं सृजन दोनों ही धरातलों पर चर्चित रचनाकार हैं। अपने मूल स्वरूप में माखनलालजी कोमल हृदयी और मानवीय संवेदना से परिपूर्ण कवि हैं। दिनकरजी के शब्दों में "कविता

उनका अपना स्वरूप है। और वही उनकी आत्मा का निवास-स्थल है। आत्मा उनकी चन्द्रमण्डल में रहती है, और वह जहाँ कहीं भी जाते हैं, चाँदनी की कोमलता उनके साथ जाती है। उनका गर्जन रंगीन घटाओं से तथा उनकी चीख फूलों के हृदय से निकलती है। जब वह सोचते होते हैं तब उनके सामने सारी कुरूपताओं पर चाँदनी के चूर्ण की वृष्टि होती है, और जब वह बोलने लगते हैं तब भी उन पर कविता की सतरंगी चादर तनी होती है। किसी भी वस्तु के तद्गत रूप का तटस्थ होकर वर्णन करना उनके लिए एक अनहोनी-सी बात है, अतः वह वर्ण्य-वस्तु के हृदय में बैठकर उसकी उन विलक्षणताओं का रहस्य खोलते हैं जो प्रायः उनकी अपनी सहानुभूति से युक्त होती हैं।"

मानव जीवन में निरन्तर प्रवाहमान चिन्तन-क्षण ही निर्माणकारी सूत्रों को जन्म देते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी अपनी रचनाओं में प्रयोग तथा परम्परा, दोनों धाराओं को रचनात्मक आधार प्रदान करते हैं। सृजनात्मक सूत्रों की निधि 'साहित्य देवता' उनकी अटूट आस्था की सार्थक व अस्खलित अभिव्यक्ति है। 'साहित्य देवता' की रचना चतुर्वेदीजी ने वर्ष 1920 ई. में अपने जेल-प्रवास के दौरान की जिन दिनों राजद्रोह का आरोप लगाकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बिलासपुर जेल में कैद कर रखा था।

### 4.3.2. गद्यकाव्य : अवधारणा एवं विकास

सैद्धान्तिक रूप में गद्यकाव्य वह रचना है जिसमें वैयक्तिक आशा-निराशा, सुख-दु:ख आदि घनीभूत भावनाओं को साधारण गद्य से भिन्न भावपूर्ण गद्य में अभिव्यक्त किया जाता है। इस विधा में संवेदनशीलता एवं रसात्मकता छन्दोबद्ध काव्य की तरह होती है लेकिन माध्यम गद्य ही होता है। हिन्दी गद्यकाव्य ने अपनी छोटी सी विकासयात्रा में बहुरंगी एवं विविध आयामी समृद्धपरम्परा का निर्माण किया है।

#### 4.3.2.1. गद्यकाव्य : परम्परा एवं विकास

हिन्दी साहित्य में छायावाद से पूर्व गद्यकाव्य-लेखन के उदाहरण नहीं मिलते हैं। छायावादोत्तर युग में विकसित साहित्य की इस नवविधा में रचनाकारों की संवेदनशीलता, भावुक कल्पना और कल्पनात्मक अभिव्यक्ति का अद्भुत उत्कर्ष परिलक्षित होता है। शब्द और अर्थ की समष्टि में रचना मानने वाली परम्परा भारत में संस्कृतकाल से ही चली आयी है। शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही रचनाकार की अनुभूति को रचना बनाती है। वास्तव में ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न यहीं से प्रस्फुटित होते हैं तथा इसमें ही विलय होते हैं। सारे सामाजिक व मानवीय सन्दर्भ भी इसी से निस्सृत होते हैं। रचनात्मक अभिव्यक्ति की अलग-अलग विधाओं में रचनाकार का युग सम्पृक्ति का दायित्व निहित है। गद्यकाव्य विधा भी अपने दायित्व का बखूबी निर्वहन करती है। गद्यकाव्य विधा पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध रचना 'गीतांजलि' का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

अपनी प्रकृति में गद्यकाव्य मूलतः कोई विधा नहीं है। इसमें कहानी, निबन्ध, आत्मकथा, रेखाचित्र आदि की अनेक विशिष्टताएँ स्वतः संश्लिष्ट हैं। रचनात्मक चिन्तन और अनुभव की परस्परता ही गद्यकाव्य की रचना-

प्रक्रिया का मूल आधार है। गद्यकाव्यों का मूल स्वर प्रेम और प्रकृति से सम्बद्ध है। प्रेमव्यंजना कहीं रहस्योन्मुखी है तो कहीं मात्र लौकिक। प्रकृति के विविध सौन्दर्य को आधार बनाकर भी अनेक गद्यकाव्य रचनाएँ लिखी गईं। सौन्दर्य चेतना की यह अभिव्यक्ति युगीन काव्य-पद्धति के सर्वथा अनुकूल थी । भावुकता, कल्पना, प्रतीकात्मकता, शब्द-लालित्य, चित्रात्मकता आदि प्रवृत्तियों का समावेश काव्य-रचनाओं की भाँति गद्यकाव्यों में भी सहज ही हुआ। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, दिनेशनन्दिनी चौरड्या, माखनलाल चतुर्वेदी और डॉ॰ रघुवीर सिंह इस विधा के प्रमुख रचनाकार माने जाते हैं।

रायकृष्णदास ने अपनी परिमार्जित तथा भावपूर्ण भाषा में गद्यकाव्य लिखे । उनके लेखन में रहस्योन्मुखता, प्रकृतिपरकता तथा भावात्मकता सहज ही आगत है । 'साधना', 'संलाप', 'प्रवाह' और 'छायापथ' उनके प्रसिद्ध गद्यकाव्य संग्रह हैं। वियोगी हरि द्वारा रचित गद्यकाव्य मूलतः भक्तिपरक हैं, हालाँकि अवसरानुकूल उनमें राष्ट्र-प्रेम का स्वर भी मुखरित हुआ है। सामासिक तथा आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग उनके गद्यकाव्य की प्रमुख विशिष्टताएँ हैं। 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद', 'भावना' और 'प्रार्थना' वियोगी हरि के प्रमुख गद्यकाव्य हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'अन्तस्तल' और 'तरलाग्नि' लिखकर गद्यकाव्य की परम्परा को पर्याप्त समृद्ध किया है। उन्होंने अपने गद्यकाव्यों में मानसिक भावों के विविध रूपों को शब्दबद्ध किया है। स्थानीय शब्दों तथा लोकप्रिय मुहावरों से युक्त व्यावहारिक भाषा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सहज व स्वाभाविक प्रयोग, वार्तालाप, स्वगत कथन, सूक्तियाँ आदि विषयानुरूप शैलियों का प्रयोग उनके गद्यकाव्यों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। हिन्दी गद्यकाव्य के विकास में दिनेशनन्दिनी चौरड्या का योगदान भी उल्लेखनीय है। 'शबनम' और 'मौक्तिमाल' उनकी सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं जिनका कथ्य प्रायः वैयक्तिक सुख-दुःख है। कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्वर भी मुखरित हुआ है।

डॉ॰ रघुवीर सिंह और तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने भी छायावादी युग में कतिपय स्फुट गद्यात्मक काव्य रचनाएँ लिखीं, उनका व्यवस्थित स्वरूप छायावादोत्तर काल में उजागर हुआ । छायावादी युग के अन्य गद्यकाव्यकारों में शान्तिप्रसाद वर्मा (चित्रपट), तेजनारायण काक (मदिरा), भंवरलाल सिन्धी (वेदना) और रामप्रसाद विद्यार्थी रावी (पूजा) का नाम उल्लेखनीय है।

समग्रतः छायावादी युगीन गद्यकाव्य का मूल स्वर प्रेम और प्रकृति से सम्बन्धित है। प्रेम अभिव्यंजना कहीं रहस्योन्मुखी है तो कहीं लौकिक। प्रकृति के विविध रूप सौन्दर्य को भी आधार बनाकर भी अनेक रचनाएँ की गईं।

गद्यकाव्य छायावादोत्तर युग की जीवन्तधारा नहीं है तथापि छायावादी युग के अनेक ख्यातिलब्ध रचनाकारों की महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन इसी समय हुआ। उदाहरणार्थ वियोगी हरि ने महात्मा गाँधी द्वारा किए गए कार्यों तथा सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए 'श्रद्धाकण' का प्रणयन किया। चतुरसेन शास्त्री ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'मेरी खाल की हाय' तथा 'जवाहर' नामक रचनाएँ लिखीं। चर्चित महिला रचनाकार

दिनेशनन्दिनी चौरड़्या की कृतियाँ सर्वाधिक संख्या में इसी समय प्रकाशित हुईं जिनमें 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशीरव', 'उन्मन' और 'स्पन्दन' उल्लेखनीय हैं।

अज्ञेय-कृत 'चिन्ता' का विषय प्रेम है। इसमें इन्होंने अपनी भावनाओं को कविता और गद्य-गीत दोनों के माध्यम से व्यक्त किया है। इसके दो भाग हैं – 'विश्वप्रिया' और 'एकायन'। कभी नितान्त नये शब्द गढ़ते हुए और कभी तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए स्त्री-पुरुष के पारस्परिक गतिशील सम्बन्धों का बौद्धिक विश्लेषण उनके रचना-शिल्प की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी प्रकार तेजनारायण काक द्वारा निर्मित 'निर्झर और पाषाण' में 'मिट्टी के ढेले', 'चींटे' आदि सामान्य से प्रतीत होने वाले विषयों का भी संवेदनापूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

छायावादोत्तर काल में जहाँ एक ओर माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीयता के स्वर में पगी हुई कृति 'साहित्य देवता' (1943) सामने आयी तो वहीं साथ ही डॉ॰ रघुवीर सिंह की 'शेष स्मृतियाँ' भी इसी समय प्रकाशित हुई जिसमें मुगलकालीन खण्डहरों को आधार बनाकर मानव जीवन के उतराव-चढ़ाव का प्रभावी चित्रण किया गया है। इसी तरह ब्रह्मदेव ने भारतभूमि तथा शरणार्थी समस्या आदि विविध विषयों का आत्मनिवेदनात्मक एवं सम्बोधनात्मक शैली में प्रभावपूर्ण प्रतिपादन किया है। 'निशीथ', 'आँसू भरी धरती' और 'उदीची' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अन्य गद्यकाव्यकारों में व्यौहार राजेन्द्र सिंह ने एशिया-माइनर के कवि 'खलील जिब्रान' की शैली का अनुकरण करते हुए गम्भीर जीवनसत्यों को 'मौन के स्वर के माध्यम' से अभिव्यक्त किया है। महावीरशरण अग्रवाल ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली के अनुकरण पर 'गुरुदेव' में अरविन्द की विचारधारा का भावपूर्ण निरूपण किया है।

### 4.3.2.2. गद्यकाव्य का अन्य साहित्यिक विधाओं से सम्बन्ध

आधुनिक गद्य विधाओं में गद्यकाव्य विधा अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति अपने रूप, रचना-प्रक्रिया एवं आस्वाद के पटल पर अन्य विषयों में संक्रमित होती हुई महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य का आभास देती है। यही वजह है कि सैद्धान्तिक स्तर पर तो गद्यकाव्य को साहित्य की अन्य विधाओं से अलगाया तो जा सकता है, फिर भी रचनात्मक स्तर पर यह एक दूसरे से संगुम्फित है। गद्यकाव्य में पाठ्यबोध की संरचना पर बल होता है। उसके सन्दर्भ और विषय को लेकर कोई यान्त्रिक अथवा विशुद्ध एकीकृत पैमाना नहीं बनाया जा सकता। अपनी रचनात्मक परिधि में गद्यकाव्य एक नूतन शैली अपनाता हुआ कथावस्तु-निरूपण की सपाटता से बिल्कुल मुक्त होकर संश्लिष्ट सर्जनात्मकता व सम्यक् दृष्टिकोण पर आधारित होता है।

### 4.3.3. 'साहित्य देवता' : आकलन

'साहित्य देवता' के सम्यक् विश्लेषण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी की रचना-दृष्टि, परम्परा-बोध एवं सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण आवश्यक है। सर्जनात्मक संवेदना का निर्माण करने वाले, संस्कार देने वाले, दायित्व बोध कराने वाले और हमारी अस्मिता से पहचान कराने वाले घटकों के विविध आयामों के मूल में संघर्ष और प्रेरणा की समानुभूति निर्णायक होती है। 'साहित्य देवता' में माखनलाल चतुर्वेदी की बौद्धिकता ने एक

रचनात्मक संतुलन पैदा करने का प्रयास किया है जहाँ उनकी गहरी विनम्रता का भाव आद्योपान्त विद्यमान है। 'साहित्य देवता' के माध्यम से उन्होंने उस मूल्यवान् प्रवृत्ति को संरक्षित करने का प्रयत्न किया है जो हर वर्तमान को दिशा, पहचान और संस्कार देती है। इस पूरी परिक्रमा में मौलिक चिन्तन व बौद्धिकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज और साहित्य-सृजन के बीच दृश्य-अदृश्य मानक सूत्रों को पहचानने और व्याख्यायित करने का उद्यम रचनाकार ने पूरे मनोयोग से किया है।

गद्यकाव्य के रूप में चतुर्वेदीजी का प्रथम संकलन 'साहित्य देवता' साधक से 1943 में प्रकाशित हुआ। अपने प्रकाशन के साथ इस कृति ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य जगत् में तहलका मचा दिया। विधा रूप में यह गद्यकाव्य था किन्तु समीक्षकों ने इन्हें 'भावात्मक निबन्ध' की संज्ञा दी है। दिनकरजी ने अपना मन्तव्य कुछ इस तरह प्रकट किया है – "प्रस्तुत पुस्तक उनके अस्फुट निबन्धों का संग्रह है। अगर हिन्दी में निस्सार प्रलापों का वाचक होकर 'गद्यकाव्य' शब्द अपने चमत्कारों से हीन न हो गया होता, तो हम इसको उच्च कोटि का गद्यकाव्य कहते। किन्तु गद्यकाव्य के नाम पर हमारी भाषा में जैसी असमर्थ रचनाएँ चल रही हैं उन्हें देखते हुए इसको गद्यकाव्य कहना इसके अपमान के समान प्रतीत होता है। अपनी अद्भुत ऊँचाई, विलक्षणता और सारगर्भिता के कारण यह उन सभी गद्यकाव्यों से भिन्न है, जिन्हें हम आज तक देखने के आदी रहे हैं। भारतीय भाषाओं में तो ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी एशिया-माइनर के स्व. कवि 'खलील जिब्रान' के कुछ ग्रन्थों तथा जर्मन कवि 'फ्रेडरिक नीत्शे' की 'Thus Spoke Zarathustra' को छोड़ इसकी तुलना और किसी पुस्तक से नहीं की जा सकती। नाम से यह ग्रन्थ साहित्य की आलोचना जैसा दीख पड़ेगा और इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में इसमें कितनी ही सूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। किन्तु, इतना ही सब कुछ अथवा अधिकांश भी नहीं है।"

### 4.3.3.1. साहित्यिक वैशिष्ट्य

साहित्य केवल विचार नहीं है। उसका संसार बुनियादी तौर पर इन्द्रियबोध और भावों का संसार है। माखनलाल चतुर्वेदी स्वभावतः कविहृदय हैं। यही कारण है कि उनकी गद्य रचनाएँ अपने बाह्याकार में चाहे गद्यस्वरूपा हों, उनके भीतर जितने भी विषयों का संकेत होता है, उन्हें देखने और अभिव्यक्त करने वाले की दृष्टि कवि की ही दृष्टि है, उन पर मनन करने वाले चिन्तक का हृदय कवि का ही हृदय है तथा उन विषयों के व्याख्याता मनीषी की भाषा लक्षणा, व्यंजना और अलंकारों से युक्त कवि कीही भाषा है। 'साहित्य देवता' के साहित्यिक वैशिष्ट्य के विषय में दिनकरजी का कथन उल्लेखनीय है – "माखनलालजी की कविताओं की तरह उनके इस गद्य ग्रन्थ में भी प्रेम की मादकता और दहन की ज्वाला के बीच द्वन्द्व है। यहाँ भी वह अनेक असंगतियों, कुरूपताओं के बीच से जीवन के सामंजस्यपूर्ण रसपूर्ण की सृष्टि करने में आनन्दमयता के साथ व्यस्त हैं। साहित्य और कला के सम्बन्ध में जहाँ विचार है वहाँ साहित्य और कला दोनों ही वर्तमान जीवन के प्रसंग में लाकर जाँचे गए हैं।"

साहित्य-सृजन के दौरान रचनाकार जब परम्परा से प्राप्त संस्कृति के जीवन्त तत्त्वों को अपनी रचना की बुनावट के लिए उपयोग में लाता है तब उसका मानवता एवं लोकहित से कोई विरोध नहीं होता। तथापि जब

रचना में किसी असावधानी के कारण अवचेतन के स्तर पर क्रियाशील प्रच्छन्न पूर्वाग्रह के बीज के अंकुरण के परिणामस्वरूप रूढ़ियों, जड़ता, अन्धविश्वास और धर्मान्धता का समर्थन हो जाता है, तब कम से कम उस मुकाम पर तो वह रचनाकार संवेदनशील नहीं रह जाता है। माखनलाल चतुर्वेदी सजग और सतर्क रचनाकार हैं। सहज साहित्यकार साहित्य पर पड़ने वाले हर तरह के प्रभाव का बहुत ही सरल व सूक्ष्म निरीक्षण किंवा जाँच-पड़ताल करता है। प्रभावी कारणों के सही-गलत होने का निर्णय करता है। उनका विश्लेषण करके जनता, समाज और साथी रचनाकारों को अगाह करता है कि वे क्या कर रहे हैं जबकि उन्हें क्या करना चाहिए। चतुर्वेदीजी ने अपने कर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा से निर्वाह किया है। उन्होंने समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों का मार्ग प्रशस्त किया है।

'साहित्य देवता' में रचनाकार के अनुभव और सांसारिक ज्ञान दोनों ने मिलकर एक व्यापक साहित्य-संसार की सृष्टि की है। रचना अगर लोककल्याण को लक्ष्य कर रची गई है तो यह मनुष्य और संसार के लिए महत्त्वपूर्ण होती है, इसी से उच्च आसन भी प्राप्त करती है, किन्तु जब यह स्वार्थ-प्रेरित होकर निर्मित होती है तो इससे घृणित और तुच्छ चीज कोई और नहीं हो सकती। जिन विषम और संघर्षपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों में साहित्य की रचना-प्रक्रिया आरम्भ होती है उनमें विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और अन्य दबावों का रचना में ध्वनित होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। तभी तो माखनलाल चतुर्वेदी स्वयं साहित्य पुरुष से ही संवाद करते हैं – "कौन सा आकार दूँ? मानव हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त जाग्रत् आत्माओं के ऊँचे और गहरे, - पर स्वप्न जो हो! मेरी काली कलम का बल समेटे नहीं सिमटता। तुम कल्पनाओं के मन्दिर में बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों और लड़ाके सिपाही के रक्त बिन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचू मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों से खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पंछियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को रुपहलेपन में नहलाये हुए।"

साहित्य समाज का दर्पण है। रचनाकार समाज को देखकर स्वानुभूत सत्यों के आधार पर ही साहित्य रचना हेतु प्रवृत्त होता है। इसलिए रचना में लोकप्रचलित मान्यताएँ, भाषा, संस्कार आदि का समाविष्ट होना स्वाभाविक है। चतुर्वेदीजी की रचनाएँ भी लोक से सम्पृक्त हैं। उनकी भाषा में उपस्थित लोक-प्रचलित सूक्तियाँ और कथन उसे रवानी देते हैं। उदाहरण देखिए –

"व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम जिसके पंखों पर चढ़कर हजारों वर्षों की छाती छेदते हुए आज भी लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं? वे चाहे कागज के बने हों, चाहे भोज-पत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।"

* * *

"इंग्लैंड का प्रधानमंत्री, इटली का डिक्टेटर, अफगानिस्तान का पदच्युत, चीन का ऊँघकर जागता हुआ और रूस का सिंहासन उलटने और क्रान्ति से शान्ति का पुण्याह्वान करनेवाला गरीब – यह तो तुम्हीं हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ चमगादड़ टँगे रहते; उलूक बोलते।"

* * *

"सचमुच पत्थर की कीमत बहुत थोड़ी होती है; वह बोझीला ही अधिक होता है। बिना बोझ के छोटे पत्थर भी होते हैं जिनमें से एक-एक की कीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती।"

* * *

"मातृ-मन्दिर में उतरन पर एक दूसरे से होड़ ले रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास उसकी पीठ पर लदा हुआ है।"

* * *

"बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया। देवता, वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो।"

### 4.3.3.2. अन्तर्वस्तु

माखनलाल चतुर्वेदी ने साहित्यिक व रचनात्मक प्रतिपाद्य को जिस रूप में देखा, समझा और महसूस किया है, उसे 'साहित्य देवता' के रूप में उतारने का प्रयत्न किया है। 'साहित्य देवता' रचना की सम्पूर्णता को सैद्धान्तिक व आनुभाविक स्वरूप में व्याख्यायित करने का प्रयास है। एक सामान्य मनुष्य स्वयं की संभावनाओं, सीमाओं एवं संघर्षों के साथ ही सार्थक रचनाकार होता है। 'साहित्य देवता' में चतुर्वेदीजी कहीं-न-कहीं व्यग्र और सन्नद्ध दिखाई देते हैं। मनुष्य की समानता, विश्व बन्धुत्व और मुक्तिचेतना के सिंहद्वार को खोलने के लिए वे अकेले ही आगे ही नहीं बढ़ते, अपितु सामान्य जन की अनुभूति और लोकमंगल की आकांक्षा कोभी अपने साथ लिये चलते हैं। 'साहित्य देवता' की अन्तर्वस्तु के तीन मुख्य बिन्दु हैं – (i) कला साधना, (ii) साहित्य रचना की भावभूमि और (iii) साहित्य की मानवीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता।

#### 4.3.3.2.1. कला साधना

जीवन का वह सत्य जो मनुष्य जीवन जीते और भोगते हुए अनुभव करता है, वही रचना को प्राणवान् और प्रामाणिक बनाता है। 'साहित्य देवता' की रचना-यात्रा मानव जीवन और मनुष्यता की सही पहचान तलाशती करती हुई उसकी उज्ज्वल संभावनाएँ बनाती हैं। 'साहित्य देवता' में माखनलाल चतुर्वेदी जीवन जीने के लिए अनिवार्य अपने द्वारा भुक्त यथार्थ को रचना के व्यापक व विस्तृत फलक पर प्रस्तुत करते हैं। यथा – "परन्तु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचते तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है।"

वर्तमान समय और समाज में मूल्य-विहीनता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। उसमें मूल्य निरपेक्षता जिस विवशता, असमर्थता, असहाय स्थिति और हीन सामाजिकता को उजागर कर देती है, उसकी पृथक् से व्याख्या की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जब हम मूल्य निरपेक्षता की बात करते हैं तब वस्तुतः नष्ट होती हुई सामाजिक

व मानवीय मूलवत्ता की वास्तविकता से आँखें चुरा रहे होते हैं। बिना संसार के कोई साहित्य नहीं होता और न ही किसी साहित्य के बिना कोई संसार आधुनिक होता है। माखनलाल चतुर्वेदी अपने समय को करीब से पढ़ते हैं। वे मूल्यों के ह्रास से क्षुब्ध और खिन्न हैं – "हाँ, तो तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम को जीभ को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम केवल धवलता का गर्व गिराने वाला श्याम मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें अमृत-बिन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं। मैं उनसे अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।"

'साहित्य देवता' से एक चौंका देने वाला तथ्य भी संज्ञान में आता है। हिन्दी साहित्य की समृद्ध परम्परा में स्वयं साहित्य के अन्तश्चरित्र पर कोई तथ्यात्मक सामग्री अब तक नहीं लिखी गई। 'साहित्य देवता' रचना के माध्यम से चतुर्वेदीजी इस अभाव की पूर्ति करते हैं। इस दृष्टि से 'साहित्य देवता' न केवल अपने समकालीन साहित्यिक चिन्तन की एक सार्थक अभिव्यक्ति है, अपितु कालजयी युग का विषय परिवर्तन भी। यह एक साहित्यकार द्वारा रचे गए साहित्य की एक साहित्यिक रूप में आलोचना है लेकिन ऊपरी तौर पर आलोचना नज़र आने पर भी यह वास्तव में आलोचना नहीं है। इस सन्दर्भ में दिनकरजी का कथन द्रष्टव्य है – "किन्तु इस पुस्तक में की गई साहित्य विषयक आलोचनाएँ उससे भिन्न चीज हैं। अनेक लक्षणात्मक शीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने जो कुछ भी विचार किया है वह सबका सब साहित्य के स्वरूप, उसकी आत्मा, उसकी आवश्यकता तथा समकालीनता की पृष्ठभूमि पर उसके विकास के ही सम्बन्ध में है। और इस विवेचना के बीच उन्होंने कोई मत निर्धारण अथवा पक्ष सिद्धि नहीं की है, बल्कि इन विषयों को निमित्त मानकर गद्य में स्वतन्त्र कविताएँ रची हैं। इस पुस्तक के भीतर आलोचना को निमित्त मानकर गद्य में स्वतन्त्र कविताएँ रची हैं। इस पुस्तक के भीतर आलोचना नहीं, स्वतन्त्र काव्य का रस है। यह पण्डित का तर्क नहीं, कवि की वाणी का प्रसाद है। जिस प्रकार माखनलालजी की कविता और वार्ताएँ रसपूर्ण, किन्तु धुँधली हुआ करती हैं उसी प्रकार इसके भी सभी अध्याय धुँधले तथा रहस्यपूर्ण हैं।"

'साहित्य देवता' में माखनलालजी ने अपनी अनेक सूक्ष्म अनुभूतियों को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ व्यक्त किया है। यह इसकी कृति का अनूठा वैशिष्ट्य है कि यहाँ रचनाकार की कल्पना का केन्द्रीय विषय स्वयं साहित्य है। उसी साहित्य को ही पुरुष मानकर कविहृदय चतुर्वेदीजी उसी अंदाज में अपना क्षोभ प्रकट करते हैं – "विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता ! तुम्हारी तसवीर खींचने में शायद दैवी चितेरे इसीलिए असफल हुए; उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दवात में कलम डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में सारा आसमान धबीला कर चलते बने। इस बार मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा; और ऐ विश्व के प्रथम-प्रभात के मन्दिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ाकर, तुम्हारे उस अन्तरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ तुम अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होंगे।"

### 4.3.3.2.2. साहित्य रचना की भावभूमि

'साहित्य देवता' में रचनाकार ने साहित्य को जीवन की पूर्णता से जोड़ा है, क्योंकि रचना अथवा कला का अभिप्राय रिक्त जीवन नहीं है। लोकहित एवं मानव कल्याण से विरहित कोरी साहित्यिकता निरर्थक है, अतः मानवता की सेवा से भिन्न आत्मपूर्णता खोजना बालू से तेल निकालना है अथवा उस एकांगी सत्य को पकड़ना है जो निष्क्रिय और पतनोन्मुखी है। माखनलाल चतुर्वेदी 'साहित्य देवता' में मानव के सुख-दुःख तलाशने, उनका समाधान प्रस्तुत करने में साहित्य की सार्थकता और पूर्णता मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि "सोते हुए अखण्ड नरमुण्डों के जागरण, नाड़ी रोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती है, किन्तु तुम मुग्ध होकर भी जमाने को गणित के अंकों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे हो। आह, राज्य पर होनेवाले आक्रमण को बर्दाश्त किया जा सकता है, किन्तु मनोराज्य की लूट तो दूर, उस पर पड़नेवाली ठोकर कितने प्रलय नहीं कर डालती।"

उत्कृष्ट कलाकृति के सृजन के लिए हर कलाकार के लिए यह ज़रूरी होता है कि वह सृजन के क्षण में आत्मविस्मृति के दौर से गुजरे। यदि वह सृजन कर्म में इतना तल्लीन नहीं हो पाता तो उसकी कृति दर्शक, श्रोता या भावक को रसनिष्पत्ति के उस धरातल तक नहीं ले जा सकती जहाँ वह रचना के आस्वाद के क्षण में आत्मविस्मृति के दौर से गुजरे। ऐसी आत्मविस्मृति का क्षण काव्यानन्द का क्षण कहा गया है। वह अखण्ड आनन्द का क्षण ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। साहित्य की आधारभूमि व्यक्ति की स्वातन्त्र्य-चेतना नहीं है, बल्कि समाज की चेतना का स्वतन्त्र होना ही मानवीय सभ्यता का आधार है। समाज को जागरूक बनाने के लिए चैतन्य रचनाकार उसे कई बार इतिहास की घटनाएँ सुनाता है – "प्यारे, शून्य के अंक, गति के संकेत और विश्व के पतन-पथ की तथा विस्मृति की गति की लाल-झंडी तुम्हीं तो हो। तुम्हारा रंग उतरने पर आत्मतर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मन्दिर का झण्डा लिपट जाए, वह डाँवाडोल हो उठे, उसमें नर-नारायण नहीं रहते। उस देश को पराये चूल्हे अभी धोने हैं, अपने माँस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्यशील बनाए रखने हैं; परायी उतरन अभी पहननी है।"

### 4.3.3.2.3. साहित्य की मानवीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता

साहित्य की सही पहचान है – साहित्य की मानवीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता। सामाजिक आलोचना और सांस्कृतिक मूल्यांकन के अतिरिक्तवह नये क्षितिजों और सीमान्तों की खोज हेतु भी अभिप्रेरित करता है। प्रत्यक्ष परिवर्तन में साहित्य की भूमिका सीमित प्रतीत होती है किन्तु नयी अभिवृत्तियों और नये मूल्यों के रूप में उसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसलिए जब साहित्य के द्वारा सामाजिक रीतियों, नैतिकता और सार्वजनिक कल्याण को रेखांकित करते हुए सामाजिक संरचना की कामना की जाती है तब समाज-दर्शन समग्र अर्थों को एक साथ समेटते चलता है, समाज से सम्बन्धित समस्त अवधारणाएँ साहित्यिक रचना में देखीं व पुनर्विचार के उपरान्त बदली जाती हैं। समसामयिक समाज दृष्टि को परिभाषित, व्याख्यायित और पुरातन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में साहित्य की सदैव प्रथम भूमिका रही है। चतुर्वेदीजी के अनुसार साहित्य देवता मनोराज्य पर आसीन होता है,

उसकी वजह से ही तो मनुष्य का 'मनुष्य' जीवित रह पाता है "अन्यथा मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज जिस दिन धूल-धूसरित होने लगे उस दिन मनुष्यत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा ? उस दिन ज्वालामुखी फट पड़ा होगा। वज्र टूट पड़ा होगा।"

भारतीय साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की अनुभूति की अपेक्षा की गई है। शिव प्रलय के देवता हैं, लेकिन माखनलाल चतुर्वेदी के लिए वे साहित्य के देवता हैं। वे कहते हैं – " 'शिव संहार करते हैं' – कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा, तुम जरूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है। किन्तु यह हमारी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गए हैं, वातायान बन्द हो गए हैं। सूर्य की नित्य नवीन प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुजर कहाँ? वे तो द्वार खटखटाकर लौट जाती हैं।"

चतुर्वेदीजी सखाभाव के उपासक हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य में यह सखाभाव विद्यमान है। वह देवत्व मानवत्व पर न्योछावर है। माखनलालजी का कहना है कि – "जहाँ तक ब्रह्मा की सृष्टि है कला वहीं तक सीमित नहीं रहती, उससे आगे भी जाती है।" 'साहित्य देवता' में कला के इस दृश्यातीत रूप में अनेक उदाहरण स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं। मानवीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता से अनुप्राणित रचनाकार 'लिखने' की स्थिति से ऊपर उठ चुका होता है। वहाँ उसके काव्य का प्रयोजन यश-कीर्ति, अर्थोपार्जन, पद-लिप्सा नहीं होती। केवल लोकमंगल की कामना लक्ष्य रह जाती है और तभी वह मंगल प्रभात बनने का गौरव प्राप्त करता है।

### 4.3.3.3. संरचनात्मक वैशिष्ट्य

माखनलाल चतुर्वेदी की परवर्ती रचनाओं में आध्यात्मिक रहस्य की धारा, स्तुति और प्रार्थना के सामान्य धरातल से उतर कर सूक्ष्म रहस्य और चिन्तन की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक भूमि पर प्रवाहित होती दिखाई देती है। 'साहित्य देवता' में चतुर्वेदीजी के विचार अनुभूति में और प्रज्ञा संवेदना में रूपान्तरित हो उठती है तथा मानव-जीवन की प्रगाढ़ सम्पृक्ति से ही वह ऊर्ध्वावस्था प्राप्त हो पाती है जहाँ दृश्य के आगे का जीवन अनुभूत होने लगता है। जहाँ भाव, विचार, कल्पना और अभिव्यक्ति को अलग-अलग करने की कोशिश कोई मायने नहीं रखती। 'साहित्य देवता' के संरचनात्मक वैशिष्ट्य की थाह विश्लेषण की बजाय संश्लेषण का सामर्थ्य प्राप्त करके ही ली जा सकती है। वस्तुतः 'साहित्य देवता' में रचनाकार की वैयक्तिक अनुभूतियों का उतना योग नहीं है जितना कि एक व्यापक नैतिक धरातल का। 'साहित्य देवता' उस मनोदशा की अभिव्यक्ति है जहाँ अनुभूति ही अभिव्यक्ति बन चुकी है। 'साहित्य देवता' के विन्यास में दार्शनिक विधान का प्रयोग किया गया है। संवादों का प्राचुर्य है और उनमें मानसिक उतराव-चढ़ाव को ध्यान में रखा गया है। इसकी भाषा संवादधर्मी है और संरचनात्मक विन्यास में विवरण या वर्णन के स्थान पर दृश्यात्मकता पर अधिक बल है।

भाषिक संवादधर्मिता की एक बानगी द्रष्टव्य है –

"उस दिन भगवान् 'समय' न जाने किसका, न जाने कब, कान उमेठकर चलते बनते ? मुझे कौन जानता ? विन्ध्य की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का इतिहास किसके पास लिखा है ! इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ –

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहु ।"

क्यों ?

इसलिए कि अन्तरतर की तरल-तूलिकायें समेट कर, अराजक ! मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ !

क्या तुम अराजक नहीं हो ? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नहीं कीं ? कितने सिंहासन तुमने नहीं तोड़ डाले ? कितने मुकुटों को गलाकर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नहीं बना दी गई?"

'साहित्य देवता' का प्रतीक-विधान भी विशिष्ट है । चतुर्वेदीजी ने विषयानुकूल कुछ खास प्रतीकों का गठन किया है । दिनकरजी के शब्दों में – "कल्पक के मन की दुनिया में एक ऐसी सीमा है जिसके परे की वस्तु, वाणी के बन्धन में ठीक नहीं आ सकती; जिसकी अभिव्यक्ति टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ खींचकर की जाती हैं, जो जनप्रसिद्ध से युक्त प्रतीकों के अभाव में कथित होकर भी अकथित ही रह जाती है । प्रत्येक को अपने लिए कुछ खास प्रतीकों का निर्माण करना पड़ता है । सतपुडा, नर्मदा, तरुणाई और रसवंती माखनलालजी के कुछ ऐसे प्रतीक हैं जिनमें कदम-कदम पर पाठक को नये प्रतीकों की कल्पना करनी पड़ती है । अगर वह ऐसा न करे तो अर्थों का एक पूरा भण्डार उसके सामने से अछूता ही निकल जाता है । ... ऐसा जान पड़ता है कि मन के अशरीरी विचार कलम पर आने के लिए किसी वाहन की खोज में लेखक के आसपास नजर डाल रहे हों तथा दूसरों के द्वारा व्यवहार में लाये गये वाहन उन्हें पसन्द न आते हों । ऐसी बेबसी में उन्हें जो भी नये वाहन मिल जाते हैं उन्हीं पर चढ़कर वे चल देते हैं – ऐसे वाहन जिन्हें कविता में भावों की कहानी करते हुए पाठकों ने कभी नहीं देखा है । ऐसे वाहनों में सतपुड़ा, नर्मदा, छलकन गगरी, पत्थर और टाँकी के साथ काशीप्रसाद जायसवाल, सन्त निहालसिंह और राहुल सांकृत्यायन के भी नाम हैं, जिन्हें माखनलालजी ने अपनी प्रस्तुत रचना में प्रतीक बनाकर पेश किया है ।"

'साहित्य देवता' की रचना में गद्यकाव्य और समीक्षा का वैशिष्ट्य साथ-साथ है । उसमें एक रचनाकार की साहित्य के प्रति गहरी श्रद्धा भी प्रकट हुई है । इसी के अनुरूप 'साहित्य देवता' की भाषा में आत्मीयता और रचनाशीलता का प्रभाव है । यद्यपि भाषा व शैली की दृष्टि से 'साहित्य देवता' पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसमें अर्थ निकालने के लिए दूरान्वय करना पड़ता है, कहीं भाषा में कठोर संस्कृत शब्द हैं तो कहीं बुंदेलखण्ड के ग्राम्य प्रयोग तथापि इसका आशय यह कदापि न होना चाहिए कि माखनलालजी के कोष में शब्दों का टोटा पड़ गया है । भाषा-शैली के ये दोष केवल इस तथ्य की सूचना देते हैं कि रचनाकार माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति को इतना महत्त्वपूर्ण समझा है कि उसे भाषिक नियमों में हमेशा आबद्ध रखना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ । कहना गलत न होगा कि भाषा-विधान के प्रति वे सदैव बहुत सचेष्ट रहे हैं । इस मायने में 'साहित्य

देवता' की भाषिक संरचना सामान्य स्वीकरण भले ही न पाए, उनकी मौलिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। 'साहित्य देवता' की भूमिका में स्वयं ही स्पष्ट कर देते हैं कि – "अपनी इस बोली का परिचय मैं कौन-सी भूमिका लिखकर दूँ? मेरा इन पृष्ठों में किया हुआ सारा प्रयत्न ही, एक भूमिका-मात्र है। कोई भाग्यशाली, इस भूमिका के आगे, प्रकृत वस्तु को लिखकर, मेरे इस अधूरे प्रयत्न को पूरा करेगा; इसी आशा से, मैं भारती के मन्दिर में, यह अधूरा अर्घ्य चढ़ाने का साहस कर रहा हूँ।"

## 4.3.4. पाठ-सार

एक विधा के रूप में गद्यकाव्य का आविर्भाव आधुनिककाल में हुआ है। यह विधा अपनी प्रकृति में सम्मिश्र है। गद्यकाव्य लेखन की परम्परा का सूत्रपात छायावादी युग में हो चुका था, लेकिन छायावादोत्तरकाल में उसे उल्लेखनीय पहचान मिली। 'साहित्य देवता' में रचना के वास्तविक स्वरूप और अभिव्यक्ति की आन्तरिक संगति को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। साहित्य में व्यक्तित्व की बाहरी अनगढ़ता के भीतर एक अन्तःसलिला है जो उसकी मनुष्यता और प्रकृति में निरन्तर दिखाई देती है। माखनलाल चतुर्वेदी की प्रवृत्ति में साहित्यिक संस्कार की प्रबलता और द्रष्टा रचनाकार का वर्तमान बोध विद्यमान है। वे वर्ण्य-वस्तु के हृदय में स्थापित होकर उन विलक्षणताओं का रहस्य खोलते हैं जो स्वानुभूति से युक्त होती है। यही 'साहित्य देवता' का स्वरूप है और यही उसकी आत्मा का लक्षण।

## 4.3.5. शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| अभिराम | : | सुन्दर |
| चैतन्य | : | सचेत |
| सामर्थ्य | : | योग्यता |
| विस्मृति | : | विस्मरण |
| प्राचुर्य | : | प्रचुरता |
| तूलिका | : | चित्रकार की रंग भरने की कूँची |
| संश्लेषण | : | मिलना |

## 4.3.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जोशी, श्रीकान्त (सं.), माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. शर्मा, रामविलास, लोक जागरण और हिन्दी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. डॉ॰ नगेन्द्र (सं.), हिन्दी साहित्य का इतिहास, एन.पी.एच., दिल्ली.
5. तिवारी, रामचन्द्र, आधुनिक हिन्दी साहित्य : विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

## 4.3.7. बोध प्रश्न

**संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –**

1. गद्यकाव्य की अवधारणा।
2. हिन्दी गद्यकाव्य की परम्परा।
3. छायावादी गद्यकाव्य।
4. 'साहित्य देवता' का संरचनात्मक वैशिष्ट्य।
5. गद्यकाव्य के रूप में 'साहित्य देवता' की विशिष्टताएँ।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. गद्यकाव्य का आशय स्पष्ट करते हुए समझाइए कि 'साहित्य देवता' गद्यकाव्य की शर्तों का किस सीमा तक निर्वाह करता है ?
2. "हिन्दी गद्यकाव्य में 'साहित्य देवता' एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न**

1. 'तरंगिणी' के रचयिता हैं –
   (क) रायकृष्णदास
   (ख) वियोगी हरि
   (ग) आचार्य चतुरसेन शास्त्री
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. छायावादयुगीन गद्यकाव्य का मूल स्वर है –
   (क) राष्ट्रीय चेतना
   (ख) प्रकृति-चित्रण
   (ग) उपर्युक्त दोनों
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. दिनेशनन्दिनी चौरड्या की रचना है –
   (क) शबनम
   (ख) मौक्तिकमाल
   (ग) उपर्युक्त दोनों
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. 'साहित्य देवता' का प्रकाशन वर्ष है –
   (क) 1940
   (ख) 1941
   (ग) 1942
   (घ) 1943

5. 'शेष स्मृतियाँ' के रचयिता हैं –
   (क) डॉ॰ रघुवीर सिंह
   (ख) माखनलाल चतुर्वेदी
   (ग) महावीर शरण अग्रवाल
   (घ) रंगनाथ दिवाकर

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

## खण्ड – 4 : विविध गद्य-रूप – 3

## इकाई – 4 : व्यंग्य विधा : इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर – हरिशंकर परसाई

### इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देश्य कथन
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. व्यंग्य का स्वरूप
4.4.3. हास्य और व्यंग्य में अन्तर
4.4.4. हिन्दी साहित्य में व्यंग्य-परम्परा का विकास
4.4.5. हरिशंकर परसाई का व्यक्तित्व एवं रचना-संसार
4.4.6. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का वैशिष्ट्य
4.4.7. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' : भाषा एवं शिल्प
4.4.8. पाठ-सार
4.4.9. बोध प्रश्न

### 4.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई में आप व्यंग्य विधा के अन्तर्गत हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई द्वारा विरचित 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का अध्ययन करेंगे। 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' हरिशंकर परसाई-कृत चर्चित एवं महत्त्वपूर्ण व्यंग्य है। समाज में अत्यन्त विराट् फलक पर फैली कुरीतियाँ एवं पुलिस विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार इस व्यंग्य की मूल संवेदना है। इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. व्यंग्य का स्वरूप और उसके मूलभूत आधार को समझ सकेगें।
ii. व्यंग्य का अन्य विधाओं से सम्बन्ध समझ सकेगें।
iii. हास्य और व्यंग्य के मध्य सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट कर सकेगें।
iv. हिन्दी साहित्य में व्यंग्य लेखन का विकास तथा अन्य प्रमुख व्यंग्यकारों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
v. हरिशंकर परसाई के व्यक्तित्व एवं रचना-संसार से परिचित हो सकेंगे।
vi. हरिशंकर परसाई द्वारा लिखित 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के साहित्यिक वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे साथ ही साथ समाज में व्याप्त विसंगतियों का भी अवलोकन कर सकेंगे।
vii. व्यंग्य विधा के रूप में 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के संरचनात्मक वैशिष्ट्य को समझने के क्रम में परसाईजी के भाषा-शिल्प विधान से परिचित हो सकेंगे।
viii. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' में उद्घाटित व्यंग्य को समझ सकेगें।

## 4.4.1. प्रस्तावना

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का मुख्य पात्र इंस्पेक्टर मातादीन है। विभिन्न गतिविधियों के अनुकूल अन्य अनेक पात्रों की भी संरचना की गई है। इंस्पेक्टर मातादीन एक काल्पनिक, प्रतीकात्मक पात्र है जो भ्रष्टाचार का प्रतीक है। रचना के अन्य पात्र भी भ्रष्टाचार को दर्शाने के लिए काल्पनिक रूप से चित्रित किये गये हैं। हरिशंकर परसाई समाज एवं देश के एक ऐसे पक्ष को उठाते है जिसमें एक वर्ग विशेष ही नहीं बल्कि पूरा का पूरा समाज सम्मिलित रहता है। यह परसाई का कौशल ही है कि व्यंग्य के माध्यम से वे उसे इतना तीखी धार देते हैं जहाँ पाठक सोचने के लिए बाध्य हो उठता है और पात्रों से संवाद करने को मजबूर हो उठता है।

हरिशंकर परसाई ने अनेक व्यंग्य लिखे हैं, लेकिन 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' अन्य व्यंग्यों से अलग और विशिष्ट है। व्यंग्यकार ने व्यंग्य को तीखा बनाने के लिए जिस शैली को अपनाया है और भाषा का जैसा प्रयोग किया है वह पाठकों पर अपना अलग प्रभाव छोड़ने में पूरी तरह से सक्षम है। 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' में उस समय और समाज का चित्रण हुआ है जो आपादमस्तक मूल्यहीनता के दलदल में धँसा है। भ्रष्टाचार, लूट तथा सरकारी महकमें में घूसखोरी चरम सीमा पर है। 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' इस मूल्यहीन समाज की बखिया ही नहीं उधेड़ता बल्कि सरकारी महकमे (पुलिस विभाग) का पोस्टमार्टम कर डालता है। ऊपरी तौर पर देखने में कथानक सामान्य प्रतीत होता है किन्तु परसाईजी की प्रस्तुतीकरण शैली इसी कथानक को विशिष्ट बना देती है। किसी बात को अपने विशिष्ट अंदाज में इस तरह से कहना कि वह अपनी पूरी समग्रता में पाठक तक सम्प्रेषित हो जाए। यही हरिशंकर परसाई की विशेषता तथा व्यंग्य की सार्थकता है।

## 4.4.2. व्यंग्य का स्वरूप

भौतिक विकास के साथ-साथ समाज में भी बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन की इस आँधी में लोगों की सोच, विचार, विश्वास, मान्यताओं और आचार-विचार में भी बदलाव आ रहे हैं। प्रत्येक क्षेत्र में पुराने की स्थान पर नये की स्थापना के प्रयास किए जा रहे हैं। जीवन से सम्बद्ध पुरानी मान्यताओं, मूल्य तथा परम्पराओं में परिवर्तन हो रहा है। जीवन को सुव्यवस्थित तथा सहज बनाने के लिए जो भी प्रयास हो रहे है वहाँ विसंगतियाँ उभर कर मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रही हैं। मनुष्य-जीवन संघर्षशील होने के साथ-साथ अशान्त भी है। स्वप्नदर्शी उड़ान भरने वाला वर्तमान साहित्य मनुष्य को न तो सही दिशा-निर्देश कर पा रहा है और न ही जीवन को व्यवस्थित करने में उसका सहयोग।

वस्तुतः वह साहित्य लोकप्रिय होता है जिसमें मनुष्य अपना तथा अपने आस-पास का सच्चा रूप देख सके, उसकी अपनी कमियाँ भी साहित्य के माध्यम से उजागर हो सकें तथा उस साहित्य को पढ़कर अपनी कमियों से बचने और उन्हें सुधारने का प्रयास वह कर सके। ऐसा साहित्य अपने समय में ही नहीं, पीढ़ियों तक प्रासंगिक बना रहता है। परसाईजी ऐसी ही संवेदनशील रचनाकार हैं जिन्होंने व्यंग्य विधा के माध्यम से ऐसी कालातीत रचनाएँ रची हैं जो देश-काल की परिधि लाँघकर आज भी प्रासंगिक हैं।

व्यंग्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। 'व्यंग्य' शब्द भारतीय साहित्य में नया नहीं है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'वि' तथा 'अंग' के योग से 'व्यंग' तथा 'व्यंग' शब्द से 'व्यंग्य' शब्द का निर्माण हुआ है। भारतीय विद्वानों ने व्यंग्य के कई अर्थ प्रस्तुत कियेहैं। अंग्रेजी में व्यंग्य के लिए'सेटायर' का प्रयोग होता है। 'सेटायर' शब्द लैटिन शब्द 'Satura' से निर्मित है जिसका अर्थ है – 'गड़बड़झाला'। पुरातन काल में 'सैतुरा' शब्द परनिन्दा के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

भारतीय आचार्यों के अनुसार व्यंग्य से आशय है – "शब्द का व्यंजना वृत्ति के द्वारा प्रकट होने वाला अर्थ।" 'व्यंग्य' 'वि' उपसर्गपूर्वक 'अंज' धातु में 'व्यत्' प्रत्यय लगाकर बनाया गया शब्द है, जिसके कई अर्थ हैं – विविक्षा द्वारा निर्देश, गूढ़ अथवा अप्रत्यक्ष इंगित के द्वारा निर्देश, संकेतित अर्थ और शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना द्वारा निर्दिष्ट अर्थ।

साहित्य में व्यंग्य का अर्थ है व्यक्ति या समाज के दोषों, न्यूनताओं को सीधे न कहकर टेढ़े ढंग से प्रस्तुत अभिव्यक्ति जो सामाजिक, नैतिक, आर्थिक अन्याय, अविचार, विसंगतियाँ, अन्तर्विरोध आदि को दर्शाती है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में व्यंग्य का बाहुल्य है। व्यंग्य क्रोध, दु:ख, असमाधान, ग्लानि, असन्तोष, क्रान्ति की भावना आदि विविध कारणों से होता है। इसकी अभिव्यक्ति के ढंग भी अलग-अलग हैं, कहीं बहुत तीखे तो कहीं करुणा मिश्रित। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने व्यंग्य को निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया है –

"अगर आप हास्य हास्यास्पद का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसमें आपकी दयालुता समाप्त हो जाय तो आपका हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जायेगा।"

– The Idea of Comedy Meredith

"व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखण्डों का पर्दाफाश करता है। जीवन के प्रति व्यंग्यकार की इतनी निष्ठा होती है जितनी गम्भीर रचनाकार की बल्कि ज्यादा ही। यह जीवन के प्रति दायित्वों का अनुभव करता है।"

– मेरेडिथ

"ज़िंदगी बहुत जटिल चीज है ... अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट रूप होता है।"

– हरिशंकर परसाई

"व्यंग्य वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठ में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेता हो।"

– आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

"किसी घटना, क्रिया, परिस्थिति, लेख या विचारों की अभिव्यक्ति में निहित तत्त्व, जो उनकी असम्बद्धता बेढंगेपन आदि के कारण मनुष्य के मन में एक विशेष प्रकार का आनन्द या मजा उत्पन्न करता है – वह हास्य या ह्यूमर है ।"

– डॉ॰ सावित्री सिन्हा

व्यंग्य की रचना-प्रक्रिया अपने संतुलित रूप में एक जटिल क्रिया है । जिस स्तर पर हमारे सामाजिक सम्बन्ध अर्थ-केन्द्रित और मूल्य-दृष्टि व्यावहारिक हो रही है, उसी स्तर पर हमारा चरित्र विरोधाभासी और जीवन अधिक संश्लिष्ट होता जा रहा है । आदमी की भीतरी और बाहरी आवश्यकताओं में फर्क पैदा हो रहा है, समाज तेजी से विडम्बना और विद्रूपता की ओर बढ़ रहा है । इन परिस्थितियों में लेखक के लिए यह एक संकट-बिन्दु है क्योंकि उसे मनुष्य के विचार और व्यवहार में फर्क और इसी से जुड़ा चरित्र और व्यवहार का अन्तर रचना में रूपायित करना होता है इसके साथ ही साथ रचनाकार के लिए आवश्यक है कि अपने भीतर गम्भीर अन्तर्दृष्टि और सोच का भी विकास करे । ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों की खोज-पड़ताल भी ज़रूरी होती है, क्योंकि इसके कारण ही मनुष्य का चरित्र परिवर्तित होता है । इसके अन्तर्गत उसकी मूल्य-दृष्टि, नैतिकता, रुचि व संस्कार सभी परिवर्तित होते हैं, विचार उलझते हैं, व्यवहार जटिल हो जाता है ।

कोई भी रचना तभी सार्थक होगी जब उसमें व्यक्तिगत कष्टों व यातना को समाज के कष्टों व यातनाओं से जोड़ दिया जाय । व्यंग्यकार एक समीक्षक की भाँति होता है जो समाज के हित-अहित को ध्यान में रखते हुए समाज में दिखती बुराइयों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उठ खड़ा होता है । व्यंग्य विसंगति, विद्रूपता एवं पाखण्ड जैसी समाज-विरोधी स्थितियों को उत्पन्न करने के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों को आहत करता है, उनके विरोध में जन-मानस को सचेत करता है । यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब कानून ऐसे व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए है तो फिर व्यंग्य का क्या प्रयोजन ? इसके समाधान के लिए कहा जा सकता है कि कुछ लोग अपनी चालाकी और धन की मदद से धर्म व कानून की निगाहों से बच निकलते हैं । व्यंग्य ऐसे लोगों का सामाजिक बहिष्कार कराता है, लोगों के सामने उनके कार्यों की पोल खोलता है । व्यंग्य केवल सामाजिक विद्रूपताओं को दिखाने वाला आईना नहीं है । वह इन सब विरूपताओं के स्थान पर सौजन्यपूर्ण वातावरण के निर्माण की परिकल्पना करता है ।

मशीनी सभ्यता आज की अनिवार्यता है और कोई भी समाज व्यवस्था चाहे वह पूँजीवाद हो चाहे समाजवाद उससे बच नहीं सकता । इसका विवशतामूलक वरण करते हुए भी इसके दुष्परिणामों से बचा जा सके, यह समस्या आज सभी देशों के सामने है, मानवीयता के ह्रास ने आज सभी को चिन्तित कर रखा है । समाजवादी देशों के मजदूर वर्ग भी तेजी से उन मध्यमवर्गीय स्वार्थों और आदर्शों को अपनाते जा रहे है जिनके विरुद्ध एक समय में उसका विरोध सबसे अधिक मुखर और प्रेरणादायक था । यह अवश्य है कि समाजवादी व्यवस्था के कारण मजदूरों की भौतिक उन्नति हुई है लेकिन जीवन की आवश्यक सुख-सुविधाओं के साथ-साथ मजदूर वर्ग ने अवसरवादिता, आत्म-केन्द्रीयता, सनकी मान्यताएँ, बाजारू किस्म के भौतिक आदर्श और सतही आत्म-सन्तोष जैसी वे मान्यताएँ ग्रहण कर रखी हैं जिन्हें हम एक समय में केवल मध्यमवर्ग की सामन्ती संस्कृति से जोड़ते थे ।

इस प्रकार समस्याएँ आज भी अपनी जगह ज्यों कि त्यों बनी हुई हैं। समाज व्यवस्था बदल जाने से मानवीय संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता वरन् होता यही है कि नयी-नयी समस्याओं के कारण और भी नये-नये संघर्षों का सूत्रपात होता है। इसलिए व्यंग्य रचनाओं की सार्थकता हमेशा बनी रहेगी।

### 4.4.3. हास्य और व्यंग्य में अन्तर

व्यंग्यकार को कई बार लोग हास्यकार मान लेते है। हास्य और व्यंग्य में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि हास्य एक सहज मनोभाव है। साहित्य में वह एक रस है जबकि व्यंग्य जान-बूझकर किया जाता है। साहित्य में वह एक विधा है। हास्य निष्प्रयोजक होता हैं पर व्यंग्य का एक विशिष्ट प्रयोजन होता है। हास्य मनोविनोद होता है पर व्यंग्य किसी विसंगति को उघाड़कर समाज को जाग्रत् करना चाहता है। हास्य बराबर ही जीवन और समाज का एक ज़रूरी हिस्सा रहा है, लेकिन व्यंग्य विशेष मौके पर जीवन और समाज के लिए आवश्यक होता रहा है। यह मानसिक अवस्था उतनी नहीं है जितनी सामाजिक आवश्यकता है। सुसंस्कृत, सुसभ्य समाज में व्यंग्य कीज़रूरत जहाँ नहीं के बराबर है वहीं पर हास्य की ज़रूरत निरन्तर बनी रहती है। हास्य सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य का सूचक है वह सहजता से उत्पन्न होता है। व्यंग्य ठीक इसके विपरित है। व्यंग्य सामाजिक असमानता, भ्रष्टता और विकृति का परिणाम है। हास्य और व्यंग्य एक नहीं है फिर भी हास्य में जहाँ व्यंग्य मिश्रित भाव होता है वही व्यंग्य में भी हास्य कहीं न कहीं मिश्रित होता है पर हास्य का व्यंग्य और व्यंग्य का हास्य एक खास ढंग का होता है।

### 4.4.4. हिन्दी साहित्य में व्यंग्य-परम्परा का विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल से लेकर आज तक व्यंग्य की कुछ न कुछ भूमिका अवश्य रही है। काव्य में भी अमीर ख़ुसरो, नानक, कबीर, सूर, तुलसी और रविदास की रचनाओं में व्यंग्य विद्यमान है। पृथ्वीराज रासो में व्यंग्य के कुछ उदाहरण देखने को मिलते हैं। जैसे – चन्द कवि के द्वारा जयचन्द पर व्यंग्य करते हुए उसे बैल कहना तथा धीर-पुंडीर की सहायता से पृथ्वीराज चौहान की शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी पर विजय। इस विजय के पश्चात् पृथ्वीराज उसे सम्मानित करता है। तब जैत्र तथा चामुण्ड सामन्तों द्वारा यह व्यंग्य कि 'धीर-पुंडीर को गर्व आ गया है, उसी के कारण सम्राट् को विजय प्राप्त हुई है।' पृथ्वीराज व्यंग्य की इस कटोक्ति को नहीं सह पाया और उसने धीर-पुंडीर के पुत्र को दिल्ली से निर्वासित कर दिया। पृथ्वीराज रासो के व्यंग्य के पश्चात् साहित्य में व्यंग्य की एक परम्परा ही चल पड़ी। यद्यपि इस परम्परा का विकास हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

हास्य-व्यंग्य के माध्यम से खरी-खरी सुनाने वालों में अमीर ख़ुसरो का नाम भी श्लाघनीय है। किन्तु सत्य तो यह है कि कबीर ने जिस तीव्रता से सामाजिक बुराइयों पर कटाक्ष किया, बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया उनके समकक्ष उस समय तक कोई अन्य नाम उनकी बराबरी करने में असमर्थ रहा। कबीर के बाद चार सौ वर्ष

तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में व्यंग्य का महत्त्व जानकर पैने, तीखे व्यंग्य कसकर समाज को सुधारने के लिए कोई विशेष साहित्यकार उभरकर सामने नहीं आया।

कबीर मूल रूप से भक्त ही थे किन्तु समाज में फैली विषमताओं, अन्धविश्वास, पाखण्ड को देखकर अपनी अटपटी किन्तु प्रभावी वाणी में उन्होंने जो कुछ कहा उनका वह व्यंग्यबाण उस युग के लिए प्रभावी सिद्ध हुआ। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियाँ कबीर को व्यंग्य कसने के लिए उचित अवसर प्रदान कर रही थीं। समाज में छुआछूत, आडम्बर, अन्धविश्वास तथा कुरीतियाँ अपने चरमोत्कर्ष पर थीं। छुआछूत का भाव इतना प्रबल हो चला था कि मनुष्य मनुष्यता को भूलता जा रहा था। तब कबीर ने जोरदार शब्दों में पूछा – "छूत कहाँ से आयी।" जब परमपिता ने सबको एक समान बनाया तो छुआछूत के भाव कैसे पैदा हो सकते हैं। कबीर के व्यंग्य के मुख्य लक्ष्य थे– काजी, मुल्ला, पण्डित, ब्राह्मण।

कबीर के व्यंग्य तीखे थे और इस तीक्ष्णता का कारण था, जन्म से ही कबीर का बाह्याडम्बरों से संघर्ष। इस कारण कबीर के मन में क्रान्ति का उठना स्वाभाविक था। यह क्रान्ति का बीज उनके लिए युगीन परिस्थितियों से मिली देन थी। फलस्वरूप अपने व्यंग्य प्रहार में आडम्बर की प्रतिक्रिया दिखाना ही कबीर का मुख्य उद्देश्य था। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान, दोनों के आडम्बरों, पाखण्डों और अन्धविश्वासों को उद्घाटित किया। जाति, वंश, धर्म, संस्कार, विश्वास, जो अन्धविश्वास पर टिके थे ऐसे बाह्याडम्बरों को उन्होंने छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया। मूर्ति-पूजा, कबीर की दृष्टि से आडम्बर का ही एक रूप है इसलिए वे कहते हैं –

**पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।**
**ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार॥**

तुलसीदास के 'नारद मोह', 'खलवन्दना', 'विन्ध्य के बासी उदासी' में जो हास्य गोचर होता है उसकी रचना मानसिक विरूपता और विसंगति को आधार मानकर हुई है। सूरदास का भ्रमरगीत मध्यकाल के व्यंग्य का सबसे बड़ा उदाहरण माना जा सकता है। इस व्यंग्य का मुख्य कारण मन की गम्भीर वेदना था इसलिए इस व्यंग्य की गहराई को संवेदनात्मक धरातल पर लिया जा सकता है।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल में व्यंग्य अधिक मात्रा में नहीं पाया जाता। रीतिकालीन व्यंग्य को देखकर स्पष्ट होता है कि तत्कालीन कवियों का वैयक्तिक क्षोभ उन्हें हास्य-व्यंग्य के लिए कदाचित प्रेरित करता था। उनके व्यंग्य में सामाजिक लक्ष्य का अभाव है। इसका कारण था रीतिकालीन कवि अधिकतर अपने आश्रयदाताओं के स्तुतिगान में या फिर नारी का सौन्दर्य वर्णन करने में तृप्त और प्रसन्न रहा करते थे इसीलिए हास्य-व्यंग्य का प्रवाह वहाँ देखने को नहीं मिलता। फिर भी बिहारी सतसई में व्यंग्य-विनोद के कई उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे –

**जपमाला, छापा, तिलक सरै न एकौ काम।**
**मन-काँचे नाचे वृथा, साँचे, राँचे राम॥**

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग के रचनाकार अपने लेखन में चेतना और प्रगतिशीलता के कारण व्यंग्य का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट आदि साहित्यकारों ने अपनी लेखन के माध्यम से व्यंग्य के जिस गम्भीर दृष्टि का सूत्रपात किया वह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है। वस्तुतः व्यंग्य को आधुनिक काल के कवियों की एक पसंदीदा विधा माना जाता है। बीसवीं शताब्दी के गद्य में अनेक शैलियों, जीवन-दृष्टियों तथा विधाओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसके साथ ही सामाजिक जीवन पर आधुनिक सभ्यता का गम्भीर प्रभाव पड़ा जिसमें सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक दबाव की स्थितियाँ परिगणित की जा सकती है। इन सभी स्थितियों में रचनाकार वस्तुओं के अन्तर्सम्बन्धों को खोजने में ज्यों-ज्यों निपुण होता गया, त्यों-त्यों उसकी दृष्टि वैज्ञानिक होती गयी।

सही अर्थों में भारतेन्दु युग के कवियों ने व्यंग्य की महत्ता को समझा। उन्होंने तत्कालीन अंग्रेजी शासन की ज़्यादती से क्षुब्ध होकर देशी, विदेशी, पुलिस, एडिटर और अंग्रेजभक्त वर्गों पर तीखा व्यंग्य किया। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने विभिन्न टैक्सों की मारी जनता के दुखों को व्यक्त किया तो पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने इलवर्ट बिल पर स्यापा लिखकर व्यंग्यबाण छोड़े। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने अपने युग की विद्रूपताओं को सशक्त व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया। भारतेन्दु मण्डल के सम्माननीय साहित्यकार बालमुकुन्द गुप्त की 'सर सैय्यद का बुढ़ापा' शीर्षक कविता मार्मिक व्यंग्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतेन्दु युग के कवियों ने भविष्य के लिए एक सशक्त व स्वस्थ व्यंग्य परम्परा का प्रणयन किया।

द्विवेदीजी ने अंग्रेजी सभ्यता का अन्धानुकरण करने वाले भारतीयों पर व्यंग्य किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने आडम्बरों और तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर व्यंग्य करते हुए समाज को सचेत किया इसी क्रम में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और माखनलाल चतुर्वेदी ने भी करुण व्यंग्य लिखे हैं।

छायावादी काव्यधारा में मूल्यबोध परिवर्तित हुए जहाँ अतिशयता एवं कल्पना की बहुलता रही। साहित्यकारों की दृष्टि आत्मनिष्ठ और प्रकृति प्रेम में लीन कोमलकान्त पदावली की रचना करने में रमी। जन-संवेदना की तरफ इनका ध्यान उस तरह से नहीं गया जहाँ व्यंग्य लेखन माँग करती है अर्थात् जहाँ मानवीय संवेदना ही मुख्य होती है अन्य बातें गौण। उस युग में निराला ही एक ऐसे कवि थे जिन्होंने युग की धारा को मोड़कर व्यंग्य लिखने में कीर्तिमान स्थापित किया।

आधुनिक कविता की प्रकृति व्यंग्यात्मक रही। देश की तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों, आधुनिक सभ्यताओं की विसंगतियों, मध्यमवर्गीय आदमी की विडम्बनाओं और शान्ति स्थापित करने के असफल प्रयत्नों पर आधुनिक युग के रचनाकारों ने सशक्त व्यंग्य प्रस्तुत किया है। नागार्जुन और मुक्तिबोध भी इसी परम्परा में महत्त्वपूर्ण नाम है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम साहित्य के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक चेतना के बारे में जानना चाहें तो वह व्यंग्य रचनाओं में ही मिलेगा। व्यंग्य का सारा महल ही सामाजिक यथार्थ की नींव पर खड़ा होता है।

व्यंग्यकार समाज के आस-पास ही अपनी रचना का ताना-बाना बुनता है। समाज में व्याप्त कुरीतियों से व्यंग्यकार सबसे ज्यादा प्रभावित होता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न करता है। यही प्रवृत्ति व्यंग्यकार को समाज से सीधा जोड़ती है। अटूट सामाजिक संवेदना होने के कारण ही व्यंग्य उसके विरोधी तत्त्वों पर तीखी चोट करता है।

समाज और सामाजिकता से परे व्यंग्य की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यंग्य का मुख्य सिद्धान्त है, 'सत्य को प्रोत्साहित करना' और 'असत्य को बेनकाब करना।' समाज में व्याप्त विसंगतियों और विकृतियों के इस जाल को नष्ट करने के लिए व्यंग्य एक कारगर हथियार साबित हो सकता है। व्यंग्यकार अपने समय की समस्याओं को भोगता है और उनसे वैचारिक स्तर पर जूझता है। वह समाज को भी जूझने की शक्ति व प्रेरणा देता है। समाज में व्याप्त पाखण्ड को देखकर भी जहाँ एक सामान्य लेखक अपने भावना लोक में खो सकता हैं, किन्तु एक व्यंग्यकार अपने व्यंग्य रूपी हथियार को लेकर सीधा समाज के अखाड़े में उतर आता है। वह कथ्य के कलापक्ष से पूर्णतः उदासीन रहता है। वह इस बात को भी महत्त्व देता है कि वह साहित्य की कौन-सी विधा को रूप दे रहा है। उसका पूरा ध्यान इसी पर होता है कि उसने जो वार किया है वह सटीक है कि नहीं। यदि व्यंग्यकार हास्यास्पद पर प्रहार करता है तो अन्तिम रूप से हास्यास्पद पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसको छोड़कर उसका सामाजिक मूल्यांकन किया जाय तो यही कि उसमें वैचारिक स्तरों के अनजाने स्रोत फूट पड़ते है, जिसके कारण सामाजिक पुष्टता प्रदान करने वाली क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। व्यंग्य लेखक का मूल उद्देश्य होता है, सामाजिक पुष्टता प्रदान करने वाली क्रियाशीलता में वृद्धि और समाज विरोधी अस्तित्व को निष्क्रिय करना। अतः व्यंग्य का महत्त्व सामाजिक चेतना-निर्माण व उसके उज्जवल भविष्य के लिए है।

व्यंग्य वास्तविकता से परिचय कराता है और सत्य में विश्वास रखता है। समाज-सुधारक सामाजिकों को आदर्शों पर चलने का उपदेश देता है, जबकि व्यंग्यकार बदलते परिवेश के अनुरूप ही समाज के हित को ध्यान में रखकर नये आदर्शों का निर्माण करता है। सभी सत्य मूल्यवान् है, व्यंग्यात्मक आलोचना जब वह मूल्यों का समाधान और निर्णयों का सुधार करती है, तब वह अत्यन्त ही उपयोगी मानी जा सकती है वह जो जनसाधारण की रुचि का परिष्कार करता है, जनसाधारण का कल्याणकर्त्ता है। व्यंग्य में सुधारवादी गाँधीवादी हृदय परिवर्तन नहीं है, बल्कि विशाल जन-सामान्य के रुचि परिष्कार की मानसिक विकास की क्रान्ति है। रुचि परिष्कार की ही अन्तिम परिणति है सामाजिक-मानसिक विकास। व्यंग्यकार अपने पूरे प्रयत्न के साथ यही कोशिश करता है कि समाज के सभी लोग सुव्यवस्था की ओर प्रेरित हों।

व्यंग्य का रास्ता बुद्धि और विवेक का रास्ता है, जहाँ अव्यावहारिक भावुकता का कोई स्थान नहीं। व्यंग्यकार कहानी, निबन्ध, उपन्यास कुछ भी लिखता है तो उसका मूल उद्देश्य अपनी बात को जनसाधारण तक पहुँचाना होता है, ताकि वे उसे पूरी तरह आत्मसात कर लें। इसके लिए रचना का व्यावहारिकता के निकट होना आवश्यक है। व्यंग्य स्वयं भी यथार्थ की भूमि पर ही टिका होता है। व्यंग्यकार का लेखन वास्तविक जीवन का इतिहास होता है, जो व्यंग्यकार अपने आस-पास देखता है, उसको आत्मसात करता है, उस घटना में स्वयं जीता-

मरता है तभी व्यंग्यकार व्यंग्य के सही स्वरूप को स्पष्ट करने में सफल होता है। व्यंग्यकार का उद्देश्य नैतिकता की रक्षा करना होता है। नैतिकता की रक्षा हेतु ही वह अपनी कलम चलाता है।

### 4.4.5. हरिशंकर परसाई का व्यक्तित्व एवं रचना-संसार

हरिशंकर परसाई का जन्म मध्यप्रदेश में इटारसी के निकट जमानी नामक स्थान में 22 अगस्त 1924 को हुआ। प्रारम्भ से लेकर स्नातक तक की शिक्षा मध्यप्रदेश में हुई। नागपुर विश्वविद्यालय से परसाईजी ने हिन्दी से एम.ए. उत्तीर्ण किया। विभिन्न विद्यालयों में कुछ वर्ष तक अध्यापन कार्य किया, किन्तु स्वतन्त्र व्यक्तित्व के धनी परसाईजी को यह जीवन रास नहीं आया अन्ततः नौकरी छोड़कर स्वतन्त्र लेखन को जीवन का आधार बनाया। 'वसुधा' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका का स्वयं सम्पादन किया किन्तु कुछ समय बाद आर्थिक परेशानियों के कारण 'वसुधा' को बन्द करना पड़ा। इसके बाद अनेक पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से स्तम्भ लिखना प्रारम्भ किया। जैसे – सुनो भाई साधो (नई दुनिया), पाँचवा कॉलम (नई कहानियाँ), उलझी-उलझी (नई कहानियाँ), और अन्त में (कल्पना, हैदराबाद) आदि। बाद में सब कुछ त्यागकर जबलपुर में रहते हुए स्वतन्त्र लेखन कार्य करते रहे।

हरिशंकर परसाई ने (1924-1995) पाँचवें दशक के अन्त में ही कथा-लेखन का आरम्भ कर दिया था अपने लेखन काल की परिस्थितियों के सन्दर्भ में परसाईजी का कथन है – "भारत में स्वतन्त्रता आई ही थी, युद्ध का विनाश इस देश ने नहीं भोगा था। विभाजन और नरसंहार अवश्य भोगा था। नव स्वतन्त्र देश में निर्माण के उत्साह के बजाय निराश और कुण्ठा आखिर क्यों थी ? कारण एक तो यह है कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भावुकता अधिक थी और आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति के तत्त्व लगभग नहीं थे। हमने स्वतन्त्रता में बहुत जल्दी बहुत अधिक आशा कर ली और एक क्रान्ति के बाद निर्माण का जो उत्साह होता है वह गायब था। फिर बहुत जल्दी राजनैतिक, आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार फैल गया। उस समय जो लिखा गया उसके कुछ कारण तो ये थे, पर ऐसा लेखन बहुत कुछ झूठा और नकल थी।"

1947 के बाद नेहरू के सामने सबसे बड़ी समस्या भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। उन्हें हिंसा की कटुता को मिटाना, विस्थापितों को बसाना और कश्मीर बचाना था। यह वह समय था, जब कम्युनिस्ट लोग नेहरू को 'रनिंग डॉग आफ इम्पीरिलिज्म' कहते थे और नेहरू कम्युनिस्टों को 'इरैलेवेन्ट' कहते थे। तेलंगाना सशस्त्र आन्दोलन से नेहरू और कम्युनिस्टों की दूरी बढ़ी। स्टालिन भी नेहरू के साम्राज्य विरोधी संघर्ष की अवहेलना ही करते रहे। समाजवादियों को जल्दीबाजी थी वे पहले आम चुनाव में ही सत्ता पर कब्जा करने की उम्मीद लिये बैठे थे, किन्तु उनका पत्ता साफ हो गया। नेहरू चाहते थे कि समाजवादी कांग्रेस में लौट जायें तो उनकी ताकत बढ़े वे समाजवादी कार्यक्रम लागू कर सके। पर यह नहीं हो पाया।

साहित्य अकादेमी, दिल्ली के 1983 के पुरस्कार-वितरण समारोह पर पढ़े गये अपने वक्तव्य में परसाईजी ने कहा – "मैं दूसरे महायुद्ध की समाप्ति और भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के समय पैदा हुआ लेखकहूँ। अपने देश

में आजादी के बाद मोहभंग होने में बहुत साल नहीं लगे। जिन मूल्यों के लिए हमने आजादी की लड़ाई लड़ी थी, उनका तेजी से मिटना देखा और भोगा है। शासक वर्ग का नैतिक पतन, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, मिथ्याचार, छल, कपट, फरेब, स्वार्थपरता, नंगे होकर सामने आए। विचारधारा और सिद्धान्तहीन राजनीति और गंदे गठबन्धन, दुराचरण, अवसरवादिता, पद मोह, सत्ता का उन्माद मैंने इन वर्षों में देखा है। इस देश का आदमी लगातार ठगा गया।"

1951-1958 की अवधि में परसाई की 'किताब का एक पन्ना', 'वे दोनों', 'कल्लू के जन्म का मरसिया', 'पड़ोसी के बच्चे', 'भूख के स्वर', 'सेवा का शौक', 'मैं नरक से बोल रहा हूँ', 'ढपोल शंख मास्टर हो गये', 'कप्तान साहब', 'घेरे के भीतर', 'पहला पापी', 'स्मारक', 'तीन सयाने', 'खाली मकान', 'नया धन्धा', 'घी', 'ज़िंदगी और मौत', 'दुःख का ताज', 'सामाजिक की डायरी' आदि व्यंग्य कथाएँ और लगभग इसी अवधि में 'एक बहिन की बात', 'प्रतिष्ठा', 'खोटा रुपया', 'क्रान्ति हो गयी', 'अपना-पराया', 'समझौता', 'बात', 'दानी', 'चन्द्र का डर', 'धन्यवाद भाषण', 'राम और भरत', 'पुण्य', 'खैर', 'अब मैं आ गया हूँ', 'संस्कृति', 'उपदेश', 'भगवान् और ट्रैक्टर', 'जनता की गोली', 'शौक', 'गधा और मोर', 'बधिर मुख्यमंत्री', 'भक्तों में मारपीट', 'गॉड बिलिंग' आदि लघु कथायें भी प्रहरी, वसुधा आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं।

हरिशंकर परसाई की रचनाओं को किस विधा के अन्तर्गत रखकर मूल्यांकित किया जाय, इस प्रश्न का समाधान करना उतना ही मुश्किल है जितना कि परसाईजी की रचनाओं को समझना। उन्होंने छोटी कथा, लम्बी कथा, संस्करण, रेखाचित्र, पत्र, निबन्ध, डायरी, साक्षात्कार, निबन्ध, फैन्टेसी आदि अनेक माध्यमों का सहारा लेकर सामाजिक और व्यक्तिगत विसंगतियों पर व्यंग्य लिखेहै। पर वे खुद व्यंग्य को विधा के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि "मेरे मन में व्यंग्य कोई विधा नहीं है इसका अपना कोई स्ट्रक्चर नहीं है। यह एक स्प्रिट है जो हर विधा में जा सकती है, कहानी में, नाटक में, उपन्यास में। बर्नार्ड शॉ का प्रधान स्वर व्यंग्य है लेकिन उसका मूल्यांकन नाटककार के रूप में होताहै। व्यंग्य कविता से लेकर उपन्यास तक में आ सकता है। आलोचक विशेषकर इतिहासकार की कठिनाई यह है कि उसके लिए किसी विशेष प्रकार की रचना को कोई नाम देना आवश्यक हो जाता है। परसाईजी ने विधाओं के चौखटे को तोड़ा है, उनका मिश्रण किया है और इस प्रकार एक नयी विधा को जन्म दिया है। परसाईजी ने व्यंग्य का कोई स्ट्रक्चर न होने की बात कही है पर ऐसा ज्ञात नहीं है। कथा व्यंग्य का बहुप्रयुक्त स्ट्रक्चर है यह सर्वत्र देखा जा सकता है। व्यंग्य के एक शब्दशक्ति होने की बात हम जानते हैं। यह शब्दशक्ति परसाईजी की स्पिरिट है, जो कहानी, उपन्यास नाटक आदि में प्रभाव की वृद्धि करने में सहायक होती है पर परसाईजी ने व्यंग्य का जो रूप सामने रखा वह स्वयं में एक मुकम्मल रचना-प्रविधि है। उसका लक्ष्य सामाजिक या व्यक्तिगत विसंगतियों को व्यंजना शक्ति के माध्यम से तीव्रतम रूप में उजागर करनाहै।

### 4.4.6. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का वैशिष्ट्य

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के माध्यम से हरिशंकर परसाई ने भारतीय समाज के पुलिस विभाग में व्याप्त अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार की भावना को सजीव रूप से व्यंगित किया है। भारतीय पुलिस व्यवस्था में फैले

अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार का जीता जागता चित्र 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है। जिस प्रकार से भारतीय पुलिस निर्दोष जनों को दोषी बनाकर प्रमाण प्रस्तुत करती है, सजा अपराधी को नहीं किसी निर्दोष व्यक्ति को मिल जाती है और समाज में भय व्याप्त हो जाता है कहीं सहायता करने वाला अपराधी न मान लिया जाय। जैसा कि रचना के अन्त में परसाईजी ने लिखा है – "कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता। इस डर से कि वह कत्ल के मामलों में फँसा दिया जाएगा। बेटा बीमार बाप की सेवा नहीं करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप न लगा दिया जाय।"

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' हरिशंकर परसाई-कृत एक महत्त्वपूर्ण व्यंग्य है जिसमें अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पात्रों की योजना की गई है। इसका नायक इंस्पेक्टर मातादीन है जिन्हें डिपार्टमेंट में एम.डी. साब के नाम से जाना जाता है। वे सीनियर पुलिस इंस्पेक्टर है। वे झूठे केस गढ़ने एवं झूठे गवाह तैयार करने में महारत हासिल किए हुए हैं। ऊपर से बड़े सिद्धान्तवादी किन्तु अन्दर से पूर्णतः चालाक हैं।

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' में भारतीय पुलिस की कार्य-प्रणाली का नमूना दर्शाया है जिसमें इंस्पेक्टर मातादीन को एक प्रतिरूप के रूप में प्रस्तुत किया है। व्यंग्यकार मुख्य पात्र मातादीन के चरित्र का ताना-बाना भ्रष्ट पुलिस विभागीय ढाँचे के अनुसार निर्मित करता है, जहाँ सिद्धान्तों का खोखला मुलम्मा चढ़ा रहता है किन्तु अन्दर से दीमक का पूरा कार्यव्यापार चलता रहता है, जो समाज को, देश को अन्दर-अन्दर समाप्त कर देने की पूरी कवायद करता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले भारतीय समाज की आकांक्षाएँ सीमित थीं और राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य पर पूरा ध्यान केन्द्रित होने के कारण अन्य अनेक समस्याएँ दब गयी थीं। विदेशी साम्राज्यवाद ने जहाँ जनसाधारण के विकास के पथ को अवरुद्ध किया था, वहाँ उसने भारतीय पूँजीवाद का भी अपने स्वाभाविक रूप में विकास नहीं होने दिया। फलतः स्वाधीनता के मोर्चे पर पूँजीवादी शक्तियों ने भी जनवादी शक्तियों का साथ दिया। सरकार के प्रति असंतोष की भावना ने दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया था। आकांक्षाएँ भिन्न थीं, पर शत्रु एक था।

अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही वह क्षीण सूत्र जो परस्पर विरोधी शक्तियों को बाँधे था, टूट गया। अब केवल अन्तर्विरोध ही सामने आए। यहीं नहीं, परम्परागत नैतिक मूल्यों का भी विघटन होने लगा मध्ययुगीन सामन्तवादी नैतिकता हमारे काम की चीज नहीं रह गयी। नैतिक मूल्यों के विघटन का दुष्परिणाम समाज को झेलना पड़ा। साथ ही साथ शासक वर्ग ने समाज से फासला बना लिया जो बढ़ता ही गया। जनता का विश्वास भी उठने लगा। चारित्रिक असंयम, भ्रष्टाचार, दायित्वहीनता और बेईमानी का नंगा नाच होने लगा। एक विशेष वर्ग के कहानीकारों ने सच्चे अनुभव संवेदन ग्रहण करजीवन के इस वास्तविक स्वरूप को पहचाना जिसमें यथार्थ के विभिन्न स्तर और विभिन्न दृष्टिकोण उभरे हैं। हरिशंकर परसाई ने 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के माध्यम से भ्रष्टाचार की इस सामाजिक वेदना को उकेरने का प्रयत्न ही नहीं उस भ्रष्टाचार की भी बखिया उधेड़ डाली है। यह महत्त्वपूर्ण संवाददेखिए जहाँ मानवता कराहती हुई दम तोड़ रही है और जिनके माध्यम से उस भ्रष्टाचार का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है –

"क्या वह आदमी पुलिस के रास्ते में आता है ? क्या उसे सजा दिलाने से ऊपर के लोग खुश होंगे ?"

अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो पुलिस के अनर्गल कार्यों का विरोध करे उसे बड़े से बड़े जुर्म में फँसा दो ताकि उसे पुलिस के विरोध का भयंकर सजा मिले। दूसरे, सक्षम व्यक्ति या ऊपर के अधिकारी लोग किसी व्यक्ति के फँसाने में खुश होते हैं तो वह व्यक्ति चाहे निर्दोष ही क्यों न हो, उसे किसी न किसी जुर्म में फँसा दो, ऊपर वाले खुश होंगे तो बहती गंगा में हाथ धोने को अनेक अवसर प्राप्त होंगे।

इंस्पेक्टर मातादीन, जो भ्रष्ट पुलिस अफसरशाही का प्रतीक है, अपराध किस पर साबित किया जा सकता है, उसे तलाशता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति ने मरते हुए व्यक्ति को अस्पताल पहुँचाया और उस भद्र पुरुष के कपड़े में मरते हुए व्यक्ति का खून लग गया, बस मातादीन ने उस सहायता पहुँचाने वाले व्यक्ति को ही मुल्जिम बना दिया। मात्र अपराधी ही नहीं बनाया उसे बीस साल की सजा भी करवा दी।

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' में इंस्पेक्टर मातादीन का चरित्र बहुआयामी प्रस्तुत किया गया है। वे हनुमानजी के भक्त भी है, उन्हें अपना कार्य पसन्द है, दूसरी ओर वे परमअवसरवादी हैं, ऊपर वालों की चाटुकारिता के प्रबल हिमायती हैं। झूठ, फरेब, रिश्वतखोरी उनका धर्म है। भारतीय पुलिस व्यवस्था में इन तमाम बहुआयामी सिद्धान्तों के आवरण के नीचे भ्रष्टाचार नागफनी की तरह तब से लेकर आज तक पनपता हुआ नजर आ रहा है। 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' के अन्तर्गत कथाकार हरिशंकर परसाईजी ने भारत की पुलिस व्यवस्था का सजीव चित्रण किया है। भारत के आजादी के पच्चीस वर्ष बाद की अवस्था एवं व्यवस्था का वर्णन किया गया है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

"एक मुहावरा – ऊपर से हो रहा है, हमारे देश में पच्चीस सालों से सरकारों को बचा रहा है। तुम इसे सीख लो।"

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' आजादी के पच्चीस वर्ष बाद लिखा गया है। पुलिस व्यवस्था में पूर्णतः लूट मची है। निर्दोषों को पकड़ा जा रहा है, झूठी गवाही तैयार की जा रही है। रिश्वतखोरी चरम सीमा पर है, चापलूस लोगों का प्रभाव है। कहने को तो भारत आजाद हो चुका है लेकिन जनता आज भी गुलामी का दंश झेल रही है। स्वरूप अवश्य बदला है। पहले जनता अंग्रेजियत की गुलामी सहती थी अब शासक वर्गकी। सत्ता पक्ष किसी भी निर्दोष को अकारण जेल भेज सकती है। दीन-हीन-निर्धन की कोई सुनने वाला नहीं है। वातावरण में अराजकता है, अनाचार, दुराचार का बोलबाला है। यदि पुलिस अत्याचार करे तो उसका विरोध करने वाले को झूठे केस में बन्द करने की बात आम है। पुलिस झूठे चश्मदीद गवाहों की लिस्ट अपने पास रखती है जो किसी भी व्यक्ति को सजा दिलाने के लिए काफी है।

चाँद को प्रतीकात्मक रूप में दर्शाया गया है। यह एक ऐसा स्थान है जहाँ झूठ, फरेब, रिश्वतखोरी का नाम नहीं है। जहाँ की सभ्यता बहुत आगे है, वहाँ के व्यक्ति सुखी एवं सम्पन्न हैं जहाँ सत्य को स्वीकारा जाता है किन्तु मातादीन जैसे भ्रष्ट पुलिस अधिकारी वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट कर देतेहैं।

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का आरम्भ काल्पनिक रूप से हुआ है किन्तु कथानक का विस्तार भारतीय पुलिस व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक यथार्थ को परिलक्षित करता हुआ विकसित होता है। इंस्पेक्टर मातादीन चाँद की पुलिस को झूठ, फरेब, रिश्वतखोरी एवं झूठी मुकदमा गढ़ने की शिक्षा देते हैं। निर्दोष को सजा दिलाने के तरीके बताते हैं। कैसे झूठी गवाही तैयार की जाती है। उसके स्वरूप को बताते हैं। इस प्रकार 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का मुख्य उद्देश्य भारतीय पुलिस के अनर्गल क्रिया-कलापों का कच्चा चिट्ठा खोलना है। इसमें भारतीय पुलिस के चरित्र को दर्शाया गया है। जहाँ पूर्णतः शान्ति हो, जहाँ मानवीय सम्बन्ध हो, जहाँ भाईचारा एवं मानवीय संवेदना हो, एक दूसरे के सहयोग की भावना हो, वहाँ यदि भारतीय पुलिस को भेज दिया जाय तो वह अपनों को अपनों का दुश्मन बना देगी। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रसंग द्रष्टव्य है –

"चाँद के प्रधानमन्त्री ने भारत के प्रधानमन्त्री को क्या लिखा था ?

एक दिन वह पत्र खुल ही गया। उसमें लिखा था –

इंस्पेक्टर मातादीन की सेवाएँ हमें प्रदान करने के लिए अनेक धन्यवाद। पर अब आप उन्हें फौरन बुला लें। हम भारत को मित्र देश समझते थे, पर आपने हमारे साथ शत्रुवत व्यवहार किया है। हम भोले लोगों से विश्वासघात किया है।

आपके मातादीनजी ने हमारी पुलिस को जैसा कर दिया है, उसके नतीजे ये हुए हैं –

'कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह क़त्ल के मामले में फँसा दिया जायेगा। बेटा बीमार की सेवा नहीं करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप नहीं लगा दिया जाय। घर जलते रहते हैं और कोई बुझाने नहीं जाता – डरता है कि कहीं उस पर आग लगाने का जुर्म कायम न कर दिया जाय। बच्चे नदी में डूबते रहते हैं और कोई उन्हें नहीं बचाता। इस डर से कि उस पर बच्चे को डुबाने का आरोप न लग जाय। सारे मानवीय सम्बन्ध समाप्त हो रहे हैं। मातादीनजी ने हमारी आधी संस्कृति नष्ट कर दी है। अगर वे यहाँ रहे तो पूरी संस्कृति नष्ट कर देंगे। उन्हें फौरन रामराज में बुला लिया जाय'।"

## 4.4.7. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' : भाषा एवं शिल्प

महान् व्यंग्यकार हरिशंकर परसाईजी द्वारा लिखित 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' की भाषा हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी मिश्रित है। अंग्रेजी शब्दों जैसे – डिपार्टमेंट, फिंगरप्रिंट, इनवेस्टिगेशन, सीनियर इंस्पेक्टर, आई.जी., रैंक, ऑफिसर, ड्राइविंग, हॉर्न, पुलिस, लाइन, रजिस्टर, केस, एविडेंस, फर्स्ट क्लास, एफ.आई.आर., स्टाइल आदि; उर्दू तथा फारसी शब्दों जैसे – मुलजिम, माहिर, हैसियत, हवलदार, जुर्म, तनखा, मुनामा, फाँसी, कातिल, आफत, बेसूर, चश्मदीद गवाह, शराब, बदतर आदि का सहज प्रयोग हुआ है। अवसरानुकूल संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। व्यंग्यात्मक शैली रोचक एवं विचित्रता से परिपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित अंश देखिए –

"कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह क़त्ल के मामले में फँसा दिया जायेगा। बेटा बीमार बाप की सेवा नहीं करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप नहीं लगा दिया जाय। घर जलते रहते हैं और कोई बुझाने नहीं जाता – डरता है कि कहीं उस पर आग लगाने का जुर्म कायम न कर दिया जाय। बच्चे नदी में डूबते रहते हैं और कोई उन्हें नहीं बचाता।"

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' में जीवन को अपनी सुन्दरता और कुरूपता के साथ अखण्ड रूप में स्वीकारने का सफल प्रयास हुआ है। यहाँ शुभ और अशुभ के अनेक प्रश्न उठे हैं। एक ओर जहाँ कुरूपता, पीड़ा, जीवन की विफलता का चित्रण किया गया है वहीं साथ ही भ्रष्टाचार में विजय-पताका का परचम भी लहराया है।

'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' अपने शिल्प में अत्यन्त प्रभावी और अभूतपूर्व आकर्षण लिये हुए है। यथार्थ के प्रति नया रुख़ इसकी प्रमुख विशेषता है। निश्चित रूप से कहानी के रूप में लिखा गया व्यंग्य गद्य की स्वतन्त्र विधा के रूप में विकसित हुआ है। 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' भी व्यंग्य कहानी का रूप होते हुए भी एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। सार्थक उपमानों और बिम्बों के साथ-साथ रचना की भाषा उस पात्र की स्थिति को वर्तमान के पात्र से तुलित करती है, उसका पूरा का पूरा परिवेश जीवन्त कर देने में सफल है। यहाँ व्यंग्य का धारदार प्रयोग विचार और भाषा के समन्वित रूप में प्रस्तुत हुआ है।

कथोपकथन के माध्यम से व्यंग्य को धारदार बनाने का प्रयास किया गया है। वास्तव में कथोपकथन ही इस भाषा का प्राण, धुरी एवं केन्द्र है। प्रस्तुत कथोपकथन कहीं मार्मिक है, तो कहीं चुटीले। कथोपकथन का उदाहरण देखिए –

कोतवाल ने कहा, "पहले क़ातिल का पता लगाया जायेगा, तभी तो 'एविडेंस' इकट्ठा की जायेगी।"

मातादीन ने कहा, "नहीं, उलटे मत चलो। पहले एविडेंस देखो। क्या 'कहीं खून मिला ? किसी के कपड़ों पर या और कहीं ?"

एक इंस्पेक्टर ने कहा, "हाँ, मारने वाले तो भाग गये थे। मृतक सड़क पर बेहोश पड़ा था। एक भला आदमी वहाँ रहता है। उसने उठाकर अस्पताल भेजा। उस भले आदमी के कपड़ों पर खून के दाग लग गये हैं।"

मातादीन ने कहा, "उसे फौरन गिरफ्तार करो।"

कोतवाल ने कहा, "मगर उसने तो मरते हुए आदमी की मदद की थी।"

मातादीन ने कहा, "वह सब ठीक है। पर तुम खून के दाग ढूँढ़ने और कहाँ जाओगे ? जो एविडेंस मिल रहा है, उसे तो कब्जे में करो।"

वाद-विवाद-संवाद के माध्यम से ही समूची कथा का विस्तार हुआ है। मातादीन निर्दोष व्यक्ति को कत्ल के जुर्म में गिरफ्तार कर लेते हैं तो चाँद के कोतवाल के यहाँ भद्र लोगों की भीड़ लग जाती है उससे अनेक प्रश्न किये जाते हैं।

दूसरे दिन पुलिस कोतवाल ने कहा, "गुरुदेव हमारी तो बड़ी आफत है। तमाम भले आदमी आते हैं और कहते हैं, उस बेचारे बेकसूर को क्यों फँसा रहे हो ? ऐसा तो चन्द्रलोक में कभी नहीं हुआ। बताइए, हम क्या जवाब दें। हम तो बहुत शार्मिन्दा हैं।"

मातादीन ने कोतवाल से कहा, "घबराओ मत। शुरू-शुरू में इस काम में आदमी को शर्म आती है। आगे तुम्हें बेकसूर को छोड़ने में शर्म आयेगी। हर चीज का जवाब है। अब आपके पास जो आये, उससे कह दो – हम जानते हैं कि वह निर्दोष है। पर हम क्या करें ? यह सब ऊपर से हो रहा है।"

* * *

मातादीन ने कहा, "एक मुहावरा – ऊपर से हो रहा है, हमारे देश में पचीस सालों से सरकारों को बचा रहा है। तुम इसे सीख लो।"

निःसन्देह मातादीन का तर्क अकाट्य था। कोतवाल साहब मातादीन से प्रभावित थे।

"एक दिन चाँद की संसद का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। बहुत तूफान खड़ा हुआ। गुप्त अधिवेशन था, इसलिए रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई, पर संसद की दीवारों से टकराकर कुछ शब्द बाहर आये।

सदस्य गुस्से से चिल्ला रहे थे –

'कोई बीमार बाप का इलाज नहीं करता।'

'डूबते बच्चों को कोई नहीं बचाता।'

'जलते मकान की आग कोई नहीं बुझाता।'

'आदमी जानवर से बदतर हो गया। सरकार फौरन इस्तीफा दे।' "

## 4.4.8. पाठ-सार

व्यंग्य गद्य की महत्त्वपूर्ण विधा है, वैसे तो व्यंग्य के तत्त्व कुछ न कुछ आदिकाल से ही मिलने लगे थे, किन्तु व्यंग्य का व्यापक स्वरूप आधुनिककाल (गद्य के विकास) के साथ ही विस्तार पाता है। यदि तत्कालीन समाज का यथार्थ रूप साहित्य के माध्यम से जानना चाहें तो वह व्यंग्य के माध्यम से ही अपने पूरे स्वरूप में स्पष्ट

हो सकेगा। आधुनिक साहित्य का अधिकांश लेखक वर्ग निम्न-मध्यम श्रेणी का होता है। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से सबसे अधिक अपेक्षाएँ की थीं इसीलिए सबसे अधिक निराशा और विफलता भी इसी वर्ग को अनुभव हुई है। इसी वर्ग की ज़िंदगी सबसे कष्टमय है। वह आन्तरिक व बाह्य संघर्षों से आक्रान्त है। हरिशंकर परसाई समाज के ऐसे तबके के साथ जीते हैं और तीखे व्यंग्य के माध्यम से पाठकों को आन्दोलित कर देते हैं। पाठक एक बार सोचने के लिए बाध्य हो उठता है।

हरिशंकर परसाई हिन्दी साहित्य के प्रथम ऐसे रचनाकार है, जिन्होंने साहित्य में व्यंग्य विधा का स्थान निर्धारित किया। परसाईजी की समस्त रचनाएँ समाज के विकृतियों और अव्यवस्थाओं पर करार प्रहार है। उन्होंने जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त, लिंग, गोत्र, सम्प्रदाय एवं समुदायों के मध्य व्याप्त संघर्ष को बड़े ही तार्किक एवं मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है तथा समस्याओंव बाह्याडम्बरों पर प्रहार किया है।

परसाईजी ने लगातार खोखली होती जा रही सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था में पिसते मध्यमवर्गीय मन की सच्चाइयों को अपनी रचनाओं में बड़े ही सजीव रूप से चित्रित किया है। सामाजिक पाखण्ड और रूढ़िवादी जीवन-मूल्यों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने सदैव विवेक एवं विज्ञान-सम्मत दृष्टि को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

### 4.4.9. बोध प्रश्न

1. व्यंग्य विधा के उद्भव एवं विकास का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
2. 'इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' का मूल कथ्य उद्घाटित कीजिए।

**उपयोगी इंटरनेट स्रोत :**

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖